परामर्श Vol. 18 1997 No. 2-4

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड १८, अंक २ — ५
मार्च १९९७ माघ - फाल्गुन २०५२

संस्थापक संपादक : सुरेंद्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

परामर्श (हिंदी)

◆ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग की चिंतनपरक त्रैमासिक पत्रिका
(नूतनमालिका) (भूतपूर्व तत्त्वज्ञान मन्दिर हिंदी, अमलनेर)

संस्थापक संपादक : सुरेंद्र बारलिंगे
प्रधान संपादक : सुभाषचंद्र भेलके

◆ प्रकाशनार्थ लेखसामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्राचार के लिए :
प्रधान संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे ४११००७

◆सदस्यता शुल्क :

•आजीवन	संस्थाओं के लिए	रु. १५००/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६००/-
•वार्षिक	संस्थाओं के लिए	रु. ८०/-
	व्यक्तियों के लिए	रु. ६०/-
•एक प्रतिका मूल्य		रु. २०/-

◆ सदस्यता शुल्क मनीऑर्डर या डिमांड ड्राफ्ट द्वारा ही पत्रिका के पते पर भेजा जाए। (धनादेश से भुगतान में रु.१० अधिक जोड दें)

◆ आजीवन सदस्यता शुल्क एक या दो समान किश्तों में भेजा जा सकता है।

◆ अंक न मिलने की सूचना अंक प्रकाशित होने बाद एक महीने के भीतर मिलने पर, अंक बचे हो तो, पुनः भेजा जाएगा।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)

◎ पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्रायः ३००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक -संपादकों के निर्णयपर निर्धारित होगी। अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी। पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं।यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक योग एन्टरप्राईझेस, ४२८, मंगलवार पेठ, पुणे-४११०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)

◎ पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्रायः ३००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक -संपादकों के निर्णयपर निर्धारित होगी। अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी। पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं।यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक योग एन्टरप्राईझेस, ४२८, मंगलवार पेठ, पुणे-४११०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया।

पंजीकरण सं. ३९८८३/७९

परामर्श (हिन्दी)

◎ पत्रिका में प्रकाशनार्थ लेखों की दो स्पष्ट टाईप की हुई प्रतियाँ भेजें। लेख प्रायः ३००० शब्दों से अधिक न हो। लेख की स्वीकृति परीक्षक -संपादकों के निर्णयपर निर्धारित होगी। अस्वीकृत लेखों के निर्णय की सूचना दी जाएगी। पर्याप्त पोस्टेज सहित पूरा पता लिखा लिफाफा साथ होने पर अस्वीकृत सामग्री वापस लौटायी जाएगी।

- परामर्श (हिंदी) चिंतनपरक वैचारिक पत्रिका है। इस में विशुद्ध चिंतनपरक, दार्शनिक रूख की सामग्री स्वीकृत होगी।
- यह जरूरी नहीं है कि प्रकाशित विचारों से संपादक सहमत हों।
- प्रकाशित लेखों पर प्रतिक्रियात्मक वैचारिक टिप्पणियाँ भी स्वागतार्ह हैं।यथायोग्य होने पर वे प्रकाशित की जा सकती हैं।
- पत्रिका में प्रकाशित सामग्री का स्वामित्व अधिकार पत्रिका का होगा।
- अन्यत्र पूर्व-प्रकाशित लेखों का इस पत्रिका में पुनः प्रकाशन नहीं किया जाता इस ओर ध्यान दें।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन विभाग के लिए प्रधान संपादक सुभाषचंद्र भेलके ने यह त्रैमासिक योग एन्टरप्राईझेस, ४२८, मंगलवार पेठ, पुणे-४११०११ में छपवाकर प्रसिद्ध किया।

संपादकीय

क्या दर्शन की अपनी कोई विशेष विधा होती है ? क्या दर्शन का कोई अपना अभ्यासक्षेत्र होता है ? क्या दर्शन का कोई अपना विषय होता है ? दर्शन के बारे में अनेकों मौलिक प्रश्न उठते आये हैं और उनपर विचार भी होता आया है। फिर भी कुछ ऐसे प्रसंग आते हैं जब ये प्रश्न नये सिरे से उठाने की जरूरत महसूस होती है। किसी एक भूमिका के अनुसार किसी भी चीज का दर्शन होता है या किसी भी चीज के बारे में दार्शनिक रूख से सोचा जा सकता है। फिर भी हरेक युग की अपनी अपनी विशेषताएँ होती हैं। उन के अनुसार दर्शन किसी परिधि में फलता फूलता है। इसे दर्शन की मर्यादा मानने के बजाय विशेषता मानना अधिक उचित रहेगा। क्योंकि हरेक युग की अपनी माँग होती है और उसे पूरी करने की जिम्मेदारी दर्शन पर होती है।

एक ऐसा समय था जब चिंतन में विज्ञान और दर्शन के बीच विभाजन नहीं हुआ करता था। एक ऐसा भी समय था कि जिस में दर्शन अपनी मदद के हेतु किसी अन्य क्षेत्रों से कल्पनाएँ स्वीकार करता था। लेकिन क्या हम ऐसा निश्चित रूप से कह पाते हैं कि कोई कल्पना दर्शन के क्षेत्र की नहीं मानी जा सकती ? जब हम मानते हैं कि बुद्धिजन्य कल्पनाओं तथा सिद्धान्तों की प्रणाली दर्शन मे क्षेत्र का उचित विषय है तब हम श्रद्धाजन्य तथा विश्वासजन्य कल्पनाओं तथा सिद्धातों को क्या स्थान देंगे ? पाश्चिमात्य दर्शन में एक ऐसी कल्पना आती है जिसे spirit या spiritual के नाम से जाना जाता है। इस कल्पना का दर्शनशास्त्र में क्या स्थान है ? जिस की सत्ता स्वीकृत है वह मूर्तरूप द्रव्य है, ठोस भी है। लेकिन एक ऐसी भी प्रणाली विकसित की जाती है जिस में सत्ता अमूर्त्त है। इस बात को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करने के लिए spirit की कल्पना का आधार लिया गया। लेकिन spirit की कल्पना का उद्‌भव श्रद्धा या विश्वास से प्रसृत प्रणाली में होता है। उसकी स्वीकृति का आधार बौद्धिक वस्तुनिष्ठ निकष न होकर श्रद्धारूप या विश्वासरूप मान्यता ही होता है। यही कारण है कि उसे यथा योग्य स्थान हासिल करने के लिए दर्शनशास्त्र का अवलंब करना स्वाभाविक नहीं बन पाता।

तो फिर क्या ऐसी कल्पना को दर्शन बाह्य घोषित कर देना उचित होगा? एक भूमिका ऐसी भी संभव है जिस की तहत कोई भी कल्पना दर्शन बाह्य हो नहीं सकती। ऐसी हालत में बुद्धिजन्य तथा विश्वासजन्य कल्पनाओं की व्यवस्था की समस्या अधिक गहन बन जाएगी। लेकिन उन में मौलिक भेद बता कर और उन्हें

विरोधहीन बना कर एक प्रणाली में भी प्रस्थापित किया जा सकता है। इस का एक अर्थ यह होगा कि कोई भी बुद्धिनिष्ठ विचार विश्वासजन्य spirit की कल्पना को स्वीकृत करने हुए भी अपनी बुद्धिनिष्ठा को अबाधित रख सकता है। इस में व्यक्तित्व की भग्नता की प्रतीति नहीं है बल्कि सहिष्णुता का प्रत्यय है। अर्थात् इस विधा में कोई विचारक विश्वासजन्य कल्पनाओं के प्रति केवल मौन भी रख सकता है जिस में उस की बुद्धिनिष्ठता के व्रत का भंग हो जाते की कोई आशंका न हो।

आज हालात ऐसे बन चुके हैं कि कोई चाहे या न चाहे, विश्वासजन्य कल्पनाओं के प्रति विचार व्यक्त करना आवश्यक बन चुका है। एक तरह की विज्ञाननिष्ठा बुद्धि को तीखा बनाने की कोशिश में एकांगी बना देती है। आगे चलकर उसे अपनी मर्यादाओं का पता भी लगाना है। और जब यह पता लग जाएगा तब उसे अपने को पूरा करने के लिए अपने क्षेत्र को विस्तृत करना पडेगा और अपने क्षेत्र के परे जाकर भी कुछ साधन जुटाने पडेंगे। इस का कारण यह है कि सभी चिंतन, सभी विचार, सभी कल्पनाएँ मानव सृष्ट हैं और मानवी जीवन से उन का सरोकार है। मनुष्य को हम अंगो में तोड नहीं सकते, चाहे उसके भिन्न अंगों को भिन्न कार्यों के लिए स्वीकार भी क्यों न लिया है। अगर मनुष्य एक है, उस की अखंडना बनाए रखना हमारा कर्तव्य है तो निष्ठा को क्रूर बनाने में पौरुष नहीं है। निष्ठा कठोर होनी चाहिए इस का मतलब क्रूरना को अपनाना नहीं है। शायद यही भूल सदियों से मनुष्य करना रहा है। निष्ठा को अवश्य ही अटूट होना है। पर ऐसे अटूट नहीं जो अपने से भिन्न को तोड-मरोड डालने पर ही तुल जाए। अगर कोई कल्पना मूलतः दार्शनिक न होकर भी दर्शन में किसी न किसी तरह से स्थान प्राप्त कर ले तो उसे के प्रति जिहाद की भूमिका लेना दार्शनिकता का रूख नहीं होगा। परीक्षण, चिकित्सा, मीमांसा इन बातों से जिहाद भी अलग है। और इस बात को भी सम्हालना है कि जो कल्पनाएँ मूलतः दार्शनिक नहीं हैं, उन्हें अपनाकर दर्शन को प्रदूषित होने नहीं देना है। सहिष्णुता में संतुलन है और इसी संतुलन के कारण दार्शनिकता अपने उचित रूप में विकसित हो सकती है। सहिष्णुता का अर्थ कमजोरी लगाना भी बडी भारी भूल है। हम हमेशा अपनी भूलों की कीमत चुकाते आये हैं। पर वादा भी करना है, अपने से ही, कि आगे चलकर भूल नहीं कर बैठेंगे, ताकि उस की कीमत चुकाने के बजाय कुछ सृजनशील व्यवहार में अपने को व्यस्त रखें। वादे निभाने की बात तो दूर है, वादे करने का निर्धार तो होना चाहिए। क्यों न हम इस निर्धार के बारे में सोचें और उस पर अमल करनें के प्रयास में जुटे रहें ?

सुभाषचंद्र भेलके

विटगेन्स्टीन के दर्शन में दर्शन का स्वरूप, कुछ अनुलग्नक समस्याएँ और समाहार

प्रस्तुत लेख विटगेन्स्टीन के दर्शन में विवेचित दर्शन का स्वरूप एवं कुछ अनुलग्नक समस्याओं के समाहार प्रस्तुतीकरण के सीमित उद्देश्य से प्रेरित है। उद्देश्य सीमित है, परन्तु विषय-वस्तु की गहनता निर्विवाद है। विटगेन्स्टीन के दर्शन के आलोक में यह विशेष महत्त्व का विषय बन जाता है, क्योंकि इन्होंने दर्शन विषयक जो विचार व्यक्त किये हैं, उसके सम्बन्ध में अन्तिम रूप से कुछ कहना अभी तक संभव नहीं हो पाया। यह सचमुच अति जिज्ञासा का प्रश्न है कि दर्शन जैसे मूलभूत अवधारणा को लेकर इनके दर्शन में इतना विवाद क्यों हो रहा है। इस लेख में इस बात की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए कि यह विटगेन्स्टीन के दर्शन संबंधी विचारों का सविस्तर मूल्यांकन प्रस्तुत करे। जब तक मूल विषय स्पष्ट नहीं हो जाता, उसके मूल्याकंन प्रस्तुतीकरण का प्रश्न ही नहीं होता।

विटगेन्स्टीन का दर्शन प्रतिभा की अद्भुत रचना है। दर्शन के सम्बन्ध में इन्हों ने जो विचार व्यक्त किये हैं, वह उनके पूर्ववर्ती और समयुगीन विचारकों से महत्त्वपूर्ण रूप में भिन्न हैं। विटगेन्स्टीन मानते हैं कि दार्शनिक किसी विचार-समूह का सदस्य नहीं होता। अपने इस कथन के अनुरूप ही ये आजीवन अपने आपको किसी विशेष दार्शनिक-सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं कर पाये। इन वैचारिक विविधता का साक्ष्य यह है कि इनका नाम एक साथ ही अणुवाद, तार्किक भाववाद, केम्ब्रिज दर्शन, चिकित्साशास्त्र और विश्लेषण दर्शन से जुडा हुआ है। विटगेन्स्टीन की किसी दर्शन विशेष के प्रति आसक्ति नहीं। इन्होंने स्वयं अपने ही विचारों को अपनी उत्साहपूर्ण आलोचना का विषय बनाकर एक वैचारिक निष्ठा का परिचय दिया है, जो अतुलनीय है।

विटगेन्स्टीन का दर्शन दो विचारधाराओं में विभक्त है। इन दो विचारधाराओं में मौलिक भिन्नता है। एक विचारधारा की अभिव्यक्ति ट्रैक्टेटस में हुई है और दूसरे की फिलौसौफिकल इन्व्हेस्टिगेशन में। ट्रैक्टेटस की रचना पहले हुई है, इसलिए इसमें व्यक्त विचारों को पूर्ववर्ती विटगेन्स्टीन कहेंगे। विटगेन्स्टीन के दर्शन की पूर्ववर्ती अवस्था 'रसेल' तथा 'फ्रीगे' के चिन्तन से अति प्रभावित है। इन्व्हेस्टिगेशन का लेखन बाद में हुआ है। इसलिए इसमें व्यक्त विचारों को परवर्ती विटगेन्स्टीन कहेंगे। इन्व्हेस्टिगेशन में ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों की ही आलोचना

है। ट्रैक्टेटस की रचना से विटगेन्स्टीन को काफी लोकप्रियता मिली और इसमें व्यक्त विचारों ने दर्शन के इतिहास को महत्त्वपूर्ण रूप से प्रभावित किया। इसके बावजूद भी ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों की निष्ठापूर्ण आलोचना के प्रति विटगेन्स्टीन की गंभीरता सचमुच आश्चर्यजनक है। प्रश्न यह है कि विटगेन्स्टीन का दर्शन विषयक किस विचार को सही माना जाय, ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचार को या इन्व्हेस्टिगेशन में व्यक्त विचार को ? ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीन यहाँ तक कह डालते हैं कि दर्शन विषयक प्रत्येक समस्याओं का समाधान कर दिया गया है और पुनः कुछ कहना शेष नहीं। किन्तु, जब ट्रैक्टेटस मूल रूप से ही अस्वीकृत हो चुका है तो फिर नये रूप से दार्शनिक चिन्तन के लिए बाध्य होना पडता है। इसी सामान्य प्रवृत्ति का निर्वाह करते हुए विटगेन्स्टीन इन्व्हेस्टिगेशन में दर्शन संबंधी कुछ नये विचार प्रस्तुत करते हैं, जिसका आधार ट्रैक्टेटस में व्यक्त दर्शन संबंधी विचारों की आलोचना है। अतः जब विटगेन्स्टीन के दर्शन संबंधी विचारों की चर्चा होती है, तो इस तथ्य को विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए कि इन्होंने दर्शन संबंधी दो भिन्न विचार व्यक्त किये हैं, वास्तव में, यही उनके दर्शन में विवाद - केन्द्र है। विटगेन्स्टीन के दर्शन विषयक विचारों पर चर्चा के आलोक में इस बात का निर्णय करना सचमुच कठीन है कि उनके पूर्ववर्ती विचारों को स्वीकार किया जाय या परवर्ती विचारों को। वास्तव में, दर्शन संबंधी विटगेन्स्टीन के विचार सदोष हैं और इनमें से किसी को भी अंतिम रूप में स्वीकार कर लेना विटगेन्स्टीन के दार्शनिक मनोवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में उचित नहीं प्रतीत होता। कुछ विचारकोंने उनके परवर्ती चिन्तन को ही सही मानते हुए कुछ निश्चित स्थापनाएँ स्थापित करने की चेष्टा की है। कुछ ऐसे भी विचारक हैं जिनके लिए विटगेन्स्टीन के परवर्ती चिन्तन की आलोचना प्रिय विषय रहा है। अतः मैं इस मत का पोषक हूँ कि विटगेन्स्टीन के दर्शन पर विचार करते हुए उनके पूर्ववर्ती विचारों का पारस्परिक अवमूल्यांकन या अधिमूल्यांकन की प्रवृत्ति से बचना चाहिए। इस प्रकार के प्रवृत्ति के आधार पर स्थापित कोई भी निष्कर्ष एकांगी होगा। इस लेख में और प्रयास किया जायेगा कि दर्शन के सम्बन्ध में इनके व्यक्त विचारों में कोई आधारभूत उभयनिष्ठ बिन्दु की स्थापना की जाय जो इनके समस्त दार्शनिक विचारों के अनुरूप हो।

ट्रैक्टेटस में दर्शन के सम्बन्ध में व्यक्त विचार

ट्रैक्टेटस में दर्शन सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए विटगेन्स्टीन

कहते हैं कि दर्शन का मुख्य कार्य प्रतिज्ञप्तियों का स्पष्टीकरण है।[१] दर्शन संबंधी यह विचार परम्परागत दर्शन से भिन्न हैं। परम्परागत दर्शन में सत्य के स्वरूप को दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों के माध्यम से व्यक्त करते हैं। ये उन सत्ताओं के सम्बन्ध में उक्तियाँ प्रस्तुत करते हैं, जो वैज्ञानिक तथ्यों से भिन्न हैं। किन्तु इस दृष्टिकोण से परम्परागत दार्शनिक प्रणाली अनेक दोषों से ग्रस्त हो जाती है, क्योंकि यदि वैज्ञानिक किसी तथ्य संबंध में कुछ कहता है तो इसके उपरान्त उस तथ्य के सम्बन्ध में दर्शन के पास कुछ नवीन तथ्य प्रस्तुत करने के लिए नहीं रह जाता। दार्शनिक का कार्य मात्र यह है कि वह विचारों का तार्किक स्पष्टीकरण प्रस्तुत करे। दर्शन का मुख्य कार्य आलोचना द्वारा भाषा का संशोधन है। ट्रैक्टेटस की भूमिका में अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए विटगेन्स्टीन कहते हैं, 'इस पुस्तक का उद्देश्य विचार की सीमा का रेखांकन है। हम इसे अभिव्यंजना की सीमा का रेखंकन भी कह सकते हैं, क्योंकि विचार की सीमा को रेखांकित करने के लिए हमें सीमा के दोनों विचारणीय पक्षों की खोज करनी होगी। उदाहरणार्थ हमें यह विचार करने में सक्षम होना चाहिए, जिस पर विचार नहीं किया जा सकता। इसलिए भाषा मात्र में ही सीमा का रेखांकन किया जा सकता है और जो इस सीमा के दूसरी ओर अवस्थित है वे पूर्णतः अर्थहीन हैं'।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन अर्थपूर्ण प्रतिज्ञप्तियों से पृथक्करण की कसौटी प्रदान करता है। ऐसा इसलिए भी आवश्यक प्रतीत होता है क्योंकि भाषा के तर्क को समझना मानव के लिए संभव नहीं होता। विटगेन्स्टीन के शब्दों में, 'भाषा विचार को छिपाती है, जिस प्रकार बाह्य आकार को देखकर विचार के आकार का अनुमान क़िया जाना संभव नहीं, क्योंकि परिधान का बाह्य आकार शरीर के अभिज्ञान के लिए नहीं बल्कि भिन्न उद्देश्य के लिए बनाया गया है'।[३] भाषा का यह छद्म रूप भाषा विषयक कुछ भ्रामक धारणाओं को उत्पन्न करता है। दर्शन का उद्देश्य दार्शनिक विश्लेषण के माध्यम से दार्शनिक समस्याओं का समाधान कर विचारों का स्पष्टीकरण है। विटगेन्स्टीन के शब्दों में, 'दर्शन का लक्ष्य विचारों का तार्किक स्पष्टीकरण है। दर्शन भिन्न-भिन्न सिद्धातों का अंग नहीं, बल्कि एक सक्रियता है एक दार्शनिक कृति में मुख्य रूप से स्पष्टीकरण अन्तर्लीन होता है ...दर्शन के अभाव में विचार अस्पष्ट होते हैं। दर्शन का कार्य इन्हें स्पष्ट करते हुए सीमांकित करना है'।[४] दर्शन सम्बन्धी कुछ इसी प्रकार के विचार 'रसेल' ने भी व्यक्त किये हैं। रसेल के अनुसार दर्शन की विषयवस्तु भाषा है और दर्शन की प्रविधि विश्लेषण है।

विटगेन्स्टीन सहज, दैनंदिन की भाषा पर बल देते हैं। सहज प्रयोग में आनेवाली भाषा हमें दिग्भ्रमित नहीं कर सकती, अपितु यथार्थसूचक होती है। हम दिग्भ्रमित तब होते हैं, जब हम सहज प्रयोग में आनेवाले वाक्यों को कृत्रिम तात्त्विक अर्थों से आच्छादित कर देते हैं। दर्शन का यह कार्य नहीं कि वह साधारण प्रयुक्त होने वाली भाषा को तोड-मोड करे, बल्कि यह है कि वह शब्दों को उनके तात्त्विक अर्थोंसे विमुक्त कर उसे प्रतिदिन के व्यवहार में समझे जाने वाले अर्थों में प्रतिस्थापित करे। तत्त्वमीमांसक ज्ञान, सत्ता, वस्तु, नाम आदि शब्दों के अनेक अर्थ लगाते हैं, जिनसे हम व्यामोहित हो जाते हैं। ऐसी परिस्थिति में हमें प्रश्न करना चाहिए कि क्या जो अर्थ इन शब्दों के लगाये जाते हैं, वे ही अर्थ उनके प्रतिदिन प्रयुक्त होने वाली भाषा में है या नहीं ? यदि हम यह जानने का प्रयास करें कि व्यावहारिक भाषा में शब्दों का अर्थ क्या होता है, तो हम अनेक भ्रांतियों से बच सकते हैं। अतः विटगेन्स्टीन हमें भाषा के कार्य का अवलोकन की अनुदेशना देते हैं।

इस बिन्दु पर विटगेन्स्टीन इस बात की आवश्यकता महसूस करते हैं कि दैनंदिन भाषा को आदर्श भाषा के रूप में विश्लेषित किया जाय, जहाँ प्रतिज्ञप्ति और तथ्य ते बीच सीधा सम्बन्ध देखने को मिलेगा। विटगेन्स्टीन के शब्दों में, एक प्रतिज्ञप्ति में निश्चय ही उतने विश्लेषणीय अंग होने चाहिए, जितने परिस्थिति में होंगे जिसका यह प्रतिनिधित्व करता है'।[५] एक आदर्श भाषा, जिसे विटगेन्स्टीन 'संकेत भाषा' (साइन -लैंगवेज) कहना अधिक पसन्द करते हैं, सत्य प्रतिज्ञप्तियों से निर्मित होता है, जिसका पुनर्विश्लेषण संभव नहीं। सरल प्रतिज्ञप्ति वस्तु-स्थिति (स्टेट-ऑफ-अफेयरस) पर बल देता है। एक सरल प्रतिज्ञप्ति वस्तु-स्थिति से अनुरूपता के कारण ही सत्य या मिथ्या होता है। विटगेन्स्टीन ऐसा मानते हैं कि वस्तु-स्थिति के अस्तित्व या अनस्तित्व से प्रतिज्ञप्ति की सत्यता या मिथ्यता मात्र ही निर्धारित नहीं होती बल्कि उसकी अर्थपूर्णता और अर्थहीनता भी निर्धारित होती है। विटगेन्स्टीन के अनुसार 'एक प्रतिज्ञप्ति का अर्थ वस्तु स्थिति के अस्तित्व और अनस्तित्व के साथ उसके सहमति और असहमति पर निर्भर होता है'।[६] यहाँ प्रश्न उठता है कि हम यह कैसे मान लें कि प्रतिज्ञप्ति वस्तु स्थिति को प्रतिबिम्बित करता है। विटगेन्स्टीन के अनुसार एक प्रतिज्ञप्ति एक तथ्य को चित्रित करने में इसलिए सफल होता है क्योंकि प्रतिज्ञप्ति की संरचना और तथ्य की संरचना दोनों समान हैं। प्रतिज्ञप्ति संरचना और तथ्य की संरचना

परस्पर पूरक हैं। तथ्य की संरचना उस वाक्य में प्रतिबिम्बित होती है, जिसके द्वारा हम उसका वर्णन करते हैं। जिस प्रकार चित्र में उन परिस्थितियों की संरचना विद्यमान रहती है जिन्हें वह चित्रित करता है, उसी तरह प्रतिज्ञप्ति में भी उन परिस्थितियों की संभावना दर्शित होती है, जिन्हें सूचित करता है। इस प्रकार प्रतिज्ञप्तियों का विश्लेषण हमें प्राथमिक प्रस्थापनाओं तक ले जाता है, जो नामों के तत्कालीन संयोग से बनते हैं। किसी प्रस्थापना के प्राथमिक होने की पहचान यह है कि उसका निषेध करने वाली कोई प्राथमिक प्रस्थापना नहीं होती। सरलतम प्रकार की प्रस्थापना अर्थात आरंभिक प्रतिज्ञप्ति किसी विद्यमान स्थिति के अस्तित्व का सूचक होती है। विटगेन्स्टीन मानते हैं कि कोई प्रतिज्ञप्ति तथ्य को इसलिए प्रतिबिम्बित कर पाती है कि प्रतिज्ञप्ति की संरचना भी तथ्य की संरचना जैसी होती है। उनका मानना है कि 'एक नाम एक वस्तु का और दूसरा नाम दूसरी वस्तु का सूचक होता है और वे इस प्रकार संबंधित होती हैं कि उनकी समग्रता सजीव चित्र की तरह पारमाणविक तथ्य को प्रस्तुत करती है ... प्रतिज्ञप्ति में उतनी ही सुस्पष्ट वस्तुएँ होनी चाहिए जितने कि उसके द्वारा प्रस्तुत विद्यमान स्थिति में होती हैं'।[७] इस प्रकार हम देखते हैं कि ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीन यह मानकर चलते हैं कि दर्शन का एकमात्र उद्देश्य साधारण भाषा का इस प्रकार विश्लेषण करना है ताकि हम एक आदर्श भाषा तक पहुंच सकें।

इन्व्हेस्टिगेशन में दर्शन के सम्बन्ध में व्यक्त विचार

इन्व्हेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन, ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों का खंडन करते हैं। इन्व्हेस्टिगेशन की भूमिका में वे कहते हैं, 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि ट्रैक्टेटस में चर्चित समस्याओं को उसी अंश में पुनर्चर्चित करना होगा क्योंकि मेरे नवीन विचारों को पुराने विचारों के विपरीत और विरोधी पृष्ठभूमि के आलोक में ही सही परीप्रेक्ष्य में अवलोकित किया जा सकता है'।[८] ट्रैक्टेटस की तरह इन्व्हेस्टिगेशन में भी विटेगेन्स्टीन कहते हैं कि भाषा की समालोचना दर्शन की एक मात्र विषयवस्तु है। पर स्वयं उन्होंने स्वीकार किया है कि ट्रैक्टेटस और इन्व्हेस्टिगेशन में व्यक्त उनके विचारों में दो महत्त्वपूर्ण और परस्प्रर संबंधित दृष्टियों से अन्तर है। प्रथम ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीन ने माना है कि विश्लेषण दर्शन की एकमात्र पद्धति है और दूसरी भाषा का एकमात्र कार्य यथार्थ का प्रतिबिम्बन है। इन दो विचारों से संबंधित एक विचार यह भी है कि परमाणविक प्रस्थापनाओं पर आधारित विश्लेषणात्मक भाषा परमाणविक तथ्यों का प्रतिबिम्बन करती है।

इन्व्हेस्टिगेशन में ट्रैक्टेटस में वर्णित ये दो विचार ही विटगेन्स्टीन के आलोचना के मुख्य केन्द्र हैं। परवर्ती विटगेन्स्टीन के अनुसार दर्शन की पद्धति विश्लेषण नहीं बल्कि शब्दों के विभिन्न प्रयोगों का वर्णन है। अपने इस नये सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए परवर्ती विटगेन्स्टीन कहते हैं कि 'दर्शन शास्त्र भाषा के वास्तविक प्रयोगों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। अंततः यह इसका वर्णन नहीं कर सकता है। इसकी वजह है कि यह उसे एक आधार भी नहीं प्रदान कर सकता। यह हर वस्तु को यथावत बने रहने देता है'।[9] विटगेन्स्टीन यह मानते हैं कि हम शब्दों के अर्थों का वर्णन दार्शनिक समस्याएं हल करने के लिए नहीं करते। इनके विचार में, दर्शन में व्याख्या और सिद्धान्त निरूपण को त्याग कर वर्णन को स्वीकार किया जाना चाहिए। दर्शन को भाषा तक सीमित कर परवर्ती विटगेन्स्टीन विश्व बोध के लिए दर्शन की आवश्यकता की ओर संकेत करते हैं। जहाँ ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीन ने एक आदर्श भाषा का एक रस और अमूर्त्त प्रारूप प्रस्तुत किया, वहीं इन्व्हेस्टिगेशन में उन्होंने यह बतलाया है कि भाषा तरह-तरह से कार्य करती है। ट्रैक्टेटस में व्यक्त विचारों की आलोचना करते हुए विटगेन्स्टीन कहते हैं, चिन्तन एक हाला से मंडित होता है। उसका मूल तर्क एक व्यवस्था, वास्तव में विश्व की प्रागनुभविक व्यवस्था को प्रस्तुत करता है, जो शब्द और चिन्तन, दोनों में सामान्य होनी चाहिए। लेकिन यह प्रतीत होता है कि यह व्यवस्था एकदम सरल होगी। यह सभी अनुभवों से पूर्ण होती है, सभी अनुभवों से संचालित होती है। कोई भी अनुभवाश्रित अनिश्चितता इसे प्रभावित नहीं करती, बल्कि इसे युद्धतम स्फटिक जैसी होनी चाहिए। लेकिन यह स्फटिक अमूर्त नहीं, कोई मूर्त वस्तु लगता है'।[10] हम इस भ्रम में रहते हैं कि हमारे अन्वेषण में जो कुछ विशिष्ट, गंभीर और मूलभूत है, वह भाषा के अतुलनीय सारतत्त्व को ग्रहण करने के प्रयास में निहित होता है। प्रस्थापना, शब्द, प्रमाण, सत्य, अनुभव आदि की धारणाओं में विद्यमान व्यवस्था यही है। इस प्रकार परवर्ती विटगेन्स्टीन ने अपने ट्रैक्टेटस वाले विचार के सभी अंतःसंबंधित पक्षों को, उसकी विश्लेषण पद्धति, सांकेतिक परिभाषा, एकमात्र संपूर्ण भाषा के रूप में आदर्श भाषा और भाषा के सारतत्त्व का खंडन करते हैं। इन्व्हेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन यह विचार व्यक्त करते हैं कि भाषा तरह-तरह से कार्य करती है। जिन्हें हम 'प्रतीक', 'शब्द और 'वाक्य' कहते हैं, उनके अनगिनत प्रयोग हैं। यह बहुलता कोई जड वस्तु के बारे में सदा के लिए निर्धारित नहीं होती, बल्कि भाषा के नए-नए रूप उनके नए-नए प्रकार सामने

आते हैं। शब्दों के विभिन्न प्रयोगों के अपने-अपने नियम होते हैं। परवर्ती विटगेन्स्टीन इसे भाषा-क्रीडा की संज्ञा देते हैं। दार्शनिक समस्याएं इसलिए उपस्थित होती हैं क्योंकि हम शब्द को किसी विशेष संदर्भ में उसके प्रयोग से अयुक्त कर देते हैं और उसके सारतत्त्व के अन्वेषण की ओर प्रयासरत रहते हैं। पुनश्चः परवर्ती विटगेन्स्टीन यह विचार भी व्यक्त करते हैं कि दार्शनिक भ्रम इस कारण उठते हैं क्योंकि हम एक भाषाई क्रीडा की धारणा को लेकर उसे किसी दूसरी भाषाई क्रीडा पर प्रयुक्त करने लगते हैं। 'क्रीडा' शब्द का प्रयोग विभिन्न क्रीडाओं के लिए होता है, जैसे बोर्ड के खेल, ताश के खेल, गेंद के खेल इत्यादि। ऐसा कोई भी तत्त्व नहीं जो इन सबमें विद्यमान हो। इनमें केवल मिलती जुलती विशेषताएं हैं। इन्हें विटगेन्स्टीन पारिवारिक साम्य (फैमली रिजेभलेन्स) कहते हैं। यही बात किसी शब्द के विभिन्न प्रयोगों के लिए भी सत्य है। कोई भी ऐसा प्रत्यय नहीं, जो किसी शब्द के सभी प्रयोगों में विद्यमान रहता है। भाषा को समझाने के लिए विटगेन्स्टीन इसकी तुलना यंत्र से करते हैं। शब्द के कार्य भी वैसे ही भिन्न-भिन्न हैं जैसे विभिन्न यंत्रों या उपकरणों के। अतः भाषा को समझने के लिए शब्दों और वाक्यों को उनके वास्तविक संदर्भों में देखना आवश्यक है। इस प्रकार का विश्लेषण गहन व्याकरण है। इसका संबंध शब्दों के प्रयोगों या भाषा खेलों से है। ट्रैक्टेटस की अपेक्षा इन्व्हेस्टिगेशन में अर्थ सिद्धान्त में जो सुधार हुआ, उसे एंथनी केनी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है, 'ट्रैक्टेटस में अर्थ का निर्धारण शुद्ध इच्छा द्वारा, अपार्थिव आत्मवादी तत्त्वमीमांसी 'स्व' की शुद्ध इच्छा द्वारा होता है, लेकिन इन्व्हेस्टिगेशन में अनुभवजन्य विश्व के सामाजिक समुदाय में उपस्थित मनुष्य की सक्रिय भागदारी द्वारा इसका निर्धारण होता है'।[११] ट्रैक्टेटस में विटगेन्स्टीनने ज्ञान के कर्ता और विधेय, दोनों की व्याख्या अमूर्त रूप से की है। और इसी कारण उसकी भाषा की धारणा भी अमूर्त हो गयी। लेकिन इन्व्हेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन ने यह महसूस किया कि ज्ञान और यथार्थ के वस्तुगत क्षेत्र को निरूपित करने के लिए विश्लेषण पद्धति का उपयोग नहीं किया जा सकता। परवर्ती विटगेन्स्टीन के अनुसार भाषा का वस्तुगत अंतर्तत्त्व और संज्ञानात्मकता को महत्त्व दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त चर्चा के आलोक में परवर्ती विटगेन्स्टीन के दर्शन विषयक विचार का अवलोकन करेंगे। दर्शन के सम्बन्ध में परवर्ती विटगेन्स्टीन का एक अति लोकप्रिय कथन है कि दर्शन में हमारा उद्देश्य क्या होता है ? मक्खी को

बोतल से बाहर निकलने का रास्ता दिखलाना। इस उदाहरण में बोतल में और कैद मक्खी दार्शनिक है और मक्खी का बोतल कुछ दार्शनिक समस्याएं जिनके समाधान के लिए वह प्रयासरत रहा, पर इस समस्या रूपी बोतल से बाहर निकलने का रास्ता उसे नजर नहीं आता, हालांकि बाहर निकलने का रास्ता बिल्कुल खुला हुआ है। विटगेन्स्टीन दर्शन संबंधी इस प्राचीन मत को स्वीकार नहीं करते कि दर्शन का प्रारंभ बिन्दु आश्चर्य है विटगेन्स्टीन के अनुसार दर्शन का प्रारंभ बिन्दु मानसिक उद्वेस्ट (मेन्टल क्रैम्प) है।

विटगेन्स्टीन के अनुसार दार्शनिक समस्या 'मैं मार्ग नहीं जानता' के रूप में व्यक्त करता है। जब भी कोई व्यक्ति किसी समस्या पर दार्शनिक चिन्तन करने की ओर उन्मुख होता है वह निर्विवाद रूप से अपने को किंकतर्व्यविमूढता की स्थिति में पाता है। यह एक अच्छे दार्शनिक के लिए अनिवार्य पूर्वउपाधि है। दार्शनिक समस्याओं का इसकी समग्रता में बोध में ही सम्भ्रान्तिता आपादीत है। इसलिए विटगेन्स्टीन यह कहते हैं कि मेरा उद्देश्य छद्म अर्थहीनता से स्पष्ट अर्थहीनता की ओर चलने की अनुदेशना देता है।[१२] दार्शनिक किसी समस्या को एक रोग के समान मानते हैं। दर्शन इस अर्थ में चिकित्साशास्त्र है और इसका लक्ष्य बौद्धिक स्वास्थ्य है। इस प्रकार दर्शन का प्रारंभ एक रोग से होता है और इसका उपचार वह चाहता है। हम यह भी कह सकते हैं कि दर्शन का जन्म रोग रूपी कारावास से होता है जिससे मुक्ति वह चाहता है। पर इस प्रकार का उपचार एवं मुक्ति अवश्य ही निर्दोष और स्थायी होनी चाहिए। दार्शनिक सिद्धान्तों का अधिक से अधिक एक क्षणिक दर्द निवारक गोली माना जा सकता है। यह समस्या का उपचार नहीं करता। यह दर्द निवारक गोली एस्प्रीन के समान है जबकि आवश्यकता शल्य चिकित्सा की है।

इस स्थल पर इस प्रश्न पर विचार कर लेना वांछनीय प्रतीत होता है कि दार्शनिक किंकर्तव्यविमूढता का कारण क्या है ? दार्शनिक जटिलता उत्पन्न कैसी होती है ? हमारा बोध इस प्रकार की समस्याओं के जाल में कैसे फैल जाता है ? विटगेन्स्टीन के अनुसार, इस प्रकार की जटिलता का मुख्य कारण है भाषा सम्बन्धी हमारी भ्रान्त धारणायें। शब्दों और वाक्यों के साधारण व्यवहार को जान लेने पर ये भ्रम दूर हो जाते हैं और दार्शनिक प्रश्न उसके साथ-साथ विलीन हो जाते हैं। दार्शनिक जनसाधारण की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान होते हैं। अतः वे विभिन्न प्रकार के प्रश्न और निरर्थक समस्याएं उपस्थित करते हैं, जहाँ उनकी

कोई गुंजाइश नहीं। यह इसलिए हो जाता है कि वे साधारण शब्दों और वाक्यों का व्यवहार असाधारण ढंग से करते हैं। अंतः जहाँ दीवार नहीं, वहाँ भी उन्हें दीवार नजर आती है। जहाँ आत्मा, परमात्मा नहीं वहाँ भी वे उनकी दीवार खडी कर देते हैं। यदि दर्शन में शब्दों कें प्रयोग उसी अर्थ में किया जाय जिस अर्थ में दैनिक जीवन में प्रयोग किया जाता है तो अनेक समस्याएं हल हो सकती हैं। समस्याएं हल करने के लिए प्रायः नूतन सूचना देना आवश्यक नहीं। आवश्यकता है पूर्व प्राप्त ज्ञान को व्यवस्थित करने की। शायद इसी से प्रभावित होकर इन्व्हेस्टिगेशन के अंत में विटगेन्स्टीन पुनः कहते हैं, 'दार्शनिक बेचैनी का मुख्य कारण एकांगी आहार है। लोग अपने विचारों को एकपक्षीय दृष्टिकोण से निर्मित करते हैं'।[१३] जब हम किसी वाक्य का प्रयोग करते हैं तो उस समय हम उसके एक ही संदर्भ को ध्यान में रखते हैं और वाक्य के अन्य संदर्भों में प्रयोग की संभावना को हम विस्मृत कर देते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है। 'ज्ञान' पद को संकीर्ण अर्थ में प्रत्यक्षात्मक ज्ञान माना जाता है और यहीं दार्शनिक समस्या उत्पन्न होती है। जब हम इस पर विचार करते हैं कि अतीत और भविष्य का ज्ञान किस प्रकार संभव है ? यदि अतीत या भविष्य का ज्ञान संभव है तो इसे प्रत्यक्ष के विषय के रूप में अब वर्तमान रहना चाहिए जो कि असंभव है। इस समस्या का अंत तब हो जाता है जब हम ज्ञान के अन्य संदर्भों में प्रयोग के उदाहरणों से अवगत हो जाते हैं। जैसे स्मरण, भविष्यवाणी इत्यादि।

विटगेन्स्टीन मानते हैं कि सामान्यता के प्रति लालसा और विशेष के प्रति तिरस्कारपूर्ण मनोवृति ने आज अधिकाधिक रूप से मानवीय चिन्तन को प्रभावित किया है। हम अनेकता में एकता, विषमता में समता रखते हैं। विटगेन्स्टीन भाषा और लालसा के बीच संबंधों की चर्चा के आलोक में दार्शनिक समस्याओं पर इसके प्रभाव का अवलोकन करते हैं। इनके अनुसार दर्शन के क्षेत्र में इस प्रकार की मनोवृति का घातक प्रभाव पङता है। भाषा विषयक हमारा चिन्तन एकता की इच्छा से नियंत्रित होता है। प्रत्येक वाक्य अक्षरों का वर्ग है और इसलिए इनमें पारस्परिक सादृश्यता उच्चतम मात्रा में पायी जाती है, जो हमें यह मानने को प्रेरित करता है कि सभी वाक्य समान रूप में ही कार्य करते हैं। विटगेन्स्टीन के शब्दों में 'वाक्यों की एकरूप विद्यता हमारे लिए भ्रम का कारण बन जाता है क्योंकि इनका प्रयोग हमारे समक्ष स्पष्ट रूप से उपस्थित नहीं किया गया। यह बात दर्शन

के सम्बन्ध में विशेष रूप से कही जा सकती है'। एक दार्शनिक के साथ कठिनाई यह है कि वह विषय संबंधी प्राप्त कुछ निश्चित चित्र के आधार पर कार्य करता है, जो उसके सम्भ्रान्त का कारण बनता है। यही चित्र उसके परेशानी का मूल स्रोत है।

विटगेन्स्टीन ऐसा मानते हैं कि समस्या से ग्रसित किसी दार्शनिक को यदि उपरोक्त तथ्यों से अवगत कराया जाता है तो वे सभी दृष्टान्तों में इससे सहमत होने की इच्छा नहीं रखते। एक दार्शनिक के बौद्धिक व्याधि से हम स्पष्ट रूप से अवगत हो सकते हैं, पर दार्शनिक जो इस व्याधि से पीड़ित है उसे यह कभी स्पष्ट नहीं होता। यदि विटगेन्स्टीन की यह मान्यता मान्य हो तो हम कह सकते हैं कि रोगी एक निश्चित रूप से चिन्तन करता है, जबकि तथ्य यह है कि वह इस चिन्तन से तीव्र मतभेद रखता है। दार्शनिक की समस्या का उपचार कुछ हद तक इन तथ्यों की स्वीकृति में निहित है। इस बिन्दु पर यह परिस्पष्ट दिखता है कि बौद्धिक परेशानी जिससे विटगेन्स्टीन सम्बद्ध हैं और मनोवैज्ञानिक कठिनाईयाँ जिससे 'फ्रायड' एवं अन्य आधुनिक मनोवैज्ञानिक सम्बद्ध हैं, के बीच निकट का सम्बन्ध है।

उपर्युक्त परिस्थिति में दार्शनिक का अब क्या कार्य रह जाता है ? विटगेन्स्टीन के अनुसार दार्शनिक का कार्य वाक्यों के प्रयोग संबंधी कुछ वर्णन प्रस्तुत करना है। विटगेन्स्टीन के ही शब्दों 'दर्शन वास्तव में शुद्धतः वर्णनात्मक है।' विटगेन्स्टीन यह भी कहते हैं कि दार्शनिक को स्वयं किसी व्याख्या की क्रिया में संलग्न नहीं होना चाहिए। विटगेन्स्टीन कहते हैं 'प्रत्येक व्याख्या को हमें तिरस्कृत करना होगा और इसका स्थान वर्णन को देना होगा।' चूंकि दार्शनिकों का सही कार्य शुद्धतः वर्णनात्मक है, इसलिए इनसे किसी सिद्धान्त निरूपण की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। विटगेन्स्टीन का यह विचार ट्रैक्टेटस में व्यक्त इस विचार के समान प्रतीत होता है कि दर्शन की परिणति दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों में नहीं होती, बल्कि प्रतिज्ञप्तियों के स्पष्टीकरण में होती है।

उपसंहार

ट्रैक्टेटस और इन्व्हेस्टिगेशन में विटगेन्स्टीन द्वारा दर्शन के संबंध व्यक्त विचार शैली और अन्तर्वस्तु में भिन्न प्रतीत होता है। इसीलिए कुछ लोग यह मानने को बाध्य हो जाते हैं कि दर्शन के सम्बन्ध में विटगेन्स्टीन दो बिल्कुल ही असम्बद्ध और असमान विचार व्यक्त करते हैं। यह दृष्टिकोण अति सरल है और

इसमें विटगेन्स्टीन द्वारा व्यक्त दर्शन के सम्बन्ध में वैचारिक गहनता की सर्वथा उपेक्षा की गयी है। वास्तव में, यदि हम विटगेन्स्टीन के पूर्ववर्ती और परवर्ती दार्शनिक चिन्तन के पारस्परिक अधिमूल्यांकन या अवमूल्यांकन के आधार पर कोई निष्कर्ष स्थापित करने की चेष्टा करेंगे तो वह एकांगी होगा। दर्शन के सम्बन्ध में तो यह और तीव्र रूप में हमारे समक्ष उपस्थित होता है। विटगेन्स्टीन के दार्शनिक चिन्तन को किसी विशिष्ट दर्शन पद्धति के अन्तर्गत सीमाबद्ध नहीं किया जा सकता। ऐसा करना उनकी वैचारिक विविधता और गत्यात्मक के साथ अन्याय होगा। दर्शन के सम्बन्ध में इन्होंने जो भी विचार व्यक्त किये हैं, वह काल सापेक्ष हैं। जब इन्होंने महसूस किया कि ट्रैक्टेटस में व्यक्त दर्शन और इससे सम्बद्ध अनुलग्नक समस्याओं के प्रति इनका दृष्टिकोण बिल्कुल संगत नहीं तो इन्होंने अपने विचारों को तत्काल परिशुद्ध करते हुए एक नवीन विचार अपने परवर्ती दर्शन में प्रस्तुत किया। यह सही है कि उनके परवर्ती दर्शन का आधार पूर्ववर्ती दर्शन की आलोचना है। पर यह कल्पना हमारे लिए विचित्र प्रतीत होती है कि यदि ट्रैक्टेटस के सभी विचार पूर्णतः अमान्य हों तो इस कृति की उपयोगिता क्या रह जाती है। क्या इसे तिरस्कृत करते हुए इनके परवर्ती दर्शन को ही पूर्णरूपेण मान्यता दी जानी चाहिए। विटगेन्स्टीन इस प्रकार की किसी भी संभावना को स्वीकार करने को तत्पर नहीं। ट्रैक्टेटस के विचारों की सहानुभूतिपूर्ण आलोचना विटगेन्स्टीन प्रस्तुत करते हैं। ट्रैक्टेटेस में व्यक्त दर्शन संबंधी विचारों की पूर्णरूपेण अवहेलना न तो कभी इनका लक्ष्य रहा है और न इन्होंने इस ओर प्रयास किया है। ट्रैक्टेटस ओर इन्वेस्टिगेशन दोनों में ही विटगेन्स्टीन ने इस बात को स्वीकार किया है कि भाषा ही दार्शनिक विमर्श की सीमा है। अतः महत्त्वपूर्ण रूप से कुछ बिन्दुओं पर भिन्न होते हुए भी, विटगेन्स्टीन इस उभयनिष्ठ बिन्दु पर बल देते हैं कि दर्शन का कार्य वास्तविकता का स्पष्टीकरण और व्याख्या नहीं। दर्शन संबंधी विटगेन्स्टीन का यह विचार कुछ आधार वाक्यों पर आधारित है। जिन्हें स्पष्ट करने की आवश्यकता है। विटगेन्स्टीन इस बात को मानते हैं कि हमें जो भी ज्ञान प्राप्त होता हे वह प्राकृतिक विज्ञानों के माध्यम से ही। इस प्रकार प्राकृतिक विज्ञानों के भिन्न-भिन्न शाखाएं परिघटनाओं का वर्णन अपने परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करते हैं। उदाहरणार्थ, भौतिक विज्ञान भौतिक परिघटनाओं का वर्णन करता है, रसायन विज्ञान रसायनिक परिवर्तनों की व्याख्या करता है, वनस्पति विज्ञान भिन्न-भिन्न पौधों का वर्णन करता है इत्यादि। ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्रकार

के तर्क के आधार पर विटगेन्स्टीन इस निष्कर्ष पर आते हैं कि जिन परिघटनाओं का वर्णन प्राकृतिक विज्ञानों द्वारा प्रस्तुत किया जा चुका है उनके संबंध में दर्शन के पास वर्णन करने के लिए कुछ शेष नहीं रह जाता। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने समग्र दार्शनिक चिन्तन में विटगेन्स्टीन इस पर हमेशा बल देते रहे हैं कि दार्शनिक विमर्श के प्रयोग के वर्णन तक ही सीमित है। संक्षेप में, हम कह संकते हैं कि विटगेन्स्टीन के लिए दर्शन का सम्बन्ध आनुभविक वास्तविकता या वास्तविकता के विश्व से नहीं।

उपर्युक्त विमर्श के आलोक में यह कहा जा सकता है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती वस्तु के बीच संगति नहीं हो सकती।

इनके पूर्ववर्ती और परवर्ती दर्शन में दर्शन की सही पद्धति के रूप में तत्त्वमीमांसा के विश्राम को स्वीकार किया गया है। विटगेन्स्टीन ने दर्शन विषयक जो भी विचार व्यक्त किये हैं उन्हें अर्थ प्रदान करने में तत्त्वमीमांसक सफल नहीं हो सके। इनके पूर्ववर्ती दर्शन में तत्त्वमीमांसकों ने इनके अभिव्यक्तियों को वास्तविकता के तत्त्व के साथ सह संबंधित नहीं किया, जबकि इनके परवर्ती दर्शन में भाषा क्रीडा के परिपेक्ष्य में तत्त्वमीमांसा अपना कोई स्थान नहीं रखता।

उपर्युक्त विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता कि विटगेन्स्टीन के पूर्ववर्ती और परवर्ती विचार में दर्शन विषयक कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण बिन्दु हैं जो स्थायी रूप से वर्तमान रहते हैं। अपने मत की पुष्टि में मैं विटगेन्स्टीन के ही एक महत्त्वपूर्ण परन्तु लघु चर्चित उक्ति को प्रस्तुत करना चाहूंगा। विटगेन्स्टीन ने १९१३ में 'नोट्स ऑन लॉजिक' पर विचार व्यक्त करते हुए कहा था 'दर्शन में अनुगमन के लिए कोई स्थान नहीं, यह विशुद्धतः वर्णनात्मक है। दर्शन को प्राकृतिक विज्ञानों के समतुल्य नहीं माना जा सकता। दर्शन वास्तविकता संबंधी कोई चित्र प्रदान नहीं करता और वैज्ञानिक अन्वेषणों की यह न तो पुष्टि करता है और न ही तिरस्कृत है। दर्शन में तर्कशास्त्र और तत्त्वमीमांसा निहित है, पर तत्त्वमीमांसा ही इसका आधार है। ज्ञानमीमांसा मनोविज्ञान का दर्शन है। दर्शनीकरण का प्रथम अपेक्षित गुण है व्याकरण के प्रति अविश्वास। दर्शन वैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों के तार्किक रूप का सिद्धान्त है। तार्किक प्रतिज्ञप्तियों की सही व्याख्या अन्य प्रतिज्ञप्तियों की तुलना में इसे अद्‌भुत स्थिति प्रदान करता है'।[१४] इस परिभाषा में चर्चित सभी बिन्दुओं पर विटगेन्स्टीन ने एक स्थिर दृष्टिकोण अपनाया है। दर्शन संबंधी इसी विचार को परिवर्तित करते हुए गहनता प्रदान करना इनका उद्देश्य रहा

है, दर्शन संबंधी उपर्युक्त विचारों को अस्वीकार करने की बात इन्होंने न तो कभी की है और न कभी इनका ऐसा मन्तव्य रहा है।

इन्व्हेस्टिगेशन की भूमिका में विटगेन्स्टीन ने ट्रैक्टेटस में व्यक्त अशुद्धियों को स्वीकार है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं लगाया जा सकता कि उनका परवर्ती दर्शन बिल्कुल नवीन है। इस बात की संभावना है कि पूर्ववर्ती और परवर्ती दार्शनिक चिन्तन के बीच भिन्नता को स्वयं विटगेन्स्टीन ने अतिशयोक्ति रूप में स्वीकार किया है। इसे आश्चर्यजनक नहीं माना चाहिए, क्योंकि ट्रैक्टेटस लिखने और इन्व्हेस्टिगेशन के लेखन के बीच जो अन्तराल का काल है उसमें विटगेन्स्टीन ने उन समस्याओं पर अपने ध्यान को अधिक केन्द्रित किया है, जो उनके पूर्ववर्ती दर्शन से परवर्ती दर्शन को भिन्नता प्रदान करता है। लेकिन जैसे जैसे इन्व्हेस्टिगेशन के उपरान्त अग्रसर होते हैं हम यह स्पष्ट महसूस करते हैं कि उनके विचारों में ट्रैक्टेटस से समानता उतना हीं महत्त्वपूर्ण है जितना की असमानता।

डॉ. अरूण कुमार प्रसाद
उपाचार्य एवं विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग
मिर्जागालिब कॉलेज, गया
(मगध विश्वविद्यालय)

टिप्पणियाँ

१. एल. विटगेन्स्टीन, ट्रैक्टेटस, अनु. डी. एफ. पियर्स एण्ड बी. एफ. मेकग्यूनीस, रोटलेज एण्ड केगन पॉल, लंदन १९७८, पृ. ३
२. उपरोक्त संख्या ४.००३१
३. उपरोक्त संख्या ४.००२
४. उपरोक्त संख्या ४.११२
५. उपरोक्त संख्या ४.०४
६. उपरोक्त संख्या ४.२
७. उपरोक्त संख्या ३.१४३२
८. एल. विटगेन्स्टीन, फिलॉसफिकल इन्व्हेस्टिगेशन, अनु. सी. इ. एम. एंसकांव, ऑक्सफोर्ड यूनिवार्सिटी प्रेस, १९५२
९. उपरोक्त खंड १२४

१०. उपरोक्त खंड ५.५५६३

११. एंथनी केनी, द लेगेसी ऑफ विटगेन्स्टीन, बसिल ब्लैकवेल, न्यूयार्क १९६४, पृ. ९

१२. एल. विटगेन्स्टीन, माइंड में, LXI, नं. २४२, (अप्रैल १९५२,) पृ. २५९

१३. उपरोक्त नं. ८,५९३

१४. एल विटगेन्स्टीन, नोट बुक्स १९१४-१९१६, बसिल ब्लैकवेल, १९१६, पृ. १३

शंकर के दर्शन में कर्म

जब कभी शंकराचार्य के वेदान्त का नाम लिया जाता है तो स्मृतिपटल पर उनका जगत्मिथ्यावादी व कर्म विरोधी रूप सामने आ जाता है जो कि विद्वानों द्वारा उनके दर्शन के मुख्य पक्षों की, जिनमें उनका कर्मयोगी पक्ष भी है, उपेक्षा किये जाने के कारण है। उच्च ज्ञान व उच्च कर्म की ओर ले जाने वाले शंकराचार्य के दर्शन के इस रूप पर प्रकाश डालना एक महत्त्वपूर्ण कार्य है।

जब साधारण व कतिपय विद्वानों (जिनमें दर्शन के प्रकाण्ड पण्डित माने जाने वाले लोग भी शामिल हैं) में कई बार शंकराचार्य की छवि मात्र तर्क, श्रुति-प्रामाण्य पर अनावश्यक अतिनिर्भरता तथा शुष्क चिन्तन की भित्ति पर अपने दर्शन का प्रासाद खड़ा करने वाले दार्शनिक के रूप में दिखाई देती है जो वि शंकर के महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थों के सीधे अवलोकन न किये जाने के कारण है। अधिकांश विद्वान तो पाश्चात्य ग्रन्थों या पाश्चात्य प्रभावित विद्वानों के द्वारा अंग्रेजी में लिखे गये ग्रन्थों के ऊपर ही आश्रित रहे हैं जिससे शंकर के दर्शन के महत्त्वपूर्ण पक्षों की या तो उपेक्षा हुई है या उन्हें ठीक से समझा नहीं गया है। एक दूसरा वर्ग भी है जिन्होंने मात्र प्रस्थानत्रयी के भाष्यों को अपने अध्ययन का आधार बनाया है तथा यदि शंकराचार्य के योग सम्बन्धी ग्रन्थों व अन्य फुटकर ग्रन्थों पर भी उनकी दृष्टि गयी होगी तो भी साधना में उतरे बिना उनकी पर्याप्त समझ न हो पाने के कारण इनकी उपेक्षा कर दी गयी है। शंकर मे मूल ग्रन्थों का उचित ढंग से अध्ययन व अनुशीलन करने पर ऐसी धारणा स्वतः समाप्त हो जायेगी कि शंकर कर्म के विरोधी हैं व व्यावहारिक जीवन की उन्होंने उपेक्षा की है।

योग साधना के द्वारा की गयी चित्तशुद्धि के द्वारा अपनी अध्यात्मिक चेतना के विकास किये जाने के बिना शंकर के दर्शन को न तो पूर्णरूपेण समझा जा सकता है और न ही उनका मूल्यांकन किया जा सकता है। स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ, तथा विनोबा भावे जैसे कर्मयोद्धा शंकराचार्य के दर्शन से ऊर्जा लेते रहे हैं तो वर्तमान पीढी को भी यह ज्ञात होना चाहिए कि शंकर दर्शन व्यावहारिक जगत में उच्चतर कर्म करते हुए जीने की प्रेरणा व उच्च सामर्थ्य देता है। इसी बात को रेखांकित करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

शंकराचार्य के दर्शन में सर्वत्र कर्मकाण्ड का खण्डन व ज्ञानकाण्ड की स्थापना देखने को मिलती है। शंकर श्रुतियों व युक्तियों के द्वारा अपने विचार की

परामर्श (हिंदी) खण्ड १८,अंक २, मार्च १९९७

प्रामाणिकता निरूपित करते हैं व अपने समर्थन में गीता व श्रुतियों को बहुतायत से उद्धृत करते हैं। शंकर के अनुसार जिस प्रकार से अन्धकार के द्वारा अन्धकार का नाश नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार कर्म (अविद्या) के द्वारा अज्ञान (अविद्या) को दूर नहीं किया जा सकता है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही होती है मात्र कर्म से नहीं। शंकराचार्य पूर्वपक्षी के मतों का खण्डन करने के लिए ये पाँच प्रश्न उठाते हैं।[1]

(१) क्या परम श्रेय (मोक्ष) की प्राप्ति केवल कर्म से होती है ? (२) अथवा विद्या की अपेक्षायुक्त कर्म से ? (३) किंवा परस्पर मिले हुए विद्या व कर्म दोनों से ? (४) अथवा कर्म की अपेक्षा रखने वाली विद्या से ? (५) या केवल विद्या से ही ? इनके उत्तर में वे कहते हैं कि परम श्रेय की प्राप्ति केवल कर्म से नहीं हो सकती क्योंकि मोक्ष का नित्यत्व है और जो वस्तु कर्म का कार्य है उसकी अनित्यता लोकप्रसिद्ध है, श्रुति भी कहती है ''जिस प्रकार यह कर्मोपार्जित लोक क्षीण होता है उसी प्रकार पुण्यार्जित परलोक भी क्षीण होता है।''[2] विद्या सहित कर्मों से भी मोक्ष का आरम्भ नहीं हो सकता क्योंकि जो वस्तु आरम्भ होने वाली होती है वह अनित्य हुआ करती है किन्तु मोक्ष तो नित्य है। विद्या और कर्म का विरोध है इसलिए उनका समुच्चय होना भी असम्भव है। ऐसी दशा में विद्या और कर्म दोनों से मोक्ष होता है, यह सिद्ध नहीं होता है। कर्म की अपेक्षा रखने वाली विद्या से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती क्योंकि ''जो पुरुष अनात्मदर्शी है उसे ही अनात्मवस्तु सम्बधिनी कामना हो सकती है, कामनावाला ही कर्म करता है और उसी से उनका फल भोगता है इसके विपरीत आत्मैकत्वदर्शी की दृष्टि में विषयों का अभाव होने के कारण उसे उनकी कामना भी नहीं हो सकती है। आत्मा तो अपने से अभिन्न है, इसलिए उसकी कामना भी असम्भव होने के कारण उसे स्वात्मस्वरूप में स्थित होना रूप मोक्ष सिद्ध ही है। इसलिए भी ''ज्ञान और कर्म का विरोध होने के कारण मोक्ष के प्रति कर्म की अपेक्षा नहीं है।''[3] अतः सिद्ध हुआ कि केवल विद्या (ज्ञान) से ही परम श्रेय की प्राप्ति होती है।

कर्म और ब्रह्मविद्या के फल में वैलक्षण्य है। कर्म से प्राप्त होने वाले लोक अनित्य हैं तथा ज्ञान फल मोक्ष नित्य है। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि (मुण्डक ३.२/२/८,) आनंद. (तैत्ति ३०) [illegible] अभय(बृहदा. ३०४/२/४) इत्यादि श्रुतियाँ भी ब्रह्मज्ञान के अनन्तर मोक्ष दिखलाती हैं व ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के मध्य कार्यांतर का निषेध करती हैं। जिस प्रकार रज्जु में सर्प का भ्रम होने पर भय ग्रस्त मनुष्य

का भय दूर करने के लिए सर्पनिवृत्तिहेतु लाठी आदि की अपेक्षा नहीं है किन्तु केवल इस मिथ्या भ्रम को दूर करके रज्जु के ज्ञान की अपेक्षा उसी प्रकार ब्रह्म में जगत्‌रूपी भ्रम की निवृत्तिहेतु किसी कर्म की अपेक्षा न होकर केवल ज्ञान की अपेक्षा है। यहाँ ध्यान देने योग्य है कि इस "अतद् में तदबुद्धि" रूप अध्यास की निवृत्ति भले ही ज्ञान से होती है कर्म से नहीं किन्तु यह ज्ञान सहायक साधनों के रूप में कर्म की अपेक्षा रखता है। शंकर इस कर्म विरोधी नहीं हैं। वे कर्म के द्वारा चित्त शुद्धि व फिर शोधित किये हुए चित्त में ही ज्ञान का उदय मानते हैं जैसे दर्पण की धूल पोंछना कर्म है तथा उसमें अपना रूप देखना ज्ञान है। बिना रूप देखे केवल धूल पोंछने से ज्ञान नहीं होगा वह तो देखने से ही होगा और वह देखना तभी सम्भव होगा जब दर्पण की धूल पोंछने का कर्म किया जायेगा। इस उदाहरण में जो सम्बन्ध धूल पोंछने व दर्पण में देखने के मध्य है वही शंकर के कर्म और ज्ञान के मध्य है।

जिन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो चुकी है उनकी भी कर्म में प्रवृत्ति असम्भव है। क्योंकि कामना ही कर्म का कारण होती है, वही उसकी प्रवर्तक है। जो पूर्ण काम हैं उनकी कामनाओं का अभाव होने पर स्वरूप में स्थिति हो जाने पर कर्म में प्रवृत्ति असम्भव है। अतः कर्म ज्ञानी की ही परिधि में आते हैं अज्ञानी की नहीं। शंकराचार्य की इस बातको इस प्रकार समझना चाहिए कि जैसे दर्पण पहले से ही स्वच्छ करके अपना प्रतिबिम्ब देख चुकने के बाद देखने वाले की प्रवृत्ति पुनः दर्पण स्वच्छ करने में क्यों होगी, वह तो देख ही चुका है इस प्रकार इस दृष्टांत से भी सिद्ध है कि शंकर कर्म की उपादेयता की अवहेलना नहीं करते हैं वरना कर्म की आवश्यकता पर बल देते हैं किन्तु अपने दार्शनिक सिद्धान्त के निरूपण में जो कि उस समय की सामयिकता एवं प्रासंगिकता भी कर्म की सीमायें समझाने की कोशिश करते हैं। शंकर के तर्कों का गहराई से विश्लेषण न कर पाने के कारण इस धारणा को बल मिलता दिखाई देता है कि वे कर्म के विरोधी हैं।

कर्म सीधे ज्ञान की प्राप्ति नहीं कराते है वरन ज्ञान की प्राप्ति के हेतु होते है। शंकर ने कहा है कि "आत्म लाभ में पूर्व संचित पाप रूप प्रतिबन्ध की निवृत्ति द्वारा नित्यकर्म ज्ञान की प्राप्ति के हेतु अवश्य होते हैं"[१] तथा "ब्रह्मचर्य, तप, सत्यभाषण, शम, दम, और अहिंसा आदि अन्य कर्म भी इतर आश्रमों के लिए प्रसिद्ध ही हैं। वे तथा ध्यान धारणादि रूप कर्म भी हिंसा आदि दोषों से

असंकीर्ण होने के कारण ज्ञान की उत्पत्ति में सर्वोत्तम साधन हैं।''[५] श्रुतियों में जगह जगह कर्म पर जोर दिया गया है इसी आधार पर शंकर भी कहते हैं कि ''जन्मान्तर में किया हुआ अग्निहोत्रादि तथा ब्रह्मचर्यादिरूप कर्म ज्ञान की उत्पत्ति में सर्वोत्तम साधन है, जिससे कि कोई लोग तो जन्म से ही विरक्त देखे जाते हैं, और कोई कर्म में तत्पर, वैराग्यशून्य एवं ज्ञान के विरोधी दीख पडते हैं।''[६] कर्म फलों की अधिकता होने के कारण भी श्रुति मे उनका विशेष विस्तार है क्योंकि पुरुषों की कामनाओं की अधिकता होने से भी प्रति श्रुति का अधिक यत्न होना उचित ही है ऐसा शंकर मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि ''कर्म ज्ञानोत्पत्ति में उपायरूप है तथा प्रयत्न उपाय में ही करना चाहिए उपेय में नहीं।''[७] कर्मों के द्वारा ही पूर्वसंचित पापरूप प्रतिबन्ध का क्षय होने पर ज्ञान की उत्पत्ति होती है व उपनिषद् प्रतिपादित श्रवण, मनन व निदिध्यासन व्यर्थ नही हैं। क्योंकि ये ज्ञान के प्रतिबन्धकों का नाश करने वाले हैं। वे कहते हैं ''ज्ञान की उत्पत्ति प्रतिबन्ध के क्षय से ही होती है। ऐसा कोई नियम नहीं है कि ज्ञानोत्पत्ति ईश्वर कृपा, तप एवं ध्यानादि के अनुष्ठान से नहीं हो सकती, क्योंकि अहिंसा एवं ब्रह्मचर्यादि भी ज्ञानोत्पत्ति में उपयोगी हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन ये कार्य तो साक्षात् उसके (ज्ञानोत्पत्ति) के कारण ही हैं।''[८]

शुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप साधक में वह पात्रता आती है जिसके कारण क्रमशः वह विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति व मुमुक्षुत्व इन ''साधन चतुष्टय''[९] से युक्त होकर वेदान्त का अधिकारी होता है क्योंकि ''सिद्धि अधिकारी को ही होती है अनधिकारी को नहीं।''[१०] इस पात्रता की प्राप्ति का उपाय उत्तम व शुभकर्म ही है जिनकी ओर इंगित करते हुए शंकर ने अपने ग्रन्थ विवेक चूडामणि के प्रारम्भ में ही कहा है कि **''आत्मा और अनात्मा का विवेक, सम्यक् अनुभव, ब्रह्मात्मभाव से स्थिति और मुक्ति ये तो करोडों जन्मों में किये हुए शुभ कर्मों के परिपाक के बिना प्राप्त हो ही नहीं सकते,''**[११] इससे कर्म की महत्ता स्पष्ट ध्वनित होती है। जब वे कहते हैं कि वस्तुसिद्धि तो विचार से ही होती है करोडों कर्मों से कुछ नहीं होता, तब उनका तात्पर्य ये दिखलाना मात्र होता है कि कर्म वस्तुपलब्धि ज्ञान के साक्षात् साधन नहीं हैं बल्कि वे तो चित्त शुद्धि के लिए हैं, ज्ञान प्राप्ति में चित्तशुद्धि आवश्यक है।

शंकर ने अनेकों बार ज्ञान प्राप्ति के साधन रूप में चित्त शुद्धि हेतु शुभ कर्मों का तथा योग साधना का निर्देश दिया है। श्वेताश्वतर उपनिषद के भाष्य

(यदि इसे शंकराचार्य कृत माना जायें)[१२] में उन्होंने योग की आसन, प्राणायाम आदि विधियों को बताने के लिए ''याज्ञवल्क्य'' उद्धृत किया है जिसमें योग साधना का वर्णन (जोकि सर्वसामान्य मतानुसार हठयोग की श्रेणी में आता है) किया गया है जिसमें बताया गया है कि प्राणायाम के द्वारा नाडी शोधन करना चाहिए जिससे चित्त शोधन होता है ऐसा साधक ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी होता है व उसी में श्रवण, मनन व निदिध्यासन चरितार्थ होते हैं। अपने महान् ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में उन्होंने साधना पद्धति का वर्णन करते समय हठयोग का भी निर्देश इस प्रकार दिया है कि ''जिनकी वासनाएं क्षीण नहीं हुई हैं उन्हें यह योग हठयोग के सहित करना चाहिए।[१३] श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और योग इनको शंकर ने मुक्ति का साक्षात् साधन बताया है।[१४] ऐसे अधिकारी का गुरू की शरण में जाना तथा सेवा द्वारा उन्हें प्रसन्न करना, उत्तम शास्त्रों का पठन, पाठन, श्रवण-मनन करना, तप आदिव्रतों का पालन करना आदि कर्मो का निर्देश शंकर के दर्शन में कर्म की उपादेयता को सूचित करते हैं।

साधना में स्व प्रयत्न की प्रधानता उन्होंने बतायी है। रोग आदि के समान भवबन्ध की निवृत्ति के लिए विद्वान को अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर स्वयं ही मुक्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए।

शंकर के दर्शन का मोक्ष पलायनवाद नहीं है जैसा कि अक्सर समझ लिया जाता है यह मोक्ष तो अज्ञान जनित बन्धन से, वासनाओं से है जिनके कारण ही हम अच्छे कार्यों को करते समय भी ईमानदारी से प्रयत्न नहीं कर पाते हैं। हमारी कर्मशक्ति पग-पग पर इन बेडियों से जकडे होने की वजह से अवरुद्ध होती रहती है। इन बेडियों से मुक्ति पाकर ही हमें पूर्ण स्वतन्त्रता का अहसास हो सकता है। वासनाओं व अविद्या के बन्धनों से छूटे बिना मानव गुलाम ही है। गुलाम व्यक्ति न तो अच्छा कार्य करता है न ही बुरा व ऐसे व्यक्ति से महान कार्यों, परोपकार, दया, मानवता आदि की अपेक्षा करना अनुचित ही है। इन बन्धनों को काटे बिना कोई कैसे निस्वार्थ सेवा या कार्य कर सकता है वह यश, धन आदि ज्ञात या अज्ञात वासनाओं की प्रेरणा से ही प्रवृत्त होता है चाहे वह देश सेवा करे या समाज सेवा या सर्वोदय की साधना। समाज सुधार व धार्मिक सुधार के आन्दोलनों की असफलता का एक प्रमुख कारण सुधारणों में आत्मानुभूति का न होना भी है क्योंकि आत्मानुभूति के द्वारा ही जगत से ऐकात्म्यभाव की प्राप्ति होती है व तभी सच्ची आन्तरिक प्रेरणा व पर पीडा के प्रति सच्ची संवेदना व करुणा

का विकास होता है व महान कार्य सम्पन्न करने हेतु आन्तरिक व बाह्य स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। अज्ञान व वासनाओं के बन्धनों से मुक्त होना ही सच्ची स्वतन्त्रता है बाकी तो छलावा है। ऐसे व्यक्ति में ही महान् कार्यों को करने का सामर्थ्य होता है। खुद शंकर ही इसके उदाहरण हैं। उनका पूरा जीवन कर्म में ही बीता, बचपन की अवस्था में सम्पूर्ण भारत चार बार भ्रमण उन्होंने पैदल चलकर ही किया था। कैसी महान थी उनकी कर्मशक्ति। कर्म का भव्य रूप तो शंकराचार्य में और भी दिखाई देता है कि अल्प समय में ही उन्होंने महान उपलब्धियाँ अर्जित की। कहा जाता है कि बारह वर्ष की आयु के पहले ही उन्होंने प्रस्थानत्रयी में भाष्यों सहित सम्पूर्ण लेखन कार्य पूरा कर लिया था।

वैचारिक पठन के गर्त में जा रहे सम्पूर्ण भारत में वेदान्त का डंका पीटकर विकृत कर्मकाण्ड, कुरीतियों व अन्धविश्वासों का खण्डन करके अद्वैतवाद का महान् क्रान्त दर्शन विकसित व परिमार्जित रूप में प्रस्तुत कर भारतीय संस्कृति की रक्षा करने वाले व भारत को नई संजीवनी देनेवाले शंकराचार्य को कर्म विरोधी कहना उनके साथ अन्याय करना होगा।

इस प्रकार ये स्पष्ट होता है कि शंकराचार्य का दर्शन कर्म के उच्च व दिव्य रूप में साधक को प्रवृत्त करता है तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासन से युक्त महान् साधना पद्धति प्रस्तुत करता है जिसके अभ्यास द्वारा ब्रह्म -आत्मा की अपरोक्षानुभूति तथा गीता एवं गाधी के निष्काम कर्मयोगी को सच्ची सामर्थ्य प्राप्त की जाती है जिनसे ही महान कार्यों का निष्पादन होता है।

कॉम्पन ग्रीव्ज लि.
११ बी, सेक्टर १
पोथमपुर, जि. धार
मध्यप्रदेश ४५४७७५

राजदीप सिंह

टिप्पणियाँ

१. तैत्तिरीय उपनिषद शांकरभास्य वल्ली। अनुवाक॥
२. तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते। छान्दोग्य उपनिषद ८/१/६
३. तैत्तिरीय उपनिषद शांकरभाष्य वल्ली। अनुवाक॥
४. आत्मलाभे तु पूर्वोपचित प्रतिबन्धापनय द्वारेण विद्याहेतुत्वं

प्रतिपद्यन्ते कर्मणि नित्यानीति । वही

५. ब्रह्मचर्य तपः सत्यवदनं शमो दमोऽहिंसेत्येवमादीन्यापि कर्माणीतरा श्रम प्रसिद्धानि विद्यौत्पत्तौ साधक तमान्य संकोर्णत्वाद्धिद्यन्ते ध्यान धारणादि लक्षणानि च । वही

६. यतो जन्मान्तरकृतमप्यग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म ब्रह्मचर्यादि लक्षणं चानुग्राहकं भवति विद्योत्पत्तिं प्रति । येन जन्मनैव विरक्ता दृश्यन्ते केचित् । केचित्तु कर्मशु प्रवृत्ता अविरक्ता विद्याविद्वेषिणः । वही

७. उपाय भूतानि हि कर्माणि विद्यां प्रतीत्यवो चाम । उपाये ऽधिको यत्नः कर्त्तव्यो नोपेये । वही

८. प्रतिबन्ध क्षयादेव विद्योत्पद्यते न त्वमीश्वर प्रसाद तपोध्यानाद्यनुष्ठानादिति नियमोऽस्ति । अहिंसा ब्रह्मचर्यादिनां चाविद्यां प्रत्युपकारत्वात्साक्षादेव च कारणत्वाच्छ्रवणमनन निदिध्यासनानाम् । वही

९. विवेक चूडामणि १९

१०. अधिकारिणमाशास्ते फलसिद्धिविशेषतः उपाया देशकालाद्या सन्त्यस्मिन्सहकारिण : । विवेक चूडामणि १४

११. आत्मानात्म विवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मत्मना संस्थिति मुक्तिर्नो शतकोटि जन्मसु कृतै : पुण्यैर्बिना लभ्यते । विवेक चूडामणि श्लोक २

१२. विद्वानों में इस बात पर मतभेद है कि यह शंकराचार्य द्वारा किया हुआ है या नहीं

१३. किंचित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः । अपरोक्षानुभूति १४३

१४. श्रद्धाभक्ति ध्यान योगान्मुमुक्षोर्मुक्तेहेतुन्वक्ति साक्षाच्छ्रुतेर्गी । यो वा एतष्वेव तिष्ठत्यमुष्य मोक्षोऽविद्या कल्पितादेह बन्धनात् ॥ ४८ ॥ विवेक चूडामणि ।

रामानुज के दर्शन में "ज्ञान" का स्वरूप

(सविषयक और सविशेषत्व के सन्दर्भ में)

रामानुज के दर्शन में ज्ञान का सिद्धान्त उनके विशिष्टाद्वैतवादी सिद्धान्त एवम् सगुण सत्ता की धारणा पर आधारित है। यही नहीं यह उनके दर्शन में सत्ता के स्वरूप को भी अधिक स्पष्ट करता है। यतीन्द्रमतदीपिका १ में स्पष्ट किया गया है कि धर्मभूत ज्ञान का सिद्धान्त सृष्टि या विश्व चैतन्य, आत्म चैतन्य एवम् ब्रह्म चैतन्य -इन तीनों को अर्थ देता है।

ज्ञान पराक् अजड़ द्रव्य है जो स्वयं प्रकाश (एवं अर्थ प्रकाशक) है किन्तु उसमें अपने स्वरूप की चेतना का अभाव है। यह एक ऐसा द्रव्य है जो कि स्वयं को तथा स्वयं के सम्पर्क में आने वाली अन्य सभी वस्तुओं को दूसरों (आत्मा) के लिए प्रकाशित करता है। स्वयंप्रकाश तथा अर्थ प्रकाशक होने एवम् आत्म चेतना का अभाव होने से ज्ञान को चेतन और जड़ के बीच का कहा गया है। यह पराक् अजड़ द्रव्य, ज्ञान, चेतन व स्वयं प्रकाश आत्मा (प्रत्यगात्मन्) एवम् ईश्वर का अनिवार्य गुण है और साथ ही साथ यह आत्मा का स्वरूप भी है। आत्मा द्रव्यात्मक चेतना है जो चेतना को गुण के रूप में भी रखता है। ये दोनों तार्किक दृष्टि से भिन्न हैं तथा अपृथक हैं।

आत्मा व ईश्वर के गुण के रूप में ज्ञान को धर्मभूत ज्ञान कहा गया है। आत्मा ही धर्मभूत ज्ञान का आधार है जिससे पृथक इसकी सिद्धी नहीं हो सकती है। आत्मा और उसके धर्मभूत ज्ञान के मध्य उसी प्रकार का सम्बन्ध है जैसा कि दीपक और उसके प्रकाश के बीच है। जिस प्रकार दीपक से उसके प्रकाश की भिन्नता देखी जाती है परन्तु एक को दुसरे से अलग नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान (धर्मभूत ज्ञान) आत्मा से भिन्न है पृथक नहीं। प्रकाश के समान ज्ञान भी स्वयं को, आश्रय रूप आत्मा को तथा अन्य पदार्थों को प्रकाशित करता है

"स्वसत्तयैव स्वाश्रयं प्रति कस्थचिद्विषयस्य प्रकाशनं हि संवेदनम्। ....यत्त्वनुभूते स्वयंप्रकाशत्वमुक्तम् तद्विषयप्रकाशनवेलायां ज्ञातुरात्मनस्तथैव, न तु सर्वेषां तथैवेति नियमोऽस्ति।" [२]

रामानुज के अनुसार ज्ञान आत्मा और ईश्वर का गुण ही नहीं है परन्तु उनका स्वरूप भी है जिसे उन्होंने धर्मीभूत ज्ञान या सारभूत ज्ञान कहा है -

"विज्ञानगुणसारत्वात् आत्मनो विज्ञानमितिव्यपदेश :, विज्ञानमेवास्य सारभूतो गुण :।" [३]

सारभूत ज्ञान की तुलना भी दीपक की ज्वाला से की गई है और यह कि धर्मभूत ज्ञान का इससे वही सम्बन्ध है जो कि ज्वाला से किरणों का होता है उससे यह उसी प्रकार निकलता है जिस प्रकार ज्वाला से किरणें निकलती हैं। रामानुज आत्मा और ज्ञान के सम्बन्ध को स्पष्ट करने के लिए सूर्य की उपमा का सहारा भी लेते हैं। सूर्य स्वयं प्रकाश रूप है किन्तु प्रकाश उसका गुण भी है जिससे वह अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता है। वह स्वयं अपने आपको प्रकाशित करता है किन्तु उसी प्रकाश से जब अन्य वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं तो वह पराक् है जो कि अन्य के लिए है। आत्मा की सत्ता प्रत्यक् होते हुए भी धर्मभूत ज्ञान की दृष्टि से वह पराक् है। इस प्रकार आत्मा ज्ञान स्वरूप भी है तथा ज्ञान का आश्रय भी है।

ज्ञान के सन्दर्भ में यह प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि ज्ञान सदैव सविशेष अथवा विषय का ही होता है अथवा ज्ञान की ऐसी अवस्था भी सम्भव है जिसमें विषय के लिए कोई स्थान नहीं होता है। ज्ञान के विशेषत्व और विषयत्व का मुख्य विवाद अद्वैत वेदान्तियों तथा विशिष्ट द्वैतवादियों के मध्य रहा है और इसका कारण उनकी निर्गुण ब्रह्म और सगुण ब्रह्म सम्बन्धी परस्पर विरोधी तत्त्वमीमांसा है। शांकर मत के विरुद्ध रामानुज ने समस्त प्रकार के ज्ञान को अनिवार्य रूप से सविषयक और सविशेष माना। उनके अनुसार प्रत्येक ज्ञान का कोई न कोई विषय होता है जिसकी सत्ता को वह प्रकाशित करता है -

"न च निर्विषया काचित्संविदस्ति - अनुपलब्धे :" [४]

विषय न केवल सत् है वरन् उसका स्वरूप भी वैसा ही है जैसा कि ज्ञान में प्रकट होता है। ज्ञान का सार उसके अपने विषय को प्रकाशित करने के साधनात्मक रूप में निहित है -

"स्वसत्तयैव स्वविषयसाधनत्वं वा " [५]

श्री भाष्य में अनेक स्थलों पर रामानुज के सविषयक ज्ञान से सम्बन्धित विचार स्पष्ट होते हैं।

अद्वैतवेदान्तियों ने ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व के लिए भी उसके निर्विषयत्व को अनिवार्य माना है। उनके अनुसार ज्ञान न तो "विषय रखता है" और न ही "विषय बनता है" यह स्वयंप्रकाश व स्वतन्त्र है जिसकी अपरोक्ष अनुभूति

होती है। जानने के लिए विषय की अपेक्षा रखने पर ज्ञान का अस्तित्व विषय पर निर्भर व परतन्त्र हो जाता है जबकि वास्तव में ''ज्ञान'' और ''अस्तित्व'' पर्यायवाची हैं क्योंकि यदि ये दोनों अलग होते तो सत् ज्ञान से स्वतन्त्र अस्तित्व रखता एवं स्वतन्त्र रूप में ही ज्ञात होता। किन्तु वास्तव में किसी वस्तु को ज्ञान स्वतन्त्र रूप से जानना अपने आप में विरोधाभास है। अद्वैतवेदान्तियों के इस मत के विरुद्ध रामानुज ने ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व को अर्थप्रकाशत्व के साथ ग्रहण किया है। रामानुज के अनुसार ज्ञान के स्वयंप्रकाशत्व में उसका सविषयत्व ही प्रकट होता है -

''विषयप्रकाशनतयैवोपलब्धेरेवहि संविदस्स्वयम्प्रकाशता समर्थिता।

संविदो विषयप्रकाश (न) तास्वभावविरहेसति स्वयम्प्रकाशत्वसिद्धेरनुभूतेनु भवान्तराननुभाव्यत्वाच्च संविदस्युच्छतैव स्यात्''। [६]

ज्ञान के स्वयंप्रकाश होने का तात्पर्य है कि ज्ञान ''बिना किसी अन्य की सहायता'' से स्वयं को प्रकाशित करने के साथ विषय को भी प्रकाशित करता है।

रामानुज के दर्शन में ज्ञान का सविषयत्व मुख्य रूप से ज्ञान के सविषयत्व और भेद पर आधारित है। ये भेद हैं -

१. ज्ञाता आत्मा और ज्ञान के मध्य भेद
२. ज्ञाता आत्मा और ज्ञेय विषय का भेद
३. ज्ञान और ज्ञेय का भेद
४. एक ज्ञान से दूसरे ज्ञान का भेद, एवम्
५. एक ज्ञेय से दूसरे ज्ञेय का भेद

इन भेदों की स्वीकारोक्ति ही ज्ञान के सविषयत्व को आधार प्रदान करती है और ये भेद हमारे साधारण अनुभव के विषय हैं। यदि ज्ञाता का ज्ञान व ज्ञेय से भेद नहीं होता तो विषय का ज्ञान असम्भव होता। इन भेदों की अस्वीकारोक्ति वास्तव में ज्ञान की अस्वीकारोक्ति है क्योंकि यदि समस्त नामरूपात्मक जगत व उसके विषयों को अविद्या की सृष्टि मान कर केवल ज्ञान को सत् प्रमाणित किया जाता है तो यह भी एक प्रकार का निर्धारण है और प्रत्येक निर्धारण सत्ता के भेद या गुणों को प्रमाणित करता किन्तु यदि निर्धारण से बचने के लिए ज्ञान को प्रमाणित हुआ नहीं माना जाए तो ज्ञान आकाश - कुसुम की भाँति ही असत् होगा। पुनः यदि ज्ञान को [illegible] प्रमाण मान कर जाए तो यह प्रश्न उठता है कि यह

प्रमाण किसका है क्योंकि यदि ज्ञान किसी विषय का नहीं होता तो यह प्रमाण भी न होता - अपिच संवित्सिध्यति वा नवा। सिध्यतिचेत् स्यात्। न चेत्तुच्छता गगनकुसुमादिवत्। सिद्धिरेव संविदितिचेत् कस्य कं प्रतीतिवक्तव्यं यदि न कस्यचित् कंचित्प्रति सा तर्हि न सिद्धि:। सिद्धिर्हि पुत्रत्वमिव कस्यचित्कंचिप्रति भवति।''[७]

दूसरे शब्दों में, एक विषय अपने कुछ निर्धारित गुणों के कारण दूसरे विषय से भिन्न होता है और इस भेद के कारण इन विषयों के ज्ञान में भी भेद होता है क्योंकि ज्ञान का आकार और उसकी प्रकृति उसके विषय के आकार और प्रकृति द्वारा निर्धारित होती है। अतः प्रत्यक्ष अनुभव सहित हमारा प्रत्येक अनुभव इस आकार का होता है कि ''मैंने यह देखा है''।[८]

प्रत्यक्ष सदैव गुणयुक्त पदार्थों का ही होता है। अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित है इसीलिए प्रत्यक्ष में विशेषगुणों का ज्ञान होना आवश्यक है। शब्द प्रमाण (शुद्ध या शास्त्र) शब्दों का व्यवस्थित क्रम है और प्रत्येक शब्द पूर्ण है जिसमें प्रत्यय और उपसर्ग है, इसीलिए शास्त्र ऐसी वस्तु का अर्थ प्रकट नहीं कर सकते हैं जो कि निर्विशेष हो। रामानुज के मतानुसार सविकल्पक प्रत्यक्ष के समान निर्विकल्पक प्रत्यक्ष भी '' यह इस प्रकार का है, के आकार का होता है जो कि विषय में उसके विधेय को लागू करता है। यद्यपि इस अवस्था में ''विषय'' का ही ज्ञान होता है जाति या सामान्य का नहीं। इस प्रकार ''विषयसहित शुद्ध ज्ञान'' ही यथार्थता को किसी भी प्रमाण द्वारा स्थापित नहीं किया जा सकता है।

रामानुज ज्ञान-प्रक्रिया के विश्लेषण के द्वारा भी अपने मत को सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि ज्ञान प्रक्रिया में विषय का ''अनेकत्व'' और ''परिवर्तनशीलता'' भी उसके सविषयत्व को सिद्ध करती है। अद्वैत वेदान्ती ''अनुवर्तमानत्व'' (निरन्तर स्थिति) को सत् की कसौटी मानकर ज्ञान के विषय का खण्डन करते हैं। रामानुज ने इस युक्ति का खण्डन किया है कि अद्वैत वेदान्ती ''अनुवर्तमानत्व'' तथा '' अननुवर्तमानत्व'' और बाधक बाध्य में वास्तविक भेद कर पाने में असमर्थ रहे हैं। रामानुज के अनुसार बाधक और बाध्य का सम्बन्ध केवल ऐसे दो पारस्परिक विरोधी ज्ञानों के बीच हो सकता है जहाँ एक की सत्यता दूसरे के मिथ्यात्व को आपादित करती है। बाधित की अनित्यता केवल इन्हीं परिस्थितियों में प्रासंगिक है जबकि हम देखते हैं कि घट पट आदि भिन्न - भिन्न विषय जो कि अपनी- अपनी देशीय स्थिति और कालिक स्थिति के कारण

एक दूसरे से अलग अवश्य हैं किन्तु परस्पर विरोधी नहीं। अतः इनमें बाधक बाध्य का सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। परन्तु दूसरी और जहाँ पर जो वस्तु है वही पर व उसी देश काल में उसका अनस्तित्व भी देखा जाए तो यह परस्पर विरोधी है और ऐसी स्थिति में ही अधिक सुदृढ ज्ञान अपने से निर्बल ज्ञान को खण्डित करता है जिससें वह मिथ्या सिद्ध हो जाता है तथा रज्जु और सर्प के भ्रम में। किन्तु एक वस्तु जो कि एक देशकाल में देखी ज्ञाती है एवम् अन्य देश-काल में उसका अनस्तित्व देखा जाए तो इसमें कोई विरोध नहीं है अतः यहाँ पर परस्पर बाध्य -बाधक को प्रश्न नहीं उठता है वस्तुतः रामानुज का तात्पर्य यही है कि अनस्तित्व असत् या अयथार्थ का कारण नहीं हो सकता है

''यत्पुनर्घटादीनां विशेषाणां व्यावर्तमानत्वेना पारमार्थ्यमुक्तम् तदनालोचित बाध्यबाधक भावव्यावृत्यनुवृति विशेषस्य भ्रान्ति परिकल्पितम्। द्दश्यतेत्वग्रययाबुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः द्वयोर्ज्ज्ञानयोविरोधेहि बाध्य बाधक भाव :। बाधितस्यैव व्यावृत्ति.....।[९]

रामानुज के अनुसार जागृत, स्वप्न, मूर्च्छा अवस्था के अतिरिक्त सुषुप्ति में भी व्यक्ति का अनुभव विषय-सहित ही होता है, क्योंकि जागने के पश्चात वह अनुभव करता है कि ''मै सुखपूर्वक सोया''। इससे यह सिद्ध होता है कि सुषुप्ति में भी ''अहमर्थतत्त्व'' ज्ञाता के रूप में रहता है तथा ''सुख'' इस अनुभव का विषय होता है।[१०] यह तथ्य शांकर मत के इस सिद्धान्त से भी अनुमित हो जाता है कि निद्रा में आत्मा ''अज्ञान'' का साक्षी रहता है क्योंकि कोई भी ज्ञाता हुए बिना साक्षीरूप में ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है। दूसरे शब्दों में, ''जो कुछ नहीं जानता'' वह साक्षी नहीं कहला सकता है। रामानुज के अनुसार श्रुति में भी जीव (ज्ञाता) को सांक्षी कहा गया है।''[११]

इस प्रकार ज्ञाता और ज्ञान प्रक्रिया अनिवार्य रूप से विषय से सम्बन्धित है। यह कहना कि ''मैं चेतन था'' या ''किसी का अनुभव नहीं हुआ'', जैसा कि अद्वैत वेदान्ती मानते हैं, इन दोनों से ही आत्मचेतना की अभिव्यक्ति होती है। इसके अतिरिक्त मुक्ति की अवस्था और उसके पश्चात् का अनुभव भी विषय के साथ होता है क्योंकि मुक्ति के पश्चात भी ''अहमर्थ'' तत्त्व शेष रहता है। इस अवस्था में ज्ञानी जीवात्मा का धर्मभूत ज्ञान पूर्ण तथा विस्तृत हो जाता है जिससे वह विषयों को उनके समग्र रूप में प्रकाशित करता है। वस्तुतः मुक्ति जीव के वास्तविक स्वरूप का अबाधित प्रकाशन या साक्षात्कार है जिसमें आनन्द की

प्राप्ति होती है। यहाँ "आनन्द" ही ज्ञाता आत्मा के ज्ञान का विषय होता है।[१२]

विषय को ज्ञान से स्वतन्त्र सत्ता एवं प्रत्येक ज्ञान को सविषयक मानकर रामानुज ने ज्ञान और विषय की तद्रूपता का भी खण्डन किया क्योंकि ऐसी अवस्था में कोई भी ज्ञान सम्भव नहीं होता। परन्तु इन दोनों को पूर्णतया पृथक् और विरोधी भी नहीं माना क्योंकि ऐसी अवस्था में ज्ञान (धर्मभूत ज्ञान) विषय तक पहुँचने में असमर्थ होता और तब भी कोई ज्ञान सम्भव नहीं होता। अतः उन्होंने ज्ञान और विषय, इन दोनों को एक ही परम तत्त्व या सगुण ब्रह्म के गुण माना। विषय सगुण ब्रह्म के अचित् तत्त्व का विकार है जबकि ज्ञान ब्रह्म और उसके चित्त तत्त्व (आत्मा) का गुण है। यह एक ऐसा गुण है जो न तो जड है और न ही चेतन है। ज्ञान पराक् (जिसकी सत्ता दूसरों के लिए हो) अजड (स्वयंप्रकाश) द्रव्य [१३] है। अतः वह अजड जीव के साथ उसके गुण के रूप में जुड सकता है। दूसरी ओर आत्म चेतना से रहित होने पर वह विषय से भी सादृश्यता रखता है अतः विषय से जुडने में भी कोई विरोध नहीं है। इस प्रकार रामानुज के दर्शन में ज्ञान की ज्ञेय व ज्ञाता से सम्बद्धता की व्याख्या अपेक्षाकृत सरल हो जाती है।

इसी के सन्दर्भ में एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि क्या धर्मभूत ज्ञान की भाँति स्वरूपभूत ज्ञान, जिससे ब्रह्म तथा आत्मा का स्वरूप निर्धारित होता है, भी सविषयक तथा सविशेष ही होता है? इस प्रश्न के उत्तर में एक कठिनाई यह भी है कि रामानुज ने सारभूत ज्ञान के सन्दर्भ में इस तथ्य को स्पष्ट नहीं किया है। इसीलिए रामानुज के मत पर यह आक्षेप किया जाता रहा है कि उन्होंने ज्ञान को गुण और स्वरूप दोनो मानकर एक विरोधाभास को जन्म दिया है और यह विरोधाभास तभी समाप्त किया जा सकता है जबकि धर्मभूत ज्ञान को आत्माका गुण तथा सारभूत ज्ञान को "विषयरहित शुद्ध चैतन्य स्वरूपता" के अर्थ में स्वीकार किया जाए। परन्तु इस प्रकार की व्याख्या विशिष्टाद्वैतवादी दर्शन को ही ध्वस्त कर देती है। अतः विशिष्टाद्वैत की रक्षा लिए सारभूत ज्ञान को सविशेष-सविषयक मानना आवश्यक है। रामानुज ने जिस प्रकार से शांकर मत के निर्विशेषत्व व निर्विषयत्व का खण्डन किया है, उससे यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने सारभूत ज्ञान को भी सविशेष व सविषयक ही माना है। रामानुज के अनुसार शास्त्रों में जहाँ कहीं भी ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप कहा गया है तो उससे यह अर्थ नहीं निकलता है कि वह ज्ञान स्वरूपतः निर्गुण और निर्विशेष है क्योंकि

ज्ञाता भी ज्ञान स्वरूप है और ज्ञान-स्वरूप होने के कारण वह ज्ञानवान् भी कहा जा सकता है जिस प्रकार कि दीप, जो प्रकाश स्वरूप है, वह प्रकाश रश्मिवान् भी कहा जा सकता है। इस सम्बन्ध में डा. इन्दुभूषण पाण्डे [१४] का भी मानना है कि सारभूत ज्ञान, निर्विशेष नहीं हो सकता है क्योंकि रामानुज की मान्यता है कि ज्ञान कभी भी निराश्रय नहीं होता है वह अपने आश्रय से उसके गुण के रूप में संयुक्त होता है अतः कोई भी सत्ता जो ज्ञानमय है, निर्विशेष नहीं है।

ज्ञान स्वरूप आत्मा ऐसा अजड अहमर्थ तत्त्व है जो अपनी सत्ता मात्र से अपने प्रति प्रकाश रूप सिद्ध होता है। ज्ञाता आत्मा प्रकाशक है प्रकाश्य नहीं। यह प्रकाश ही उसका स्वरूप या सारभूत ज्ञान है जिसे ब्रह्म व आत्मा का स्वरूप निरूपक धर्म [१५] भी कहा गया है।

यहाँ एक कठिनाई यह भी हो सकती है कि स्वयंप्रकाश ज्ञाता आत्मा के प्रकाश (स्वरूपभूत ज्ञान) का विषय क्या हो सकता है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि आत्मा ही इस ज्ञान का विषय है जिसे आत्म-चेतना या स्वयं-बोध के रूप में जाना जा सकता है।

दूसरे शब्दों में, धर्मभूत ज्ञान का विषय समस्त अचित् पदार्थ है जिससे आत्मा को विषयोंके सम्बन्ध में कर्तृत्व-भोक्तृत्व की उपलब्धि होती है जबकि सारभूत ज्ञान का विषय स्वयं आत्मा ही है। इस प्रकार दोनों ही सविशेष हैं। सारभूत ज्ञान संकोच-विकास की क्रिया से रहित नित्यनिर्विकार आत्मा का स्वयं का ज्ञान है अतः सविषयक होते हुए भी इससे नित्य आत्मा का अपरिणामी स्वरूप विकृत नहीं होता है।

निष्कर्ष रूप में, रामानुज मानते हैं कि ज्ञान का ज्ञान या तो किसी विषय के साथ होता है अथवा बिलकुल नहीं होता है। सुषुप्ति में में जीव आत्म चेतन बना राहता है। स्वप्नावस्था में जीव जिन विषयों का अनुभव करता है वे वास्तव में ईश्वर द्वारा उसके भोग-फलार्थ क्षणिक अवधि के लिए सृष्ट किए जाते हैं। इस अवस्था में ज्ञान का भी ज्ञान रहता है। यद्यापि वह जाग्रत अवस्था के ज्ञान के रामान स्पष्ट नहीं होता है। मोक्षावस्था में ज्ञान का विषय ईश्वर का दिव्य वैभव होता है ज़िसमें ईश्वर के गुणों के साथ-साथ सत् का भी निर्दोष ज्ञान होता है।

१६-बी ओल्ड गोलीबार मैदान, **डॉ. श्रीमती अन्नेकँवर**
पुना -४०

टिप्पणियाँ

१. यतीन्द्रमत दीपिका, अध्याय सात
२. श्रीभाष्य, १, १, १
३. वही, २, ३, २९
४. वही, १, १, १
५. वही, १, १, १
६. वही, १, १, १
७. वही, १, १, १
८. वही, १, १, १
९. वही, १, १, १
१०. वही, १, १, १
११. वही, १, १, १
१२. वही, १, १, १
१३. रामानुज ने ज्ञान को गुण के साथ-साथ द्रव्य भी माना है।
१४. भारतीय दर्शन, संपादक नन्द किशोर देवराज, पृष्ठ ५५७
१५. विशिष्टाँद्वैत परम्परा में श्री. बल, वीर्य, तेज, ज्ञान, ऐश्वर्य, सर्वसंकल्पत्व एवम् "अपहतपाप्मत्वं" परम सत्ता के स्वरूप निरूपक धर्म या "गुणाष्टक" कहे जाते हैं। इस गुणाष्टक में ज्ञान का तात्पर्य सारभूत ज्ञान से ही होना चाहिए।

क्षणभंगवाद और ज्ञान की समस्या

क्षणभंगवाद बौद्धों का धुरी सिद्धात है जिस पर उनके ज्ञान सम्बन्ध एवं अनात्मवाद आदि अन्य सिद्धान्त आधारित हैं। प्रस्तुत निबन्ध में प्रमुखतः सौत्रान्तिक एवं बौद्ध तार्किकों के ज्ञान सम्बन्धी सिद्धान्त पर विचार किया गया है।[१]

बौद्ध क्षणिकता को सत् की अनिवार्य अवस्था बतलाते हैं -यत् सत् तत् क्षणिकम् .. क्षण वस्तु की कालरहित (durationless) इकाई है। प्रत्येक वस्तु -बाह्यार्थ अथवा विज्ञान, विषय अथवा विषयी दोनों ही क्षण मात्र हैं। प्रत्येक परवर्तीक्षण अपने पूर्ववती क्षण से नितान्त भिन्न तथा असंबद्ध है ''यह घट है'' इस घट ज्ञान में जिस ''घट-क्षण'' का ज्ञान होता है तथा जिस ''विज्ञान-क्षण'' का ज्ञान होता है, दोनों ही तत्क्षण नष्ट हो चुके होते हैं अतः यह प्रश्न उठने स्वाभाविक ही है कि ज्ञान ''किसका'' होता है ? तथा किसे होता है ? इन प्रश्नों पर विस्तार से विचार करने से पूर्व बौद्धों के अनुसार ज्ञान का स्वरूप जानना अपेक्षित है।

बौद्ध तार्किक दिङ्नाग के अनुसार ज्ञान स्वयं-प्रकाश है।[२] डॉ. नगीन जे. शाह के अनुसार सर्वप्रथम दिङनाग ने ही ज्ञान को स्वप्रकाशक बतलाया है।[३] वे विषयाकार ज्ञान को प्रभा कहते हैं। धर्मकीर्ति कुछ विस्तार से प्रभा को परिभाषित करते हैं। उनके अनुसार ''यथार्थ ज्ञान अविसंवादी तथा प्रयोजन का साधक है।[४] ज्ञान वस्तु को उत्पन्न नहीं करता अपितु उसकी ओर इंगित करता है। जिस विशेष प्रयोजन के लिए व्यक्ति वस्तु विशेष की ओर उन्मुख होता है और ज्ञान जब उस वस्तु विशेष को प्रकाशित कर देता है तो वह ज्ञान प्रयोजन में सफल अथवा अर्थ क्रिया समर्थ माना जाता है किन्तु जब कोई ज्ञान दूध की अपेक्षा रखने वाले व्यक्ति को छाछ की ओर अग्रसर करता है तो पुरुषार्थ-सिद्धि न कराने वाला वह ज्ञान प्रभा नहीं कहलाता है। यहाँ बौद्धों से यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्षणभंगवाद को मानते हुए ज्ञान व क्रिया में सामंजस्य कैसे बैठ सकता है ? ज्ञान जिस वस्तु की ओर इंगित करता है क्रिया उस वस्तु को ग्रहण नहीं कर पाती। दूसरे शब्दों में ज्ञान का क्षण पूर्ववर्ती है तथा क्रिया का क्षण उत्तरवर्ती है। जिस वस्तु का ज्ञान होता वह क्रिया के क्षण में नष्ट हो चुकी होती है। ऐसी अवस्था में प्रयोजन साफल्य की बात करना युक्तियुक्त नहीं माना जा

सकता। धर्मोत्तर इस समस्या के समाधानार्थ व्याख्या प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि जब हम व्यावहारिक दृष्टि से ज्ञान अथवा वस्तु की चर्चा करते हैं तब क्षण अपेक्षा (moment-continuum) से न करके सन्तान अपेक्षा -(object-continuum) की अपेक्षा से करते हैं।[५] बौद्धों का विचार है कि यद्यपि क्षणों में परस्पर भिन्नता होती है तथापि उनमें एक प्रकार का तारतम्य (co-ordination) अथवा निर्बाध नैरन्तर्य (gapless contiuity) रहता है।[६] इसी निर्बाध नैरन्तर्य के कारण परस्पर भिन्न क्षणों में एकात्मकता (uniformity) का आभास होता है। क्षणों की इसी आभासित एकात्मकता को बौद्ध श्रृंखला या सन्तान कहते हैं। वस्तु का अर्थ है क्षणों की निर्बाध श्रृंखला या सन्तान धर्मोत्तर का कथन है कि जब किसी वस्तु यथा ''घट'' के ज्ञान की बात करते हैं तो वह एक क्षण के सन्दर्भ में न होकर क्षणों की निर्बाध सन्तान की अपेक्षा से होती है। घट-ज्ञान जन्य क्रिया भी क्षण-अपेक्षा से न होकर सन्तान अपेक्षा से ही होती है। सन्तान -अपेक्षा से ज्ञान व क्रिया सामंजस्य में कोई बाधा उपस्थित नहीं होती है।

परन्तु बात इतनी आसान नहीं है, सन्तान की बात करने पर कुछ नए प्रश्न उठ खडे होते हैं। किसी श्रृंखला या सन्तान यथा घट सन्तान में क्या मात्र कालिक नैरन्तर्य (temporal contiguity) ही है अथवा गुणात्मक नैरन्तर्य (qualitative contiguity) भी है ? बौद्ध यदि प्रथम विकल्प ही स्वीकार करते हैं अर्थात वे किसी सन्तान में मात्र निर्बाध कालिक नैरन्तर्य (gapless temporal contiguity)में ही विश्वास करते हैं तो वे एक सन्तान विशेष के ज्ञान को दूसरी सन्तान विशेष के ज्ञान से कैसे भिन्न करेंगे ? घट-सन्तान के ज्ञान व पट सन्तान के ज्ञान में परस्पर पर किस आधार पर भेद करना सम्भव होगा ? कालिक नैरन्तर्य दोनो सन्तानों में समान होने कारण यह भेदक नहीं हो सकता। समस्या के समाधान के लिए दूसरा विकल्प स्वीकार किया जा सकता है अर्थात् यह स्वीकार किया जा सकता है कि घट सन्तान में एक प्रकार का गुणात्मक नैरन्तर्य है। तथा पट सन्तान में दूसरे प्रकार का गुणात्मक नैरन्तर्य है जिसके आधार पर दोनों सन्तानों में भेद किया जा सकता है। इसी प्रकार अन्यान्य सन्तानों में भी भेद करना सम्भव होता है किन्तु यह विकल्प स्वीकार करने पर बौद्धों का क्षणभंगवाद दुष्प्रभावित होता है। सन्तान में गुणात्मक नैरन्तर्य स्वीकार कर लेने पर क्षणों की पारस्परिक भिन्नता और असम्बद्धता के विचार को त्यागना

पडेगा। गुणात्मक नैरन्तर्य तभी सम्भव है जब एक सन्तान के क्षणो में किसी न किसी प्रकार की सादृश्यता को स्वीकार किया जाए किन्तु सादृश्यता मानने पर पूर्व क्षण में तथा उत्तरवर्ती क्षण में नितान्त भिन्नता तथा असम्बद्धता नहीं रह सकती। सादृश्यता का कम से कम इतना अर्थ तो लगाना ही पडेगा कि किसी सन्तान के विभिन्न क्षणों में 'कुछ ऐसा' अवश्य रहता है जो अन्त तक एक सा बना रहता है अर्थात वह ''कुछ'' परिवर्तित नहीं होता। क्षणभंगवादी बौद्ध इस विकल्प को स्वीकार नहीं कर सकते। यों भी बौद्ध क्षणों में निर्बाध कालिक नैरन्तर्य (gapless temporal contiguity) ही स्वीकार करते हैं उनके अनुसार यह निर्बाध कालिक नैरन्तर्य ही गुणात्मक नैरन्तर्य(qualitative contiguity) का आभास देता है। कालिक नैरन्तर्य वास्तविक है। गुणात्मक नैरन्तर्य व्यावहारिक है। यही नहीं सन्तान, वस्तु, एकात्मकता, सम्बद्धता ये सब व्यावहारिक हैं मात्र ''क्षण यथार्थ है, ''क्षण'' स्वलक्षण स्वभाव का है, अर्थात् यह अद्वितीय (unique) है। प्रत्येक उत्तरवर्ती क्षण पूर्ववर्ती क्षण से अनिवार्यतः भिन्न है।

क्षणों की पारस्परिक भिन्नता धर्मकीर्ति द्वारा प्रभा को नवीन अर्थात् अनधिगत बतलाने से भी स्पष्ट हो जाती है। धर्मकीर्ति अविसंवादी, अर्थ क्रियावान (पुरुषार्थ सिद्धि प्रयोजन) के साथ -साथ अनधिगत लक्षण वाले ज्ञान को प्रभा कहते हैं। ज्ञान की नवीनता या अनधिगतता स्वलक्षण की अपेक्षा से ही हो सकती है, सामान्य-लक्षण अपेक्षा से नहीं। स्वलक्षण ही सही अर्थों में क्षणिक एवं अद्वितीय होने के कारण ज्ञान के क्षण में पूर्व अग्रहीत अर्थात अनधिगत कहा जा सकता है।[७] बौद्ध परमार्थ और व्यवहार में भेद करते हैं। स्वलक्षण ही परमार्थ सत् है। स्वलक्षण ही क्षणिक, अद्वितीय और असम्बद्ध है। असम्बन्धों का जगत व्यावहारिक सत् है। यहाँ क्षण सन्तान के रूप में भासित होते हुए अपेक्षाकृत स्थायी वस्तु के रूपमें प्रकट होते हैं। वस्तु की एकात्मकता तथा ज्ञाता की वैयक्तिकता व्यवहार सत् है परमार्थ सत् नहीं। परमार्थ और व्यवहार ये दो नितान्त भिन्न प्रमेय हैं जिसका ज्ञान भी दो भिन्न प्रमाणों से होता है। परमार्थ स्वलक्षण प्रत्यक्ष का विषय है तथा व्यवहार सामान्य लक्षण अनुमान का विषय है।[८] इन दोनों तथा प्रमाणों के बीच एक सुस्पष्ट विभाज्य रेखा खींचीत रहती है जिसका कभी उल्लंघन नहीं होता। स्वलक्षण और सामान्य लक्षण विकल्प में न केवल सुस्पष्ट अनुलंघनीय भेद है अपितु दोनो में किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध

भी नहीं है। बौद्धों का यह प्रमाण-विल्पव सिद्धान्त उनके क्षणभंगवाद से ही अनुसरित है।

दिङ्नाग के अनुसार प्रत्यक्ष कल्पना से सर्वथा रहित होता है, (प्रत्यक्षं कल्पनापोढं) प्रत्यक्ष वह यथार्थ ज्ञान है जो नाम, जाति आदि से रहित है। दूसरे शब्दों में प्रत्यक्ष प्रत्येक प्रकार की वाचिक अभिव्यक्ति (verbal expression) से रहित है। स्पष्ट है यहाँ प्रत्यक्ष से तात्पर्य निर्विकल्पक प्रत्यक्ष से ही लिया जाना चाहिए, निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ही निर्विकल्पक स्वलक्षण को ग्रहण करता है। स्वलक्षण भी नाम, जाति अथवा यों कहें कि समस्त वाचिक अभिव्यक्ति से रहित होता है निर्विकल्पक ज्ञान के अतिरिक्त सभी ज्ञान यथा सविल्पक एवं अनुमान आदि कल्पना या विकल्प की कोटि में ही आते हैं। न्यायबिन्दु में धर्मकीर्ति कल्पना को परिभाषित करते हुए कहते हैं कि जो ज्ञान शाब्दिक अभिव्यक्ति के साथ संयुक्त होने योग्य होता है वह कल्पना कहलाता है। (अभिलाप संसर्गयोग्य प्रतिभास प्रतीति : कल्पना) यहाँ द्रष्टव्य है कि कल्पना या प्रत्ययात्मक ज्ञान भ्रम की भाँति भ्रान्त ज्ञान नहीं है। कल्पना का स्रोत भी संवेद्य निर्विकल्पक और कल्पना में भेद यह है कि एक समस्त शाब्दिक अभिव्यक्ति से रहित परमार्थ सत् का ज्ञान है जब कि कल्पना नाम, जाति से संयुक्त व्यावहारिक सत् का ज्ञान है। कल्पना में भूत के अनुभव को स्मृति रूप से वर्तमान अनुभव से सम्बद्ध किया जाता है, कल्पना या विकल्प सम्बन्धात्मक व वाचिक अभिव्यक्ति से युक्त होने कारण प्रामाणिक ज्ञान नहीं है क्योंकि सत्ता का स्वरूप असम्बन्धात्मक तथा शाब्दिक अभिव्यक्ति से रहित है। अतः कल्पना के द्वारा सत्ता के स्वरूप का ग्रहण नहीं होता। इन्द्रिय संवेदन के साथ जब तक व्यक्ताव्यक्त रूप से शब्द संयुक्त नहीं होता तब तक वह निर्विकल्पक ही रहता है। यह निर्विकल्पक ज्ञान ही विकल्प रहित सत्ता को ग्रहण करने में समर्थ होता है। अतएव निर्विकल्पक ही प्रामाणिक ज्ञान है तथा स्वलक्षण ही परमार्थ सत्ता है। विकल्प या कल्पना के पाँच भेद है -जाति, गुण, कर्म, नाम एवं द्रव्य। इन पाँचो में से किसी की भी वास्तविक सत्ता नहीं है अपितु ये मानसिक संरचना (mental construction) है इसीलिए जात्यादि पंच भेदात्मक विकल्प अभूतार्थ है। कल्पना या विकल्प का स्वरूप सामान्य रूपात्मक (universal form) है। फलतः इसका प्रयोग यह बतलाता है कि व्यक्तियों में कोई समान जाति होनी चाहिए किन्तु जाति अवास्तविक या अभूतार्थ है। इन्द्रिय संवेदन प्राप्त करते ही भूत के अनुभव की स्मृति स्वरूप जाति नाम उद्भूत होता

है जिसके फलस्वरूप विकल्प (generalized form) का अंकन होता है। वाचस्पति मिश्र न्याय वार्तिक टीका में दिङ्नाग को उद्घृत करते हैं - ''शब्दों का स्रोत विकल्प है तथा विकल्प का स्रोत शब्द है। ये परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध से जुडे हैं। शब्द कभी वास्तविकता का स्पर्श नहीं कर पाते।[९]

स्रौत्रान्तिक बाह्यार्थ को वास्तविक मानते हैं। उनके अनुसार वस्तु या आलम्बन अपने ज्ञान का कारण होता है, कारण कार्य का पूर्ववर्ती होता है। अतः ज्ञान की वस्तु ज्ञान से निस्सन्देह पूर्ववर्ती है। परन्तु क्षणिक होने के नाते वस्तु तो एक ही क्षण में उत्पन्न होने के साथ नष्ट भी हो जाती है तब उसका ज्ञान कैसे सम्भव है ? न्याय बिन्दु टीका में सौत्रान्तिकों की इस कठिनाई की ओर संकेत भी किया गया है। -क्षणस्य ज्ञानेन प्रापयितुम् अशक्यत्वात्। इसका तात्पर्य यह है कि विज्ञान में उस वस्तु की प्रतिमा उभरती है जिसका अब अस्तित्व नहीं रहा।[१०] इन्द्रियों के माध्यम से वस्तु विज्ञान के सम्पर्क में आती है। फलस्वरूप वस्तु और विज्ञान का बहुत गहरा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है। दोनों ही को किसी न किसी रूप में अपना स्वातन्त्र्य छोडना पडता है। शुद्ध विज्ञान वस्तु के सम्पर्क में आने के बाद शुद्ध विज्ञान न रह कर वस्तु के वैविध्य के अनुसार घट चेतना या पट चेतना हो जाती है। उसी प्रकार वस्तु भी वस्तुगत तथ्य मात्र न रहकर चेतना का विषय हो जाती है। वस्तु और विज्ञान का यह गहरा सम्बन्ध केवल निमित्त कारण और कार्य की तरह का सम्बन्ध नहीं है क्योंकि निमित्त कारण और कार्य दोनों में विभिन्नता बनी रहती है। जब कि वस्तु तो विज्ञान का एक अंग ही बन जाती है। अतः बाह्य उन दोनों का सम्बन्ध तद्रूपता का सम्बन्ध बन जाता है किन्तु जडवस्तु में और विज्ञान में तद्रूपता कैसे सम्भव हो जाती है ? वस्तुतः वस्तु विज्ञान पर हूबहू अपनी प्रतिमा अंकित करती है यह वस्तु-प्रतिमा विज्ञान का अभिन्न अंग बन जाती है। विज्ञान इसी वस्तु-प्रतिमा से साथ साक्षात् सम्पर्क में आता है। दूसरे शब्दों में वस्तु-प्रतिमा ही ज्ञान का साक्षात् कारण है। बाह्य वस्तु को इसी वस्तु-प्रतिमा के माध्यम से जाना जाता है। यह वस्तु-प्रतिमा बाह्य वस्तु के ही स्वरूप वाली होने के कारण उसका प्रमाणिक प्रतिनिधित्व करती है। वस्तु-प्रतिमा की ही विज्ञान के साथ तद्रूपता होती है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि विज्ञान योगाचारियों के मत की भाँति विषय और विषयी में विभक्त नहीं होता है अपितु ज्ञान का आलम्बन बाह्यार्थ विज्ञान से बाहर स्थित वस्तु ही होता है। यह बाह्यार्थ ही इन्द्रियसंवेदन के माध्यम से विज्ञान में

अपनी प्रतिमा अंकित करता है। सौत्रान्तिक बाह्यानुमेयवादी हैं। उनके अनुसार एक ही क्षण में वस्तु का उद्‌भव एवं तिरोभाव हो जाता है। कारणक्षण तथा कार्यक्षण समकालीन न होकर पूर्वापर होते हैं। कारण क्षण के नष्ट होते ही कार्य क्षण उत्पन्न हो जाता है। कारण की सत्ता मात्र से कार्य अवश्य उत्पन्न होता है। क्योंकि सत्ता का अर्थ ही अर्थ-क्रिया-सामर्थ्य या कार्योत्पाद व्यापार है। जिस क्षण में वस्तु इन्द्रिय सम्पर्क में आती है उसी क्षण वह नष्ट हो जाती है। फलतः वस्तु का साक्षात् प्रत्यक्ष सम्भव नहीं हो पाता है। जब दूसरे क्षण विज्ञान के उस वस्तु की प्रतिमा अंकित होती है तब उस वस्तु-प्रतिमा के साक्षात् प्रत्यक्ष के आधार पर वस्तु का अनुमान होता है। यहाँ यह प्रश्न उठता है कि विज्ञान का वस्तु-प्रतिमा के साथ साक्षात् सम्पर्क दूसरे क्षण में होता है। जबकि वस्तु प्रथम क्षण में ही नष्ट हो चुकी होती है। ऐसी अवस्था में यह किस आधार पर स्वीकार किया जा सकता है कि वस्तु-प्रतिमा बाह्यार्थ का प्रमाणिक प्रतिनिधित्व करती है ? वस्तु तो विकल्प है, व्यवहार है, परमार्थ नहीं। परमार्थ तो वस्तु क्षण अथवा स्वलक्षण ही है जो परस्पर भिन्न, असम्बद्ध व अद्वितीय है। अतः वस्तु क्षण के नष्ट होने के उपरान्त उत्पन्न होने वाली वस्तु-प्रतिमा की प्रामाणिकता जानने का कोई साधन नहीं है। बाह्यर्थवादी सौत्रान्तिकों के विरुद्ध एक और महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जा सकता है। अ, ब, स, द, आदि परस्पर भिन्न सन्तानों में गुण रहित कालिक नैरन्तर्य गुणात्मक नैरन्तर्य का आभास कैसे दे सकता है ? यदि वे गुणात्मक नैरन्तर्य को अनादि वासना का प्रतिफल मानते हैं तो उनका बाह्यार्थ मानने का कोई औचित्य नहीं रह जाता है। सौत्रान्तिकों के समक्ष उत्पन्न हुई यह कठिनाई अन्ततोगत्वा विज्ञानवाद का मार्ग प्रशस्त करती है जो बाह्यार्थ को अस्वीकार करते हैं। इस सन्दर्भ में प्रो. अशोक कुमार चटर्जी का यह मत उपयुक्त ही है कि ''योगाचार का आदर्शवाद सौत्रान्तिकों के तर्कशास्त्र व ज्ञान मीमांमा की अपूर्वता को दूर करने के प्रयास का ही प्रतिफल है। [११]

डॉ. शिवनारायण जोशी

सह आचार्य एवं अध्यक्ष -दर्शन विभाग
जयनारायण व्यास विश्व विद्यालय
जोधपुर (राज.)

टिप्पणियाँ

१. बौद्ध तार्किक तथा सौत्रान्तिक दोनों सत् को क्षण मात्र मानते हैं तथापि दोनों में प्रमुख भेद यह है कि बौद्ध तार्किक सौत्रान्तिकों की भाँति बाह्यार्थ को स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार क्षणिक विज्ञान ही परमार्थ सत् है विज्ञान ''क्षण मात्र है विज्ञान ही स्वलक्षण है। देखिए ''भारतीय दर्शन : आलोचन और अनुशीलन पृ. १२३-१२४, लेखक प्रो. चन्द्रधर शर्मा।

२. प्रमाण समुच्चय - I१०

३. Dr. Nagin J. Shah, " Aklanka's criticism of Dharmakirti's Philosophy" P. 188, Pub. L. D. Institute of Indology.

४. Stcherbatsky " Buddhist Logic" Vol. II P. 4 Dover Pub. New York.

५. ''किन्तु क्षणापेक्षया न प्रामाण्यं क्षणम् उच्यते, अपि तु सन्तानापेक्षया'' - न्यायाबिन्दु टिप्पणी पृ. ११.

६. तत्त्वसंग्रह में इसे आनन्तर्य नियम बतलाया है ''य आनन्तर्य नियम : सैवापक्षाऽभिधीयते'' तत्त्व संग्रह का. ५२१

७. ''-अविज्ञाते स्वलक्षणे यज्ज्ञानम् इति अभिप्रायात्'' - प्रमाणवार्तिक I ८

८. ''स्वलक्षण विषयं हि प्रत्यक्षं सामान्यलक्षण विषयं अनुमान इति'' प्रमाण वार्तिक भाष्य १६ ब

९. विकल्प योनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोयमः कार्यकारणता तेषां नार्थम् शब्दा स्पृशन्ति अपि - न्यायवर्तिक, टीका पृ. ६८

१०. ''न अविद्यामानस्य स्वरूपेण दर्शनम हेतुत्वेन च ज्ञानात् पूर्वत्वं पूर्वत्वे च क्षणिकतया न ज्ञान काले अस्तिताः'' प्रज्ञाकरगुप्त-प्रमाणवार्तिकालंकार पृ. २४३

११. Ashok Kumar Chatterjee " Yogacar Idealism" P. 19. Pub. MLBD 1975.

वाक्यार्थ-विचार : भर्तृहरि के सन्दर्भ में

वैयाकरणों की परम्परा में मुनित्रय पाणिनि, कात्यायन तथा पतंजलि के बाद जिनका नाम बडे आदर तथा सम्मान से लिया जाता है, वे हैं आचार्य भर्तृहरि। उनकी पुस्तक ''वाक्यपदीय'' भाषा विज्ञान तथा भाषा तत्त्व की अपूर्व कृति है जिसमें वाक्य और पद के विषय में व्यापक विचार -विमर्श किया गया है (वाक्यं च पदं च वाक्यपदे ते अधिकृत्य कृतो ग्रन्थो वाक्यपदीयम् ।।)। वाक्यपदीयकार ने जिस मौलिक तथा नवीन दृष्टिकोण को लेकर विषयों का सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है, वह अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। ''वाक्यपदीय'' के द्वितीय खण्ड में वाक्य विचार, वाक्यार्थ विचार आदि पुष्पित और पल्लवित हुआ है। अतः प्रस्तुत शोध -पत्र में वाक्यार्थ -विचार के विभिन्न पहलुओं को ''वाक्यपदीय'' के आधार पर रेखांकित करने का प्रयत्न करेंगे ताकि वाक्यार्थ-विचार की प्रमाणमीमांसीय व्याख्या स्पष्ट हो सके तथा ''पद-वाक्य प्रमाणज्ञ'' के रूप में आचार्य भर्तृहरि का स्थान निरूपित हो सके।

वाक् की इकाई वाक्य है।

आचार्य भर्तृहरि ने वाक् की अविभाज्य और सर्वतः पूर्ण इकाई के रूप में वाक्य को स्वीकार किया है।[१] यहाँ वाक् का अर्थ वाणी और वाक्य का तात्पर्य उसकी अविभाज्य पूर्ण इकाई से है। उनके पूर्व भारतीय विचारकों ने वाक्य के सम्बन्ध में आठ विविध मत स्वीकार कर लिए थे। भर्तृहरि केवल उन सिद्धान्तों से ही परिचित नहीं थे, बल्कि उन्होंने उनका पूरा-पूरा विश्लेषण किया। उन्होंने सिद्धान्तों को दो वर्गो में विभाजित किया-खण्ड पक्ष तथा अखण्ड पक्ष। खण्ड पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने केवल अख्यातशब्द, क्रम, संघात, आद्यपद और पृथक् सर्वपद साकांक्ष पाँच मतों को रखा है तथा यह बतलाया है कि वाक्य के सभी खण्ड व्यावहारिक कल्पना मात्र है, विश्लेषण की गहराई में वे सही और सत्य नहीं ठहरते।[२] इसके विपरीत, अखण्ड पक्ष में उन्होंने तीन अर्थात् संघातवर्तिनीजाति, एक अनवयव शब्द तथा बुद्ध्यनुसंध्यति विचारों का उल्लेख कर यह स्पष्ट किया है कि वाक् की मूल इकाई वाक्य ही ठहरती है, चाहे हम अर्थ की दृष्टि से देखें, चाहे भावना की दृष्टि से और चाहे रचना की दृष्टि से। यह इकाई तीनों ही दृष्टियों से एक और अविभाज्य सिद्ध होती है। उनके शब्दों में ''यह सर्वथा निराकांक्ष और स्वतःपूर्ण होता है, फिर भले ही यह एक वर्ण के रूप में क्यों न हो। वाक्य

का उद्देश्य स्वयं वाक् के उद्देश्य से अभिन्न है : एक बुद्धि की भावना को दूसरी बुद्धि का विषय बना देना। यह भावना यदि वर्ण से ही पूरी हो जाए तो फिर शब्दो की सार्थकता या निरर्थकता, अथवा पद-भेद आदि की बात पर विचार करना सर्वथा व्यर्थ हो जाता है।'' [२]

भर्तृहरि की यह धारणा स्वयं में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और इससे एक नई व्याख्या प्रस्तुत होती है जिसका समर्थन आधुनिक दृष्टि से भी किया जा सकता है। गार्डिनर के शब्दों में ''वाक्य उस शब्द या शब्द-समूह को कहते हैं, जिससे किसी अभिधेय को पूर्ण-अभिव्यक्ति मिलती है''।[३] पुनः उनका विचार है ''वाक्य उस पूर्ण अभिव्यक्ति को कहते हैं जिसके बाद वक्ता शान्त हो जाता है''।[४] गार्डिनर की इस परिभाषा का समर्थन एक अज्ञात अरब वैयाकरण की इस परिभाषा से भी होता है ''वाक्य वह है जिसके बाद चुप रह जाना ही उचित प्रतीत होता है''।[५] भर्तृहरि ने इसे ''प्राप्तरूप-विभागाया : यो वाच : परमो रस : [६] के रूप में कहा है। येस्पर्सन के अनुसार '' निराकांक्ष मानुषी अभिव्यक्ति को वाक्य कहते हैं''।[७] गार्डिनर की प्रथम परिभाषा तथा येस्पर्सन की इस उक्ति का भर्तृहरि की ''निराकांक्षस्य सर्वतः'' की उक्ति से पूर्ण मेल बैठता है। भर्तृहरि की उपलब्धि आज के भाषातत्त्व की दृष्टि से भी पूर्ण तथा निर्दोष है, वह कुछ अधिक वैज्ञानिक ही है।

वाक्य से अभिन्न वाक्यार्थ है

वाक्य विचार को समझ लेने के बाद ''वाक्यर्थ'' के विषय में भर्तृहरि की धारणा स्वतः ही स्पष्ट हो जाती है। वस्तुत : ''वाक्य'' ही भर्तृहरिकृत परिभाषा के मूल में उनकी यह ''वाक्यार्थ भावना'' ही काम कर रही है। ''एकोऽर्थ : शब्दवाच्यत्वे बहुरूप : प्रकाशते'' [९] के रूप में भर्तृहरि ने इस ''वाक्यार्थ'' को ही एक और अविभाज्य ''वागर्थ'' कहा है। वाक्य को ''अपद'' ''अक्रम'' कहने का कारण भी अर्थ (वाक्यार्थ) की यह अविभाज्यता ही है। सच तो यह है कि भर्तृहरि की सम्पूर्ण वैज्ञानिक एवं दार्शनिक चेतना जिस सापेक्षिक सत्कार्यवाद के सिद्धान्त पर आधारित है उसमें काल, भाव, सत्ता आदि के अभाव अथवा तज्जन्य विभाग आदि को मानने का अवकाश ही नहीं रहता। इस युक्ति के अनुसार नित्यता-अनित्यता अथवा एकत्व का निर्माण प्रायोगिक सापेक्षता पर निर्भर है। उच्चारण-काल, व्यक्तिगत सत्ता या भाव की सीमा के कारण वक्ता के एक ही अभिधेय या वक्तव्य को ''पद'' अथवा ''पदार्थ'' के रूप में खण्ड-खण्ड मान

बैठना अनुचित है। व्यावहारिक सुविधा के लिए इसे भले ही मान लिया जाए, किन्तु इस प्रकार की पदार्थ-कल्पना की स्थिति न तो दार्शनिक युक्तिक्रम से सिद्ध की जा सकती है, न वैज्ञानिक युक्तिक्रम से। दार्शनिक युक्तिक्रम में "वक्ता की इच्छा" की विभाज्यता-अविभाज्यता को आधार मानना होगा और वैज्ञानिक युक्तिक्रम में प्रत्यक्ष दिखनेवाले पदों की प्रत्यय संयोगजन्य पराश्रितता एवं "अंगभाव" का ध्यान रखना होगा। अतः दोनों ही दृष्टियों से वक्तव्य एक और अविच्छेद्य है। "पदों" का विभाग इस "अविभक्त" को ही कहने का साधन मात्र है। परन्तु उसी कारण उन पदों को पृथक-पृथक अर्थों का वाहक मान बैठना अनुचित होगा। "अर्थ" किसी भाव या सत्ता पर आधारित रहता है। एक ही क्षण में एक ही वस्तु की दो "सत्ताएं" या "स्थितियां" स्वीकार करना दर्शन और विद्वान दोनों की धारणा के विपरीत है। इसलिए भर्तृहरि "वाक्य" और "वाक्यार्थ" को एक और अविभाज्य इकाई स्वीकार करते हैं।

वाक्यार्थ के लिए योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति की मान्यता अनावश्यक है

विश्वनाथ ने "साहित्यदर्पण" में वाक्य की आवश्यक शर्त योग्यता, आकांक्षा एवं आसक्ति को माना है। [९] प्रत्यक्षत : वे "अभिहितान्वयवाद" से प्रभावित है [१०] तथा वाक्य विषयक "संघात-मत " के समर्थक हैं। योग्यता का अर्थ स्वाभाविक अनुकूलता या परस्पर सहवर्तितता की सामर्थ्य से है। योग का अर्थ है "सम्बन्ध" और सम्बन्ध की प्रवृत्ति और स्वाभाविक अनुकूलता ही योग्यता है। आकांक्षा का अर्थ है "पूर्णता-प्राप्ति की चाह"। विश्वनाथ के अनुसार जहाँ एक ही वाक्य में स्थित पदों में एक दूसरे के प्रति स्वाभाविक योग्यता होनी चाहिए, वहाँ उनमें एक दूसरे से मिलकर पूर्ण होने की भावना होनी चाहिए। " आसक्ति" का अर्थ उन पदों की समकालिक सहस्थिति से है। विश्वनाथ द्वारा उक्त ये तीनों विशेषताएं "वाक्य" और "वाक्यार्थ", "पद" और "पदार्थ" दोनों पर समान रूप से लागू होती हैं। परन्तु वाक्य किसी बाह्य रचना का नाम नहीं है। यदि एक पद या वर्ण भी वाक्य द्वारा अभिहित भावना अभिधेय को स्पष्ट करने में समर्थ हो जाता है तो वह वाक्य ही कहलाता है। [११] ऐसे वाक्यों में योग्यता और आसक्ति -दोनों ही महत्वहीन हो जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि ऐसे पद या किसी पूर्ण अर्थ की प्रतीति से पूर्व हमें उस पद के अर्थ के अतिरिक्त कुछ अन्य पदों के अर्थो का भी आश्रय लेना पडता है। इस प्रकार, वाक्य-रचना और वाक्यार्थ प्रतीति में वे "अप्रयुक्तपद" भी अवयवभूत गिने ही जाने चाहिए।

किन्तु सत्य यह है कि न तो वक्ता ही ऐसे आवश्यक पदों को प्रयोग करना अनिवार्य मानता है और न ही अर्थ प्रतीति से पूर्व श्रोता को किसी अतिरिक्त पद-कल्पना की संभावना रहती है। वक्ता और श्रोता दोनों ही एक विशिष्ट स्थिति में होते हैं। वक्ता की बात को श्रोता स्वतः ही उच्चारण समकाल में ही समझ जाता है। उसके लिए "पद" या "पदार्थ" रूप में किसी अलग वस्तु की कल्पना की आवश्यकता नहीं रह जाती। यदि उस प्रकार की कल्पना का अस्तित्व स्वीकार कर लिया जाए तब स्फोट सिद्धान्त का आधार ही स्थिर नहीं रहता। भर्तृहरि ने इस प्रकार की कल्पना को "व्यावहारिकता" "ग्रहीता की आसक्ति" कहा है। अध्ययन अथवा समझने-समझाने की सुविधा के लिए योग्यता, आकांक्षा, आसक्ति आदि की स्थिति को भले ही स्वीकार कर लें, उनकी वास्तविक स्थिति व उपयोगिता प्रतिपत्ता और प्रयोक्ता में से किसी के लिए न है और न उसे स्वीकार किया जाना चाहिए।[१२] अतः वाक्यार्थ के तथाकथित निर्माण या समुच्चय के लिए कोई शर्त स्वीकार नहीं की जा सकती। इसलिए अभिहितान्वयवाद या अन्विताभिधानवाद में स्वीकृत पदार्थों की पृथक सत्ता की कल्पना किसी भी रूप में अग्राह्य एवं अस्वीकार्य ही रहनी चाहिए।

प्रतिभा ही वाक्यार्थ है

वाक्यार्थ के शर्तों की संभावनाओं के निराकरण के बाद भर्तृहरि प्रतिभा अर्थात बुद्धि को ही वाक्यार्थ का मूल स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार जब हम किसी वाक्य को पदों में विभक्त करके उसे समझने का प्रयत्न करते हैं तब उन खण्डांशों द्वारा उत्पन्न प्रतिभा खण्डित-सी प्रतीत होती है। इसलिए उसमें वाक्यार्थ-सी एकत्ववृत्ति उत्पन्न न होकर खण्डात्मक प्रतीति की उपलब्धि होती है। वास्तव में वाक्यार्थ की एकता जगते ही पदार्थों की विविधता डूब जाती है। सब पदार्थों का स्वतंत्र अस्तित्व मिटकर ही एक नई अखण्डता का जन्म होता है। इसे ही हम वाक्यार्थ या प्रतिभा कहते हैं। इस प्रतिभा की व्याख्या या इसका निरूपण किन्हीं अन्य शब्दों द्वारा नहीं किया जा सकता। इसे विभक्त करके देखने की प्रवृत्ति तो वक्ता या प्रयोक्ता में भी नहीं होती अर्थात् प्रयोग की स्थिति में प्रयोक्ता कभी भी पदार्थों का विचार करके पदों को प्रयुक्त नहीं करता।[१२] अतः वाक्यार्थ को प्रतिभा कहना ही अधिक उपयुक्त है। अर्थ निर्धारण में प्रतिभा का महत्त्वपूर्ण स्थान है परन्तु उसमें पूर्ण प्रशिक्षण अथवा अनुभूति का कम स्थान नहीं। कोई कितना भी प्रतिभाशाली क्यों न हो, अपनी विषय में ही प्रतिभा के आधार पर अर्थ लगा

सकता है। दर्शन तथा साहित्य का व्यक्ति कम्प्यूटर या अन्य भाषा का अर्थ प्रतिभा के आधार पर नहीं लगा सकता।

प्रतिभा अखण्डनीया है

इस प्रतिभा का स्वरूप निर्देश करते हुए भर्तृहरि ने वे ही विशेषताएं गिनायीं हैं जिन्हें वाक्य की एकता के लिए आवश्यक बताया गया है। इस प्रतिभा का यदि पदार्थों के रूप में विश्लेषण करना चाहें, तो पदार्थो का एक अजीब-सा मिला-जुला रूप सामने आता है। उनमें परस्पर विभाजक रेखाएं खींचने का प्रयास भ्रामक ही सिद्ध होता है। सत्य तो यह है कि वह वर्तमान या अदृश्य पदों की समग्रता को लेकर भी उनसे बढकर एक सर्वग्राही रूप लेती दिखाई देती है। वास्तव में, उसका सम्बन्ध शब्दों से नहीं, विषय से है।[१३] हम उसको उच्चरित शब्दों से सम्बद्ध मान बैठें या प्रयोक्ता और ग्रहीता के भावैक्य पर आधारित सम्बन्ध समझें, वक्तव्य के पूर्णतम विनिश्चय में उससे बढकर अन्य कोई शक्ति या चेतना अधिक समर्थ नहीं है। शब्द या शब्द-भावना की पूर्णता भी उनके प्रत्यायन की पूर्ण सामर्थ्य के रूप में प्रतिभा में ही है।[१४] मनुष्य, बच्चा या पशु-पक्षी कोई भी हो, इस प्रतिभा को ही ''अर्थग्रहण'' और वाग्व्यापार'' में परम प्रमाण मानता है। जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी बच्चों और पक्षियों के अबोध जीवन में भी यह प्रतिभा ही यथार्थ का ज्ञान करानेवाली होती है। प्रतिभा जिस बात को ग्रहण कर ले, वही बात से अज्ञानी से अज्ञानी के लिए भी ग्राह्य बन जाती है।[१५]

प्रतिभा सहज है

यह प्रतिभा सहजात या जन्मजात है, अभ्यासादि द्वारा उत्पन्न नहीं। अभ्यास द्वारा प्रतिभा की प्रखरता में अन्तर आ सकता है, पर प्रतिभा के बिना अभ्यास महत्त्वहीन ही रह जाता।[१६] प्रतिभा ही एक ऐसी वस्तु है जो समय-समय पर स्फुरित होती रहती है। वसन्त में कोयल के मीठे शब्द स्वयं ही हो जाते हैं, पक्षियों को पर बनाने की शिक्षा भी स्वयं आ जाती है।[१७] किसी प्राणी को किसी आहार के प्रति प्रीति एवं दूसरे को द्वेष उत्पन्न स्वतः होता है जैसे ऊंट को आम के पल्लव से द्वेष और नीम के पल्लव से प्रीति है। मनुष्य को बडे प्रयत्न पर तैरना आता है जबकि भैंस के बच्चे जन्म लेते ही तैरने लगते हैं। इस प्रकार यह मानना पडता है कि समस्त प्राणियों की समस्त क्रियाएं प्रतिभा के द्वारा ही हो रही हैं। अतः यह प्रतिभा ही प्रयोग और ग्रहण का मूलाधार है।

विशिष्ट स्थितियाँ वाक्यार्थ को समझने में सहायक हैं

भर्तृहरि के अनुसार वाक्य, प्रकरण, अर्थ, मूलभावना, औचित्य, समयानुकूलता, देश, काल, संसर्ग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, लिंग, अन्यसन्निधि, सारूप्य और वैरूप्य विशिष्ट स्थितियां अर्थात् विशिष्टोपहिता प्रतिभा है [१८] जिसका प्रभाव किसी न किसी रूप में सर्वत्र देखा ही जाता है। यदि उच्चरित पदों के अर्थों पदार्थों से वाक्यार्थ का ज्ञान संभव होता तब इन प्रकरणादि को मान्यता देने की आवश्यकता नहीं रहती। आधुनिकतम विचारकों ने भी स्वीकार किया है कि एक ही वाक्य विविध अवस्थाओं में विविध अर्थों की प्रतीति देने में समर्थ होता है।[१९]

परन्तु ये विविध तब तक ही हैं जब तक वक्ता और श्रोता के अतिरिक्त तीसरा व्यक्ति उन्हें पढता या सुनता है क्योंकि उसका आधार शब्दरूप होते हैं। वक्ता और श्रोता को अपनी परिस्थिति, स्थान, समय आदि का पूर्ण ध्यान होने से वे किसी विशिष्ट वाक्य को एक विशिष्ट अर्थ में ही प्रयोग एवं ग्रहण करते हैं, उनके लिए अर्थ-भिन्नता का अवकाश ही नहीं रहता। यही स्थिति अनेकार्थकता के सम्बन्ध में भी है। अनेकार्थकता या विविध अर्थात्मकता का प्रश्न शास्त्रीय है, उसे व्यावहारिक नहीं माना जा सकता। भाषातत्त्व और व्याकरण की दृष्टि से प्रतिभा का स्वरूप स्फोट है और स्फोट के रहते किसी भी प्रकार की शब्द शक्ति की मान्यता का अवकाश नहीं रहता। स्फोट वाक्य जिस अर्थ की अभिव्यक्ति देता है, उसे शब्दार्थ या पदार्थ न कहकर वाक्यार्थ या अभिधेयार्थ ही कहना चाहिए। शब्द शक्ति के समर्थकों द्वारा मर्यादित अभिधा का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है। शब्द या वाक्य का अर्थ से सीधा सम्बन्ध स्फोट रूप में ही होता है। इसलिए स्फोटात्मा और प्रतिभात्मा को वाक्यार्थ या अभिधेय का पर्याय ही कहना चाहिए। चूँकि स्फोट और प्रतिभा अविभाज्य है, इसलिए उनसे होनेवाली प्रतीति वाक्यार्थ भी अविभाज्य होनी चाहिए। उसके किसी भी अवान्तर भेद को केवल शास्त्रीय कल्पना या विवेचन सुविधा ही कही जा सकती है। उसे वास्तविक मानकर अर्थ-भेद आदि की कल्पना अव्यावहारिक एवं असत्य है। [२०]

उपसंहार

अन्त में, निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वैयाकरणों के मत में प्रतिभा ही वाक्यार्थ है। नागेश ने भी **मंजूषा** में स्वीकार किया है ''प्रतिभा वाक्यार्थः''। वाक्यपदीयकार ने कहा है कि संज्ञावाचक शब्दों में नियत संज्ञी की ही प्रतीति

होती है। अतः कल्पित पदार्थों से सिद्ध प्रतिभा को ही वाक्यार्थ कहा गया है। यह प्रतिभा प्रत्येक आत्मा के लिए भिन्न-भिन्न सिद्ध है तथा "यह उसका स्वरूप है" निर्णय भी दूसरे को नहीं समझाया जा सकता। उसका यह स्वभाव है कि बिना विचार का अवसर दिए ही समस्त अर्थों का मेल कर देती है और विषय में सर्वरूपता प्रदान कर देती है। किसी की भावना से अथवा शब्द द्वारा उत्पन्न हुई इस प्रतिभा का कोई भी व्यक्ति कार्य करने के या निर्णय करने में अतिक्रमण नहीं करता। समस्त प्राणी इसी प्रतिभा को प्रमाण मानते हैं और मनुष्यों की भाँति पशु और पक्षियों के भी समस्त कर्मों का आरम्भ प्रतिभा ही करती है।

अस्तु, प्रतिभावाद से व्याकरण के सिद्धान्त की नींव दृढ हो जाती है "सर्वे सवार्थवाचकाः" सिद्धान्त उसी समय पुष्ट हो जाती है जब हम स्वीकार कर लेते हैं कि प्रतिभा में ज़ितने अर्थ उपस्थित हैं, सब उस शब्द के अर्थ हैं। प्रतिभा का कारण वह शब्द है जिससे विभिन्न प्रकार के शब्दों का प्रतिभान हुआ है। मन्त्रों के जप में भी ध्यान का यही महत्त्व है कि आराधक मन्त्र के अर्थ का ध्यान करता हुआ अपने ध्यान में स्थित आकार देवता को साक्षात् करे। इसके अतिरिक्त, प्रतिभावाद को स्वीकार कर लेने से ही वैयाकरणों का एक वृत्तिवाद भी समन्वित हो जाता है। इन्हें लक्षणा अथवा व्यंजना भी सिद्धान्तत : नहीं मानना पडता। जब किसी शब्द की विभिन्न आनुपूर्वी से विभिन्न अर्थो की उपस्थिति होती है तब कोई कारण नहीं है कि मुख्यार्थ और अमुख्यार्थ का विवेचन किया जाए तथा वाक्यार्थ बोध के लिए लक्षणा माना जाए। इसी प्रकार, व्यंजना भी मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि जब समस्त अर्थ शब्दजनित प्रतिभा से जन्य हैं तब तो सब अर्थ समान रूप से प्रतिभा ही हैं, उनमें शक्ति, लक्षणा और व्यंजना का भेद स्वीकार करना अयोग्यता ही है। अतः वाक्यार्थ विचार का विशिष्ट अर्थ प्रतिभावाद में ही मिल सकता है।

डॉ. कुमुद नाथ झा
डॉ.निर्मल कुमार तिवारी

स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग,
एच. डी. जैन कॉलेज, **आरा**
(वी. कुँ. सिं. वि. वि. , **आरा**)
द्वारा श्री सत्यदेव तिवारी
ग्राम-पो. -चन्दवा (पक्कापर)
जिला - भोजपूर बिहार, पिन - ८०२३१२

टिप्पणियाँ

१. वर्मा, सत्यकाम : **भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय** १९६४ पृ. सं. १७

२. उपरिवत् पृ. सं. १८

३. Gardiner. A. H. : " A sentence is a word or set of words revealing an intelligible purpose." **The Theory of Speech and Language** (1934) P. 88

4. " A sentence is an utterance which makes just as long a communication as the speaker has intended to make before giving himself a rest." -Ibid., P. 208

5. "... a sentence is that after which silence seems best." **Language** (NAL) P. 133

६. भर्तृहरि : **वाक्यपदीय** १.१२

7. Jesperson : "A sentence is a (relatively) complete and independent human utterance -the completeness and indepdendence shown by its standing alone i. e. of being uttered by itself. **Philosophy of Grammar** P. 807

८. **वाक्यपदीय** ३. ३. ८५

९. विश्वनाथ : वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षा सत्तियुक्तः पदोच्चयः
साहित्यदर्पण २.१

10. "Theory of denotation by words possessed of indi vidually seperate senses giving rise to a different kind of sense know as purport or तात्पर्य when they are taken together. This view propounded by the Bhatta school of mimansa is opposed to the other view viz. अन्विताभिधानवाद propounded by the Prabhakar school. **Vakyapadiya** Ed. prof. K. V. Abhyankar Acharya V. P. Limaye P. 373

११. सोऽयमित्याभिसंबंधो बुद्धया प्रकम्यते यदा ।

वाक्यार्थस्य तदैकोऽपि वर्ण : प्रत्यायक : क्वचित् ।।

वाक्यपदीय २. ४०

१२. विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभान्यैव जायते ।
वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरूपयादिताम् ।।
इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथंचन ।
प्रत्यात्मवृत्तिसिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते ।।
उपरिवत् २. १४३ तथा २. १४४

१३. उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता ।
सार्वरूप्यमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते ।। उपरिवत् २.१४५

१४. साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा ।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते ।। उपरिवत् २.१४६

१५. अस्त्वर्थ : सर्वशब्दानामिति प्रत्याप्य लक्षणम् ।
अपूर्वदेवतास्वर्गोः सममादुर्गवादिषु ।।
स्वरवृत्तिं विकुरुते मद्यौ पुंस्कोकिलस्य कः ।
जन्त्वादयः कुलायादिकरणे केन शिक्षिताः ।। उपरिवत् २.११९ तथा २.१४९

१६. प्रयोगदर्शनाभ्यासादाकारावग्रहतुयः ।
न स शब्दस्य विषयः स हि यत्नान्तराश्रयः ।। उपरिवत् २.१२०

१७. भावनानुगतादेतदागमादेव जायते ।
आसतिविप्रकर्षीभ्यामागमस्तु विशिष्यतेः ।। उपरिवत् २.१५१

१८. वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः ।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ।।
संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिंग शब्दस्थानस्य सन्निधिः ।। उपरिवत् २.३१४-.१५

१९. **स्पीच एक लैंग्वेज** अनुच्छेद ५१, पृ. सं. २८५-२९०

२०. तस्माच्छक्तिविभागेन नित्यः सदसदात्मकः ।
एकोऽर्थः शब्दवाच्यते बहुरूपः प्रकाशते ।।
वाक्यपदीय ३. ३. ८७

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quaterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

आयुर्वेदीय मौलिक दर्शन

आयुर्वेद शास्त्र मात्र चिकित्सा शास्त्र नहीं है, अपितु वह एक सम्पूर्ण जीवन विज्ञान है जो अध्यात्मिकता एवं दर्शन से अनुप्राणित है। आयुर्वेद से यदि इन दोनों तत्त्वों को निकाल दिया जाय तो वह स्वयं निर्जीव शरीर की भाँति हो जाएगा। अध्यात्मिकता यदि आयुर्वेद की आत्मा है तो दार्शनिकता उसके प्राण हैं। यह निर्विवाद है कि जब से पृथ्वी पर मानव जीवन प्रारम्भ हुआ है, तब से ही आयुर्वेद अपने मौलिक स्वरूप के साथ विद्यमान है। अतः यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि वह शाश्वत है। अपनी कतिपय मूलभूत विशेषताओं के कारण आयुर्वेद मानव जीवन के जितना अधिक निकट है उतना कोई अन्य शास्त्र नहीं है।

आयुर्वेद की अपनी चिन्तन पद्धति है, अपना मौलिक दर्शन है और उससे अनुप्राणित अपनी मौलिक विचार धारा है जिसने उसके आधारभूत सिद्धान्तों, रोग निदान पद्धति एवं चिकित्सा सिद्धान्तों की उद्भावना की है। वे इतने व्यापक, सार्थक उपयोगी और महत्वपूर्ण हैं कि आज भी बदले हुए परिवेश में उनकी उपादेयता को नकारा नहीं जा सकता। यही उनके शाश्वत होने का एक पुष्ट प्रमाण है। परिस्थिति वश हमारे दृष्टिकोण एवं विचारधारा में जो परिवर्तन आया है उसने ही ''यह पुरातन है, अतः उपयोगी एवं ग्राह्य नहीं है'' -कह कर उनको अस्वीकार करने का प्रयत्न किया है जो वास्तविकता से मुख फेरने जैसा है।

आयुर्वेद शास्त्र में जितने भी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे सब पूर्णतः दार्शनिकता से अनुप्राणित हैं। उन सिद्धान्तों की विवेचना भी उसी प्रकार की जाती है जिस प्रकार दार्शनिक विषयों एवं सिद्धान्तों की जाती है। यद्यपि आयुर्वेद का मुख्य प्रयोजन स्वस्थ पुरुषों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और आतुर रोगी मनुष्यों के विकार का प्रशमन करना है, तथापि अन्ततोगत्वा आत्मा के निर्विकार स्वरूप की प्राप्ति ही इस शास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। आयुर्वेद का यह वैशिष्ट्य है कि उसने अभ्युदय और निःश्रेयस दोनों के लिए समान रूप से जोर देकर दोनों को ही अपना लक्ष्य बनाया है। यहां अभ्युदय का अर्थ है भौतिक समुन्नति और निःश्रेयस का अर्थ है मोक्ष प्राप्ति। इस सन्दर्भ में यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि चाहे अभ्युदय प्राप्त करना हो अथवा निःश्रेयस दोनों की प्राप्ति के लिये मानव शरीर की स्वस्थता नितान्त रूप से अपेक्षित है।

जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ है तब ही से प्राणियों को सुख और दुःख की अनुभूति होने लगी थी। मनुष्यों की अनुभूति में सुख उसके लिए अनुकूल प्रतीत एवं हितकारी प्रवृत्ति थी। इसके विपरीत दुख उसके लिए प्रतिकूल प्रतीत एवं अश्रेयस्कर प्रवृत्ति थी। अतः प्रारम्भ से ही मनुष्य सुख की प्राप्ति एवं सतत उसकी स्थिति तथा दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति के लिए प्रयत्न करता रहा। मनुष्यों के इस स्वाभाविक प्रयास में उसे सफलता दिलाने के लिए इस भूमण्डल पर आयुर्वेद का अवतरण हुआ। क्योंकि मनुष्यों की तत्कालीन अनुकूल प्रतीति जनित सुख (आरोग्य) की उपलब्धि एवं प्रतिकूल प्रतीतिजनित दुख (विकार) की निवृत्ति के लिए आयुर्वेद ही समर्थ था। मूलतः आयुर्वेद का प्रयोजन भी यही है "स्वस्थस्य स्वास्थ्यरक्षणम, आतुरस्य विकार प्रशमनम्" अर्थात् स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा करना और रुग्ण व्यक्तियों के विकार का प्रशमन करना।

सम्पूर्ण आयुर्वेद की आधार शिला उसके मूलभूत सिद्धान्तों पर ही अवलम्बित है। उन मौलिक सिद्धान्तों के अध्ययन के बिना आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त करना सर्वथा असम्भव है। अतः सर्वप्रथम उनका अध्ययन एवं ज्ञान नितान्त अपेक्षित है। यद्यपि आयुर्वेद के समस्त मौलिक सिद्धान्त एवं आयुर्वेद का सम्पूर्ण आधारभूत विज्ञान आयुर्वेद की निजी चिन्तन धारा, उसका अपना प्रयोजन, एवं उसके स्वकीय दृष्टिकोण पर ही आधारित है, तथापि वे सिद्धान्त और वह विज्ञान भारतीय दर्शनशास्त्र एवं तात्त्विक विषयों से अनुप्राणित है। उन सिद्धान्तों में दार्शनिक एवं अध्यात्मिक सिद्धान्तों का समावेश इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। भारतीय दर्शनशास्त्र की चिन्तनधारा, अध्ययन पद्धति, मनन शैली एवं अनुशीलन परम्परा का उसकी समकालीन विद्याओं पर पर्याप्त प्रभाव पडा है। यही कारण है कि आयुर्वेद के आधारभूत सिद्धान्त भी दर्शनशास्त्र और दार्शनिक तत्त्वों से पर्याप्त रूप से प्रभावित हुए हैं। इसका एक कारण यह भी है कि आर्षकाल में जिन जिन विषयों एवं विद्याओं का अध्ययन तथा अध्यापन हुआ है तथा जिन गुरुओं ने आयुर्वेद आदि विद्याओं की शिक्षा दीक्षा दी है वे स्वयं आयुर्वेद के साथ -साथ दर्शनशास्त्र एवं अन्य विषयों के भी ज्ञाता, कर्ता एवं प्रवक्ता थे। अतः उनके द्वारा आयुर्वेदीय मौलिक सिद्धान्तों का विवेचन दार्शनिक सिद्धान्त से प्रभावित होना स्वाभाविक है।

विभिन्न दर्शनकार ऋषियों ने अपने दृष्टिकोण के अनुसार वस्तु के स्वरूप को जानने की चेष्टा की और उसी का बार-बार मनन, चिन्तन और निदिध्यासन

किया। जिसका यह स्वाभाविक फल है कि उन्हें अपनी बलवती भावना के अनुसार वस्तु का यह स्वरूप स्पष्ट प्रतिभासित हुआ। प्रत्येक दर्शनकार ऋषि ने प्रथम चेतन और जड के स्वरूप, उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा दृश्य जगत की व्यवस्था को जानने का अपना दृष्टिकोण बनाया। पश्चात् उसी का सतत चिन्तन और मनन धारा के परिपाक से जो तत्त्व साक्षात्कार की प्रकृष्ट और बलवती भावना जाग्रत हुई उसके विशद और स्फुट आभास से निश्चय किया कि उन्होंने विश्व का यथार्थ दर्शन किया है, तत्त्वों का साक्षात्कार किया है, आत्मा के यथार्थ स्वरूप का अवलोकन किया है तथा स्वात्मानुभूति के अनन्त सागर में अखण्ड, अक्षय और परमोत्कृष्ट अलौकिक सुख का अनुभव किया है। इस प्रकार दर्शन का मूल उद्गम दृष्टिकोण से हुआ है और उनका अन्तिम परिपाक है भावनात्मक साक्षात्कार में।

दर्शन का मुख्य प्रयोजन अध्यात्मिक तत्त्वों की विवेचना कर उसके यथार्थ स्वरूप में रहस्य का ज्ञानोपार्जन कराना है। अध्यात्मिक तत्त्वों के अतिरिक्त अन्य। तत्त्वों का विवेचन एवं दिग्दर्शन कराना भी दर्शन शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तत्त्व चिन्तन की उच्चात्युच्च कल्पना, विचारों की सूक्ष्मता, विविध अध्यात्मिक विषयों के अध्ययन, मनन एवं अनुशीलन की गम्भीरता तथा प्रत्येक। तत्त्व की सूक्ष्मातिसूक्षम विवेचना ही दर्शन का आधार है।

आयुर्वेद पर दर्शनों का प्रभाव

लगभर समस्त भारतीय दर्शन अध्यात्मिकता से अनुप्राणित रहे हैं। इसके परिणाम स्वरूप भारतीय दर्शनों ने आत्मा-मन-इन्द्रिय और उससे सम्बन्धित विषयों के प्रतिपादन को विशेष महत्त्व दिया। भारतीय दर्शनों की स्वतन्त्र चिन्तन धारा ने अपनी समकालीन विद्याओं को भी पर्याप्त रूप से प्रभावित किया। इसके परिणाम स्वरूप आयुर्वेद भी दार्शनिक विचारधारा, दार्शनिक तत्त्वों एवं दार्शनिक अनुचिन्तन के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सका। यह बात दूसरी है कि दृष्टिकोण की भिन्नता और आयुर्वेदीय सिद्धान्तों के अनुसार कतिपय विषयों में दार्शनिक तत्त्वों की अनुकूलता के कारण किसी दर्शन ने अल्प रूप में तो किसी दर्शन ने अधिक रूप में आयुर्वेद को प्रभावित किया, किन्तु यह एक निर्विवाद तथ्य है कि सभी दर्शनों ने आयुर्वेद और उसके सिद्धान्तों को न्यूनाधिक रूप में प्रभावित किया है। आयुर्वेद का इतना वैशिष्ट्य अवश्य है कि उसने दर्शनों के प्रतिपाद्य आत्मा-मन-इन्द्रिय और उन के अधिष्ठानभूत शरीर का सर्वांगपूर्ण

विवेचन कर दार्शनिक सिद्धान्तों के अनुरूप उसकी उपयोगिता एवं सार्थकता को प्रतिपादित किया।

भारतीय दर्शनशास्त्र एवं आयुर्वेद दोनों ही भारतीय संस्कृति का पोषण एवं संवर्धन करने वाले अभिन्न अंग रहे हैं। भारतीय दर्शनकार ऋषियों ने दर्शनशास्त्र के माध्यम से जहाँ विश्व की चेतना भूत आत्मा को जाग्रत कर उसे निःश्रेयस के पथ पर अग्रसर किया वहाँ आयुर्वेद ने आत्मा के निवासस्थान-भूत शरीर की स्वास्थ्य रक्षा, आरोग्य एवं अनातुरावस्था के लिए विभिन्न उपायों का निर्देश किया, ताकि स्वस्थ एवं अनातुर शरीर के माध्यम से आत्मा अपने चरम लक्ष्य निवृत्ति को प्राप्त कर सके। जिस प्रकार संसार चक्र के रूप में आत्मा और शरीर परस्पर संयुक्त हैं उसी प्रकार शास्त्रीय अध्ययन पद्धति के रूप में दर्शन और आयुर्वेद का पारस्परिक सम्बन्ध प्रारम्भ से ही चला आ रहा है।

आत्मा, मन और शरीर का कालद्रव्य के साथ संयोग-वियोग के बीच का अन्तर आयु का प्रमाण है। इस अवधि में मनुष्य को प्राकृतावस्था में रखना आयुर्वेद का उद्देश्य है। परन्तु आयुर्वेद ने जन्म और मरण की भी रोगों में ही गणना की है - स्वाभाविक रोगों में। आयुर्वेद का यह प्रसंग उन अंशों में से है जिनके कारण यह शास्त्र अन्य चिकित्सा प्रणालियों से अधिक भिन्न, अधिक व्यापक तथा सम्पूर्ण समझा जाता है। बौद्धिक चिन्तन ने इसे और भी अधिक सार्थकता प्रदान की है। इसी कारण से इस प्रणाली को दर्शनशास्त्र की भूमिका धारण कर प्राक् चिकित्सि विज्ञान का स्वरूप भी स्वयं ही ग्रहण करना पडता है। चरक ने जिस ढंग से चरक संहिता में सांख्य का प्रतिपादन किया है वह सांख्य दर्शन अथवा सांख्यकारिका का शतप्रतिशत अनुकरण नहीं है, एक स्वतन्त्र सांख्य का स्वरूप है। इसका यह अर्थ भी नहीं है कि चरक ने एक नवीन दर्शन का निर्माण कर दिया, क्योंकि उसका कोई भी वाक्य साँख्य के मौलिक सिद्धान्तों का विरोध अथवा खण्डन नहीं करता। जो भी थोडा बहुत परिवर्तन कहीं हुआ है उसका लक्ष्य आयुर्वेद के अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए एक सुविधाजनक तथा अनुकूल दार्शनिक नींव डालना है।

आयुर्वेद से सम्बन्धित दर्शन

सामान्यतः सभी दर्शनों ने न्यूनाधिक रूप में आयुर्वेद और उसके सिद्धान्तों को प्रभावित किया है। क्योंकि आयुर्वेद के संहिता ग्रंथ ऐसे काल की देन हैं जब दर्शनों ने भारत में प्रचलित तत्कालीन समस्त विद्याओं को प्रभावित किया था।

अतः आर्षकाल में दर्शन और आयुर्वेद का विकास समान रूपेण होने से तथा दोनों शास्त्रों का समान ज्ञान अर्जित करने वाले प्रवक्ताओं ऋषियों द्वारा इनकी रचना किये जाने से दर्शन तथा दार्शनिक विचारों का पर्याप्त प्रभाव आयुर्वेद पर पडा है। तथापि, सांख्य दर्शन एवं वैशेषिक दर्शन के तात्त्विक विवेचन ने आयुर्वेद के सैद्धान्तिक पक्ष को विशेष रूप से प्रभावित किया है। कुछ विद्वानों के मतानुसार तो आयुर्वेद ने सांख्य दर्शन के कतिपय उपयोगी सिद्धान्तों को अविकल रूप से ग्रहण कर लिया है तथा उनका प्रतिपादन भी अपने शास्त्रों में उसी रूप में किया है। मेरे विचार से इस कथन में कुछ सत्यांश हो सकता है, किन्तु उसमें यह तथ्य अन्तर्निहित है कि आयुर्वेद ने अपने मूल उद्देश्य के लिए ही सम्भवतः ऐसा किया था।

किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि आयुर्वेद का कोई मौलिक दर्शन ही नहीं है तथा उसने अपने दार्शनिक पक्ष की परिपुष्टि के लिए सांख्य और वैशेषिक दर्शन विशेष रूप से सांख्य दर्शन को प्रमुख आधार बनाया है। इसके विपरीत आयुर्वेद का अपना स्वतन्त्र मौलिक दर्शन है तथा अपने सैद्धान्तिक विवेचन में कतिपय स्थलों पर न्यूनाधिक रूप में अन्य दर्शनों का भी आश्रय लिया है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि आयुर्वेद में जहाँ कहीं भी विभिन्न दर्शनों के दार्शनिक सिद्धान्तों को अविकल रूप में ग्रहण की जो प्रतीति होती है वह दोनों की संज्ञाओं में समानता होने के कारण है। जबकि वस्तुस्थिति यह है कि दर्शनशास्त्र और आयुर्वेद दोनों के ग्रंन्थों में संज्ञाओं की समानता होने पर भी दर्शन ने एक ही पदार्थ के विषय में जो कुछ भी प्रतिपादित किया है उसी के सम्बन्ध में आयुर्वेद ने अपने मूल प्रयोजन को दृष्टिगत रखते हुए अपने भिन्न मन्तव्य को भी व्यक्त किया है, जिससे स्थिति अधिक स्पष्ट हो गयी है तथा आयुर्वेद के दार्शनिक पक्ष की मौलिक स्पष्टतः प्रतिभासित होती है।

आयुर्वेद कें दार्शनिक पक्ष को इस रूप में ग्रहण किया जाना चाहिये कि जिससे यह ज्ञात हो कि आयुर्वेदीय चिकित्सा के अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दार्शनिक सिद्धान्तों से पूर्णतः प्रभावित अथवा उन पर आधारित हैं।

आयुर्वेदीय स्वतन्त्र मौलिक दर्शन

जो लोग यह सोचते हैं कि आयुर्वेद का अपना कोई स्वतन्त्र मौलिक दर्शन नहीं है और वह सर्वथा अन्य दर्शनों पर आधारित है तो उनकी यह धारणा सर्वथा भ्रम मूलक एवं मिथ्या है। कुछ विद्वानों का मत है कि जिस प्रकार अन्य

दर्शनों में द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव इन पदार्थों का दार्शनिक विवेचन्न किया गया है तथा इनके ज्ञान और सिद्धि के लिए प्रमाणों का आधार लिया गया है उसी प्रकार आयुर्वेद में भी षट् पदार्थों का परिगणन उनका स्वतन्त्र विवेचन तथा उनके ज्ञानार्जन एवं सिद्धि के लिए प्रमाणों का अवान्तर भेद सहित सांगोपांग वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त अन्य दर्शनों की भाँति आयुर्वेद में सृष्टि के मूल तत्त्व प्रकृति, पुरुष, एकादश इन्द्रियों, पंचतन्मात्राओं और पंचमहाभूतों का अविकल वर्णन किया गया है। इसके उत्तर में मेरा विनम्र निवेदन है कि पदार्थ विज्ञान एवं सृष्टि विज्ञान का वर्णन प्रायः समस्त दर्शनों में किया गया है, किन्तु आयुर्वेद में इनका वर्णन कुछ भिन्न रूप में भिन्न उद्देश्य के आधार पर है। अतः आयुर्वेदीय दर्शन कुछ अंशो में अन्य दर्शनों से पृथक् हो जाता है। अन्य दर्शनों में पदार्थ विज्ञान का वर्णन संसार के विविध विषयों के ज्ञान के लिए तथा सृष्टि के मूल तत्त्व प्रकृति-पुरुष का वर्णन संसार के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विषयों की सिद्धि के लिए किया गया है। इसके विपरीत आयुर्वेदीय दर्शन में उपर्युक्त समस्त तत्त्वों का विवेचन रोग, रोगी, औषधि और चिकित्सा की सिद्धि के लिए किया गया है। आयुर्वेद का उद्देश्य अन्य दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शन केवल आत्मा की मुक्ति या मोक्ष साधन के लिए ही प्रयत्नशील हैं तथा उसी के लिए अपने सिद्धान्तों एवं प्रमाणों द्वारा उसका मार्ग निर्देशन करते हैं। इसके विपरीत आयुर्वेद का उद्देश्य अन्य दर्शनों से सर्वथा भिन्न है। वह केवल स्वस्थ मनुष्यों के स्वास्थ्य की रक्षा एवं आतुर रोगी मनुष्यों के विकार प्रशमन के लिए प्रयत्नशील रहता है और अपने इसी उद्देश की पूर्ति तथा रोग, रोगी, औषधि और चिकित्सा की सिद्धि के लिए उसने अपने दार्शनिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। अतः आयुर्वेदीय दर्शन भी अन्य दर्शनों की भाँति सर्वथा मौलिक एवं स्वतन्त्र दर्शन है।

आचार्य राजकुमार जैन

भारतीय चिकित्सा केन्द्रीय परिषद
११२ ए/ब्लाक सी, पाकेट- सी
शालीमार बाग,
दिल्ली - ११००५२

कविधर्म

यह मान्यता कितनी आह्लादकारी है कि जब ज्ञान, भाव और कर्म एक सत्य पर मिलते हैं तभी कोई युग प्रवर्तक कवि पैदा होता है। ज्ञान में कुछ नया जोड देना, भाव का उदात्तन कर देना और लीक से हटकर कर्म का युगीन आदर्श ध्येय निर्धारित कर देना अपने आप में अवश्य ही बडे काम कहे जा सकते हैं। परन्तु जीवन की सार्थकता इन सब के सन्तुलन में है। बुद्धि, हृदय और कर्म क्रमशः दार्शनिक, सुधारक और कलाकार उत्पन्न करने में समर्थ हो सकते हैं, किन्तु जीवन का सर्वांगपूर्ण चित्र इनमें से अकेला कोई नहीं प्रस्तुत कर सकता है जो उसे सब ओर से स्पर्श कर सके। एक जीवन्त काव्य में ऐसा मार्मिक चित्र सहज ही देखा जा सकता है। यही कारण है कि मानवता की यात्रा में साहित्यकार जितना भरोसे का साथी होता है, उतना दार्शनिक या वैज्ञानिक नहीं।

इस संसार में पहले तो मनुष्य बनना ही दुर्लभ है, मनीषी बनना तो और भी कठिन है। साक्षात्कारी पुरुष के साथ कवि होना और लोककल्याण के लिए काव्य रचने की विलक्षण शक्ति पाना तो नितान्त दुर्लभ है :

> ''नरत्वं दुर्लभं लोके विद्या तत्र सुदुर्लभा।
> कवित्वं दुर्लभ तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा'' ॥[१]

कवि क्रान्तदर्शी होता है : ''कवयः क्रान्तदर्शिनः''। तत्त्वज्ञान के बिना कोई कवि नहीं हो सकता। कवि जब विचार और भाव के ऊपरी सतह पर तैरता है तो वह कवि न होकर इधर उधर से नोच खसोटकर कविता की काया बढाने वाला 'तुक्कड़' है। वस्तु के बाहरी आवरण को हटाकर उसके अन्तस्तल तक पहुँचना ही कवि का 'कवित्व' है 'कविधर्म ' है। अतः सम्यक्दर्शन कवि का प्रधान गुण है। फिर भी मात्र संद्रष्टा होने से कोई कवि नहीं हो जाता, जब तक वह अपने प्रातिभ चक्षु से अनुभूत दर्शन को शब्दों का कमनीय कलेवर देकर उसे प्रकट नहीं कर देता।[२]

इस दृष्टि से समर्थ कवि तत्त्वद्रष्टा होने के साथ साथ 'शब्द स्रष्टा' भी है।

'कवित्व' के दो आधार हैं: दर्शन और वर्णन। कविधर्म का उन्मेष तभी होता है जब इन दोनों का मंजुल सामंजस्य होता है। तत्त्वद्रष्टा वाल्मीकि कवि तभी बने जब उन्होंने अपने तत्त्वज्ञान को कमनीय शब्दों के माध्यम से मुखरित किया। कवि की संज्ञा उन्हें तब मिली जब क्रौंच पक्षी के कारण स्वर से उनका

हृदय पिघल गया और उनका आन्तरिक शोक 'श्लोक' में प्रकट हुआ। तत्त्वद्रष्टा होने के कारण कवि 'ऋषि' है : "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः"। काव्य रूप में जन-जन तक पहुँचाने के लिए तत्त्वदर्शन को 'अनश्वर स्वर' देने के कारण वह 'कवि-मनीषी' है : "कविमनीषी परिभूः स्वयंभूः"। लोक धर्म से ओतप्रोत काव्य सर्वथा अनिन्द्य होता है। वासनात्मक काव्य तो साक्षात् मृत्यु से अपनी और दूसरों की रक्षा कर सकता है।

प्लेटो की दृष्टि में मन की दो वृत्तियां है : बौद्धिक वृत्ति और स्फूर्ति वृत्ति। बुद्धिव्यापार का चमत्कार है शास्त्र और स्फूर्ति व्यापार का चमत्कार है काव्य। दैवी पागलपन (Divine insanity) की दशा में ही सहज भाव हृदय के भीतर से करते हैं। हृदय को स्पर्श करने का सामर्थ्य काव्य में है, शास्त्र में नहीं। कविधर्म अनायास ही हृदय में समा जाता है और व्यक्ति के माथे पर सिकन तक नहीं आती। शास्त्र स्वभाव से कठोर और रूक्ष होता है। धर्मशास्त्र हो या नीतिशास्त्र, दोनों में नैकविध मतवैभिन्य है और अभिव्यक्ति में रूखापन भी। काव्य रचनात्मक एवं सरस होता है। पढते ही वह चित्त पर चढ जाता है और विषय को हृदयग्राही बनाने में तनिक भी कठिनाई नहीं होती है। साथ ही उसे जीवन में उतारने के लिए व्यक्ति सहज ही प्रवृत्त हो उठता है। जिस सरलता एवं रसमयता से काव्य व्यक्ति के अन्तर्मन में सद्गुणों का संचार करता है, उस शैली का शास्त्र में अभाव दिखता है। कवि भिखारी दास की मान्यता है : "दास" कवित्तनि की चरचा, बुधिवंतनि को सुख दै सब ठाईं'। नीति-ग्रथों और दर्शन ग्रन्थों को न तो सुखपूर्वक पढा जा सकता है और न ही रूचिपूर्वक समझा जा सकता है। शास्त्र विवेकियों तक सीमित है और काव्य सर्वग्राह्य है। अल्प बुद्धि वाले लोगों को भी थोडे प्रयास से ही काव्य के सहारे चार वर्गों के फल की प्राप्ति हो जाती है। काव्य को प्रतिभा के साथ-साथ हृदयानुरंजन का भी संस्पर्श मिला है। प्रतिभा वह शक्ति है जो काव्य के क्षेत्र में नये नये अर्थों की उद्भावना किया करती है : "प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता।" फिर भी जो काव्य हृद्य को अनुरंजित नहीं करता है, वह निस्संदेह कविधर्म से वंचित है और सही अर्थ में काव्य कहलाने लायक नहीं है। कविधर्म ही वह सटीक माध्यम है, जो कवि और पाठक दोनों के हृदय के मध्य संवाद की दिशा खोलता है।

कविन्द्र टैगोर की मान्यता है : "मेरा धर्म 'कविधर्म' है। जिस दृष्टि से मैं अन्दर बाहर देखता हूँ, वह दृष्टि मेरे हृदय में है, तर्कबुद्धि में नहीं। मेरे जीवन में

ऐसे अनेक क्षण आये हैं कि मेरी आत्मा ने परमात्मा का स्पर्श किया है और आनन्दातिरेक में मैने उसकी साक्षात् अनुभूति की है। अन्तर्ज्ञान के सहज प्रकाश में वह नित्य उद्दीप्त है ''।[४] दिव्यानुभूति मन और वाणी से परे है : ''यतोवाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।'' यह विलक्षण अनुभूति प्रखर काव्यमयी साधना से ही संभव है, जहाँ खण्डधार्मिणी बुद्धि के धूमिल प्रकाश का तिरोभाव है और निस्सीम भावना के अनन्त प्रकाश की जगमगाहट। इसीलिए कवि मानता है कि जब भावना अपनी सीमा-रेखा तोडकर हृदय में उमडती है तो व्यक्ति बौद्धिक उलझन से मुक्त होकर आनन्द में सराबोर हो जाता है और इस आनन्द के सामने व्युत्पत्ति की बुद्धिविलासी महिमा नगण्य हो जाती है। ''काव्य कला मानव की उच्चतम अध्यात्मिक प्रगति की प्रतीक है, जिसके सहारे मनुष्य प्रकृति की मधुर छवि निहारता है; बाह्य जगत् के पदार्थों और अन्तर्जगत् के भावों में रस का अक्षय स्रोत पाकर अपने जीवन में आनन्द का संचार करता है और इस आनन्द का प्रकाशन अपनी कलाकृतियों में करके दर्शक एवं पाठक को आनन्द विभोर करने का यत्न करता रहता है। यही अभिव्यंजना उसकी अनुभूति का चरम अवसान है ''।[५]

कवि के स्वभाव के अनुरूप ही उसका काव्य होता है। इस सन्दर्भ में राजशेखर का मन्तव्य है : ''स यत्स्वभावः कविः तदनुरूपं काव्यम्।'' कोयले की खान से कोयला ही निकलता है, सोना नहीं। यदि कवि के चित्त में गर्हित वासनाएं हैं तो यही रूप उसके काव्य का भी होगा। पहले कवि को मनुष्य बनना होगा। मनुष्य बनने के लिए उसे अपनी राजसिक एवं तामसिक वृत्तियों को हटाकर सात्त्विक वृत्तियों में उत्तरोत्तर अभिवृद्धि करनी होगी। एतदर्थ स्वार्थ और वासना से ऊपर उठकर उसे 'स्व' का समाजीकरण करना होगा। अर्थात् समाज के लिए जीना-मरना होगा। इस प्रकार उदात्त मनुष्य ही कवि बनने का अधिकारी है और उसी के काव्य में 'कविधर्म' को प्रतिष्ठा मिल सकती है। काव्य का लक्ष्य 'श्रेय' की सृष्टि है। हेय तथा अग्राह्य उपकरणों से उत्कृष्ट काव्य का सृजन कथमपि संभव नहीं है। निकृष्ट उपादानों से लोकसंग्रह के भाव की सृष्टि नहीं हो सकती और न ही लोकोपकारी काव्य का सृजन हो सकता है। वास्तविकता यही है कि उदात्त भाव से सृजित सुन्दर काव्य ही सन्तुलित समाज की रचना में समर्थ होता है। महाकवि तुलसीदास का यह विचार प्रसंगानुकूल है कि 'हृदय' सिन्धु है, 'मति' सीप है और 'सरस्वती' स्वातीनक्षत्र है। जब हृदय में श्रेष्ट विचारों की

वर्षा होती है तभी मुक्तामणि सदृश काव्य का सृजन होता है : हृदय सिन्धु मति सीपसमाना। स्वाती सारद कहइ बखाना॥ जौ बरसै बर बारि विचारू। हैहिं कवित मुक्तामणि चारू॥

कवि समाज की कमनीय कृति है। वह समाज का प्रतिनिधि और मर्यादाओं का स्रष्टा है। सिद्ध कवि ही अपने काव्य में मूल्यों को प्रतिष्ठित करके समाज में प्रेम एवं त्याग का महनीय आदर्श प्रस्तुत करता है; श्रेय एवं प्रेम में मंजुल समन्वय स्थापित करता है; आदर एवं श्रद्धा के भाव में समधिक वृद्धि करता है। ओजस्विता से समाज को मण्डित करना कवि का मूल धर्म है। अतः काव्य का लक्ष्य काव्य न होकर सामाजिक मर्यादाओं की प्रतिष्ठा है।

कवि का धर्म यथार्थ का उद्घाटन करने के बजाय सामाजिक मर्यादाओं का संरक्षण है। 'मरम बचन सीता जब बोला' रामचरितमानस की यह अर्धाली एतदर्थ साक्ष्य है। काव्य का सृजन तो व्यक्ति ही करता है, किन्तु सृजन के बाद यही काव्य उस व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर सारे विश्व की धरोहर बन जाता है। इसका कारण है कि जब कवि के हृदय में भावना का विस्तार होता है तो वह व्यक्ति न रहकर समाज बन जाता है और उसका काव्य सार्वदेशिक एवं सार्वकालिक हो जाता है। 'कविधर्म' ही काव्य को जीवन से जोडता है। जब वासनाएँ मिटती हैं तभी सत्त्व उदित होता है और कवि हृदय में आनन्द संचरित होता है। कवि की यही वैयक्तिक आनन्दानुभूति सामाजिक आनन्दानुभूति में विसर्जित हो जाती है। यही 'काव्यरस' है, जो स्वभाव से 'सत्य शिव सुन्दर' है। 'काव्य-रस' अमंगलकारी हो ही नहीं सकता, क्योंकि यह ऐन्द्रिकरस न होकर आत्मिकरस है। भोग में रस कहाँ ? भोग रस तो छलावा है, धोखा है और खाज के सुख की तरह भ्रान्त सुख है। सांसारिक सुख खण्डित, क्षणिक एवं दुःखमिश्रित है। काव्यानन्द विलक्षण, निस्सीम, दुःखहीन और 'लोकोत्तर आनन्द' का प्रदाता है। सच्चा कवि दूसरों के सुख से सुखी और दुःख से दुःखी होता है। पराधीन नारी की पीडा को आत्मसात करते हुए कवि तुलसी विफर पडेः ''पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।'' चाहे अवर्ण हो या सवर्ण, ऊंच हो या नीच सभी समभाव से काव्य का आनन्द ले सकते हैं : ''रसभावप्रसक्तानां वसुधैव कुटुम्बकम्।''

कविधर्म के संस्पर्श से नीरस वस्तु भी सरस बन जाती है। काव्यकला सच्ची साधना का प्रतिफल है। यह अनन्त आनन्द का अजस्र स्रोत है। अवसाद मिटाकर पाठक के हृदय में आनन्द प्रवाहित करने का सामर्थ्य कवि में ही होता

है। आनन्द को पाने के लिए सभी प्राणी बेचैन होकर भटकते रहते हैं। कवि प्रकृतितः परार्थी होता है। वह समग्र रस का पान अकेले नहीं करना चाहता है। उसका 'स्व' इतना विस्तारित है कि उसकी निगाह में कोई 'पर' है ही नहीं। वह स्वनिष्ठ आनन्द को शब्दों एवं स्वरों के सहारे अन्य लोगों के हृदय में उतारने का प्रयास करता है। व्यक्तित्व के इस प्रसार को -'पर' के साथ 'स्व' के इस तादात्म्य को सहित्य की भाषा में 'साधारणीकरण' की संज्ञा दी गयी है। यही आत्मज्ञान या आत्मलाभ है और सच्चे अर्थ में 'स्वान्तःसुखाय' का मन्तव्य भी। अपने में सब को देखना ही कवि की 'कविधर्मिता' है। रससिद्ध कवि शब्दमय या चित्रमय अथवा स्वरमय माध्यम द्वारा इस रसानुभूति को बाहर प्रकट करता रहता है। इस रस का पान करके वह जितना प्रसन्न होता है, उससे कहीं अधिक प्रसन्न वह तब होता है जब श्रोता या पाठक उसके द्वारा उद्दीप्त रस का पान करते अघाते नहीं हैं। अतः यह धारणा अतिरंजित नहीं है कि कवि का संसार बडा ही विशाल है :'' अहो भारो महान् कवेः।''

जीवन के विविध क्षेत्रों में अपनी कल्पना को निस्सीम आयाम देना 'कविधर्म' है। जीवन के विस्तार में शायद ही कोई ऐसा पक्ष बचता हो, जिसे कवि नया आलोक फेंककर न देखता हो और देखकर नयी व्याख्या न करता हो। धरती पर उसे कुछ भी तुच्छ या अपवित्र नहीं लगता है जिसे ठेलकर आगे बढा जा सके। गुरुदेव टैगोर ने चेतावनी दी है : '' तुमने जिसको नीचे फेंका, वही आज तुम्हें पीछे खींच रहा है। तुमने जिसे अज्ञान के अंधेरे गह्वर में छिपाने की कोशिश की, वही आज तुम्हारे कल्याण को बाधित कर रहा है। विशालता, शिवता और सुन्दरता पर क्षुद्र, अशिव और विरूप का दावा प्रमाणित करके उन्हें विशाल, शिव और सुन्दर बना देना किसी महान का सृजन कहा जायेगा। विष का प्रयोग हो सभी विष के रूप में कर सकते हैं। परन्तु विष में रासायनिक परिवर्तन करके उसे जीवनदायिनी औषधि का रूप प्रदान करना विदग्ध वैद्य का कार्य है।'' सिद्ध कवि ऐसा ही विदग्ध वैद्य है, जिसका काव्य अमृत रस का पान कराकर मनुष्य की पशुता को देवत्व में बदल देता है। कवि की 'काव्य -गंगा' में अवगाहन करके पवित्र होने का अधिकार सभी को है। महीयसी महादेवी वर्मा ने गुरुदेव को प्रमाण करते हुए कहा है :'' थोडे जल वाले नदी नाले कहीं भी समा सकते हैं, किन्तु सम्पूर्ण वेग से सहस्रों धाराओं में विभक्त होकर आकाश की अनन्त ऊंचाई से धरती के विस्तार में उतरने वाली गंगा को समाने के लिए शिव

का जटाजूट ही समर्थ है। इस व्यक्ति को देखकर ऐसा लगता है कि मानों 'काव्य-गंगा' रवीन्द्र की अनन्त कल्पनाओं में समा गयी हो और काव्य की व्यापकता सिमटकर मूर्त हो गयी हो। उनके काव्य से परिचित होने के बाद ऐसा लगता है कि मानो व्यक्ति तरल होकर समाज में फैल गया हो। कवीन्द्र अपनी कृति में इस प्रकार व्याप्त हैं कि उन्हें कृति से अलग करके देखना कठिन है। एक को तोलने में दूसरा तुल जाता है और एक को नापने में दूसरा नप जाता है, वैसे ही जैसे घट के जल का नाप-तोल घट के साथ ही हो जाता है।''[६] कवि, काव्य और साधारण पाठक जब आपस में मिलकर एक होते हैं तभी काव्य में त्रिवेणी प्रवाहित होती है, जो हरविध मंगलकारी है।

कमनीय वीणा की तन्त्री को झंकृत करके कवि कलावन्त 'स्वान्तः सुखाय' स्वरमाधुरी से श्रोताओं को मुग्ध करने का अश्रान्त श्रम करता है। यहाँ 'स्वान्तःसुखाय' का निहितार्थ कवि का निजी सुख नहीं है। कवि तभी आनन्दित होता है, जब उसके काव्य से निःसृत कमनीय आभा के आलोक में समग्र मानवता प्रकट होती है। काव्य में वही 'कविधर्म' है, जो मनुष्य के भीतर प्रसुप्त इन्सानियत को जगाता है और 'सत्य-शिव-सुन्दर' की तलाश करके जीवन के सर्वांग को सवाँरता है। काव्य कमनीय नारी या रमणीय उद्यान तक सीमित नहीं है, अपितु उस श्यामरंग पंक को भी आत्मसात किये रहता है, जिससे पंकज का जन्म होता है। कवि वृद्धि - ह्रास, - हर्ष- विषाद, - उल्लास अवसाद सभी उभयपक्षों के बीच छिडे संघर्ष को चित्रित करने में अपनी कला का विलास देखता है। ''भीषणता तथा सरसता, कठोरता तथा कोमलता, कटुता तथा मधुरता, प्रचण्डता तथा मृदुता लोकधर्म (कविधर्म) का सौन्दर्य है।'' कवि की दृष्टि में तो कुछ भी निषिद्ध नहीं है। तुच्छ में विराट देख लेना ही 'कविदृष्टि' है।

'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा'- इस धारणा से कवि के विराट हृदय का परिचय मिलता है। आत्मद्रष्टा तुलसी के लिए सब कुछ आत्मस्वरूप है। अर्थात् सभी अपने हैं और कुछ भी पराया नहीं है, जिससे नफरत की जाय। यही तत्त्वबोध है, जिससे जातिगत, सम्प्रदायगत और क्षेत्रगत घेरा टूट जाता है और संकुचित दृष्टि ठहर नहीं पाती। महात्मा तुलसीदास की यह घोषणा इसके लिए सबल साक्ष्य है :

धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ जुलहा कहौ कोऊ।
काहू की बेटी सों बेटा न ब्याहब काहू की जात बिगार न सोऊ।

तुलसी सरनाम गुलाम है राम को जाको रूचै सो कहै कुछ कोऊ।
मांग के खइबो मसीत को सोइबो लइबे को एक न दइबे को दोऊ।
कवितावली

रामचरितमानस केवल तुलसी को ही सुख देता है ऐसा मानने के लिए शायद ही कोई सुधी पाठक तैयार हो। हकीकत यही है कि यह महाकाव्य सार्वयुगीन बन गया है और पावनी गंगा की तरह सम्पूर्ण लोक के कल्याण के लिए निरन्तर तत्पर है।

'आत्मानं विजानीहि' (Knowthyself -Socrates) यही आत्म-साक्षात्कार काव्यात्मक चिन्तना एवं रसात्मक रचना का मूल स्रोत है। जैसे आनन्द लाभ के लिए अद्वय ब्रह्म अपनी रमणीय माया के सहारे प्रपंच की रचना करता है और छुपाछुपी का खेल खेलता है, वैसे ही आनन्द रस की खोज में साक्षात्कारी कवि काव्य कला का सृजन करता है। उसके काव्य में आत्मा का स्वरूपोन्मेष होता है और आनन्द का उन्मीलन भी। आनन्द का उन्मीलन ही काव्य का प्रयोजन है यही कविधर्म है। चूंकि आत्मद्रष्टा तुलसी के काव्य में सर्वव्यापी आत्मा का उन्मेष है, अतः 'कविन हो हुँ नहिं चतुर कहावहुँ। निज अनुरूप राम गुन गावहुँ ॥' निज स्वभाव के अनुरूप तुलसीदास द्वारा राम का गुणानुवाद सदा के लिए सर्वप्रिय बन गया है। संत कवि का अपना तो कुछ नहीं। जो कुछ उसके पास है, वह सब दूसरों के लिए है। अतः उसका 'स्वान्तःसुखाय' सहज ही 'सर्वजनहिताय' है। यह कथन व्यवहार में अटपटा भले ही लगता हो, किन्तु परमार्थ में सर्वथा सुसंगत है। ''निज कवित्त केहिं लाग न नीका। सरस होइ अथवा अति फीका ॥'' तुलसी के विचार में यह कवि की स्वार्थ दृष्टि है। ''कीरति मनिति भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहं हित होई ॥'' यह कवि की परमार्थ दृष्टि है और श्रेष्ठ काव्य का मानक भी।

काव्य का मूल मन्तव्य है कि मनुष्य अनन्त चेतना के साथ अपनी व्यक्तिगत चेतना का ताल मेल कायम करे। 'कविधर्म' की कोई सीमा रेखा नहीं है। उसकी अनन्त भावना में निखिल ब्रह्माण्ड विश्राम पाता है। सुकुमार कवि 'सर्वात्मवाद' का संदेश देता हुआ भेद और अभेद के बीच सामंजस्य स्थापित करता है। वह सब के सुख-दुःख में समान रूप से भागीदार होता है। 'कविधर्म' में अनन्त मानवता मुखरित होती है। यह सत्य है कि किसी देश काल में ही किसी व्यक्ति के हृदय से कविता वह निकलती है। परन्तु जब हृदय से कविता की

अजस्र धारा फूटती है तो वह हिमालय से निकली गंगा की तरह लोकमंगल की दिशा में निरन्तर आगे बढती ही जाती है। अनन्त मानवता को आत्मसात् करने के नाते दिक्काल में उपजी कविता अदैशिक, अकालिक और सार्विक बन जाती है। तुलसी का 'रामचरितमानस', कालिदास का 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्', टैगोर की 'गीतांजलि' और व्यास का 'महाभारत' अब निस्सीम, सर्वयुगीन एवं कालजयी हो गये हैं। सत्य को मानवता से जोडने वाला कवि ही 'कविधर्म' के मर्म को समझ सकता है। काव्य का असली प्रयोजन है कि मनुष्य अपने भीतर के देवत्व को पहचाने, क्योंकि देवत्व ही उसमें सृजनकर्त्ता है। काव्य में प्रेम तभी करता है , जब ससीम असीम को खोजता है; ज्ञान भक्ति को तलाशता है। यदि कवि अपने काव्य में 'सर्वांगपूर्ण अद्वैत' की अभिव्यक्ति नहीं कर पाता; सांस्कृतिक मूल्यों को प्रतिष्ठा नहीं दे पाता; अनन्त मानवता को नहीं समेट पाता; शत्रु को मित्र बनाने की पहल नहीं कर पाता और शील को सभी सद्गुणों की धुरी नहीं बना पाता तो वह सच्चे अर्थ में कवि नहीं है। गुरुदेव टैगोर ने ठीक ही लिखा हैः ''सच्चा काव्य वही है, जो अभिनव सृजन करता है, न कि अतीत और वर्तमान में दुरभि संधि करता है।'' [९]

काव्य का मन्तव्य 'एकतान संगीत' है। यह संगीत काव्य के सन्तुलित शब्दों से करता है। जैसे संकेतों का सन्तुलन नृत्यकला है, वैसे ही व्यंजित शब्दों का सुविन्यास काव्यकला है। चित्र में रेखाएँ सीमा का निर्धारण करती हैं किन्तु रंगों की छटा उसे निस्सीम बना देती है। काव्य का रेखांकन भी शब्दों से होता है, किन्तु, व्यंजना उसकी सीमा-रेखा तोड देती है। चित्र में रंग का जो स्थान है, काव्य में व्यंजना का वही स्थान है। कालिदास की एक शकुन्तला में भारत की असंख्य अल्हड़ किशोरियों की मादकता की झलक मिलती है और एक कण्व में अगणित पिता की विह्वलता की मार्मिकता छिपी है।

मैथ्यू आर्नाल्ड के विचार में ''काव्य मूलतः जीवन की आलोचना है।''[१०] अपनी पैनी दृष्टि से कवि जीवन के विविध पक्षों को अपने काव्य में चित्रित करता है। काव्य तो साक्षात् जीवन दर्शन है। वह 'कविधर्म' का संस्पर्श देकर वस्तु के हेय पक्ष को भी उदात्त बना देता है। कवि स्वभाव से सौन्दर्य-विधान की ओर प्रवृत्त होता है। उसकी दृष्टि में मंगल और सुन्दर एक ही है। धर्माचारी की जो 'मंगलदृष्टि' है, वही कवि की 'सौन्दर्य-दृष्टि' है। सुन्दर काव्य कल्याण का विधान करता है। 'पुण्य कला' के बिना तो 'काव्य कला' भी व्यर्थ है। लोक कल्याण

ही काव्य का धर्म है-यही कविधर्म है । आपाततः, अशिव का वर्णन काव्य में निष्प्रयोजन नहीं है । सुन्दर को निखारने के लिए असुन्दर भी काव्य का प्रतिपाद्य बनता है । कवि की अन्तर्दृष्टि आदतन सौन्दर्य को निरखती है । यह सौन्दर्य चाहे वस्तु के 'रूप-रंगो' में हो या मनुष्य के 'मन वाणी कर्म' में । भीतरी सौन्दर्य से ही बाहरी सौन्दर्य मूल्यवान् बनता है । सुन्दर शरीर में मलिन मन का वही स्थान है, जो स्थान सोने के पात्र में विष का है । भगवान शिव को आकृष्ट करने एवं पति बनाने की इच्छा से पार्वती ने अपने बाह्य सौन्दर्य में भरपूर निखार किया था । परन्तु ऐसा करने से वे अपने उद्देश्य में सफल न हो सकीं । योगेश्वर शिव की दृष्टि पडते ही काम (मदन) जलकर क्षार हो गया । इससे पार्वती लज्जित हो गयीं और स्वयं अपनी निन्दा करती हुई उन्होंने कठोर तप-साधना से अध्यात्मिक सौन्दर्य प्राप्त करने में सफल हो गयीं और शिव को अपना पति बना ही लिया :

''तथा समक्षं दहता मनोभवं
पिनाकिना भग्नमनोरथासती ।
निनिन्द रूपं हृदयेन पार्वती
प्रियेषु सौभाग्यफलाहि चारुता ॥''[११]

तात्पर्यतः, स्वार्थरूपी 'काम' को धर्म की वेदी पर स्वाहा कर देने के पश्चात् ही 'शिवत्व' की प्राप्ति संभव है । 'मदन-दहन' का यही आध्यात्मिक रहस्य भी है । अध्यात्मिक ध्येय और नैतिक मूल्य से हटकर काव्य जीवन के लिए गर्हित हो जाता है । जीवन पर उसी काव्य का स्थाई असर होता है, जो मनुष्य के भीतर की गहराई में उत्तर जाता है ।

फ्रायड के विचार में कामवासना (लिविडो) ही काव्य की शक्ति है । काव्य में शृंगार रस अतृप्त काम की छलकन है । अर्थात् काव्य दमित वासनाओं का बाह्य प्रकाशन है । फ्रायड की यह धारणा सही नहीं है । काव्य में शृंगार रस के साथ साथ करुण रस का भी प्राधान्य है । यदि कामवासना ही काव्य का सर्वस्व है तो व्यभिचारी को सर्वश्रेष्ठ कवि होना चाहिए । परन्तु ऐसा नहीं है । उलटे काव्य में सात्त्विक भाव की प्रमुख भूमिका है, न कि वासनात्मक भाव की । मनुष्य का यथार्थ पशुत्व है और आदर्श देवत्व । उसे अपने देवत्व की अनुभूति काव्य संगीत में होती है, न कि भौतिक कोलाहल में ।

'औचित्यबोध' ही कवि का कविधर्म है । रसोन्मीलन के साथ औचित्य का गहरा सम्बन्ध है : ''औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितं'' क्षेमेन्द्र ।

सिद्ध काव्य का स्थिर जीवन औचित्य ही है। बिना औचित्य के काव्य में रस का स्रोत नहीं फूटता। तडाग में खिले कमल, उपवन में विहसते पुष्प और पंचम स्वर में कूजती कोयल का काव्य में मनोहारी चित्रण सर्वप्रिय होने के नाते औचित्यपूर्ण है। यही 'औचित्य' शिव है, सत्य है, सुन्दर है। सात्त्विक रसोद्रेक में काव्य मे 'कविधर्म' उपजता है। जब 'कविधर्म' साहित्य में स्पन्दित होता है तब उसमें सत्य शिव सुन्दर की त्रिवेणी प्रवाहित होती है। जब चिन्तन को उसका स्पर्श मिलता है तो दर्शन की कठोर लकीरें तरल होकर परस्पर समीप आ जाती हैं और विवाद 'संवाद' में बदल जाता है। जो भावना के अथाह सागर में डूबना जानता है, वही काव्य के रस का पान कर सकता है। दैनिक जीवन में मितव्ययी होना भले ही अच्छा कहा जाता हो, किन्तु, भावुकता की अवस्था में आत्माभिव्यक्ति ज्वार की सीमा तक पहुँच जाती है। भावना को अनन्त विस्तार देने का सामर्थ्य 'कविधर्म' में ही है। काव्य के विषय का धर्म समधिक भाव से पाठक का स्पर्श करता है। भरत मुनि ने स्पष्ट कहा है कि न तो रस भावहीन होता है और न ही भाव रसहीन ''न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः'' [१२] काव्य वस्तु सहज ही पाठक के मन को रस में सराबोर कर देती है। शॉपेनहॉवर का विचार है कि ''समर्थ प्रतिभा प्रत्येक वस्तु में रस तलाश लेती है। रसहीन तो कुछ है ही नहीं।'' कटु काव्य दुष्ट काव्य है। माधुर्य, ओज और प्रसाद काव्य के उदात्त गुण हैं। भट्ट लोल्लक के विचार में, नीरस वस्तु के लिए काव्य में कोई स्थान नहीं है: '' न तु नीरसस्य इति अपराजिति। '' काव्य वस्तु में रसात्मकता लाना कवि का मूल प्रयोजन है। रसोन्मेष के लिए वह ऐतिहासिक तथ्य को सुधार सवाँर सकता है। कविवर तुलसी ने सीता के 'परुष वचन' का ऐतिहासिक उद्‌घाटन करने के बजाय मर्यादित ढंग से प्रस्तुत किया है: ''परमबचन सीता जब बोला''। सीता आदर्श नारी है। 'परुष वचन' का उद्‌घाटन करने से यह मर्यादा खण्डित हो जाती। सुधी कवि को ऐसा ही करना चाहिए, तभी समाज विकृतियों से उबर सकता है। लोक में इतिहास का सम्मान तथ्य का उद्‌घाटन करने में और काव्य की मर्यादा रस की निष्पत्ति में है।

काव्य में प्रेम को ही सम्बन्धों का सूत्रधार बनाया जाता है। प्रेम असीम -ससीम का, निर्गुण-सगुण का, शक्ति-सौन्दर्य का, रूप-रस का मंजुल समन्वय है। यदि सगुण रसमय है तो निर्गुण साक्षात् रस है : ''रसो वै सः।'' यदि सगुण सन्मय, चिन्मय और आनन्दमय है तो निर्गुण का भेद घुलकर एक हो जाता है।

प्रेम रागात्मक जरूर है, किन्तु उसमें वासना की दुर्गन्ध नहीं है। कवीन्द्र टैगोर का कवि हृदय बोल उठता है : "वैराग्य साधना में मेरी मुक्ति नहीं। अनुराग के हजार बन्धनों में मुझे मुक्ति का आनन्द मिलता है। ..... मैं अपनी इन्द्रियों को संयम के घोर सीखचों में बन्द नहीं करना चाहता। दर्शन, श्रवण और स्पर्श में मैं तेरा सारा आनन्द भर लेना चाहता हूँ और रात दिन हरक्षण अपना प्रेम तुझे अर्पित करना चाहता हूँ।"[१३] 'गीतांजलि' के भक्ति रस में पगे गीतों में 'सर्वात्मवाद' की सुन्दर झांकी देखने को मिलती है:" सीमार माझे असीम तुमि, बजाओ आपन सुर। आमार मध्ये तोमार प्रकाश, ताई एत मधुर॥"[१४]

प्रकृति की कन्दराओं एवं वनों में वेद की ऋचाओं की प्रथम अनुगूंज सुनाई पडी है। वैदिकऋषियों को सत्य का साक्षात्कार प्रकृति की नीरव गुफाओं और वनदेवी केशांत कुंजो में हुआ है। रामायण और महाभारत वन के जीवन्त दृश्यों से परिपूर्ण हैं। भवभूति की सीता की सारी करुणा वन की लताओं और पुष्पों पर छाई दिखायी देती है। कालिदास की वनलता शकुन्तला के 'मधुरमासां दर्शनं' पर दुष्यन्त विमुग्ध है। शकुन्तला का मादक सौन्दर्य तथा रूपलावण्य प्रकृति के प्रभाव का अमर विलास है।"[१५] इसी तरह कण्व के आश्रम से पतिगृह को जाते समय कविने शकुन्तला के वियोग में सारी प्रकृति को उसके साथ करुण कन्दन करते हुए दिखाया है:

"उद्गलितदर्भ-कवला मृग्यः, परित्यक्त नर्तना मयूरी।
अपसृत-पाण्डुपत्राः, मुचन्त्यश्रूणीव लता :॥- अभिज्ञानशाकुन्तलम्

प्रकृति में मानववियोगजन्य यह आलोडन कवि के मार्मिक अन्तश्चक्षु द्वारा ही वेद्य है। मनुष्य और प्रकृति का परस्पर सौहार्द किस रसिक की हृत्तन्त्री को निनादित नहीं करता ? मेघदूत का यक्ष अपनी प्रेयसी की भौहों की छवि नदी की लोल लहरियों में निहारता है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रकृति दिव्य मन द्वारा संरचित है। इसीलिए कवि प्रकृति को पार्थिव, गन्दी एवं जड न देखकर अखण्ड, समरस एवं दिव्य चेतनशक्ति के रूप में देखता है। जो जीवन-धारा मेरी नसों में प्रवाहित हो रही है, वही प्रकृति में भी उसी लय ताल से चल रही है। अर्थात् हरी घास की कोपलों, वृक्षों के नवपल्लवों और विहँसते फूलों के रूप में यही प्रकृति अपनी दिव्य चेतना का मान करा रही है। यही 'काव्यात्मक अध्यात्मकवाद' है। महाकवि टेनिसन को झरने में ईश्वर का दिव्य संदेश सुनायी देता है: "मनुष्य आते जाते रहते हैं। परन्तु बिना रुके मैं नित्य चलता

रहता हूँ।''[१६] मनीषी तुलसी ने प्रकृति के सहारे जन-जन तक अध्यात्मिक संदेश पहुँचाने में आशातीत सफलता पायी है :

''कविहिं अरथ आखर बलुसांचा। अनुहरिताल गतिहि नट्टु नाचा ॥

सो मैं कुमति कहौं भांती। बाज सुराग किगाडर तातीं '' रामचरितमानस, अयोध्याका.

''फूले कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएं जैसा ॥'' किष्किन्धाकाण्ड

'' पावस सम जुग ब्रह्म विवेकू। एक दारूगत देखिय एकू ॥'' -,, बालकाण्ड

''हरित भूमि तृन संकुल, समुझि परहि नहिं पन्थ।

जिमि पाखण्डवाद तें, लप्त होहिं सद्ग्रन्थ ॥'' - किष्किन्धाकाण्ड

'आशावाद' कविधर्म का सहचर है। अरुण आभा के अन्धकार में जिस प्रकार पक्षीगण गाकर सूर्योदय की घोषणा करते हैं, उसी प्रकार कवि का अन्तःकरण भी वर्तमान के सघन अन्धकार में गाकर घोषणा करता है कि हमारा उज्ज्वल भविष्य समीप है। उसके अभिनन्दन के लिए हमें प्रस्तुत होना चाहिए। आखिर भीमकाय दानवों के निशोत्सव में ही तो कोमलकाय मानव प्रकट हुआ और सारी सृष्टि पर छा गया। साधारण जन को उपेक्षित करके हम आगे नहीं बढ सकते। हीरे का हर कण मूल्यवान होता है। कवीन्द्र टैगोर की वेदना है : ''मुझे जन तो बहुत मिले, किन्तु साधारण कोई नहीं मिला।''

रीडर दर्शन विभाग **डॉ. दुर्गादत्त पांडेय**
गनपत सहाय पी. जी. कॉलेज
सुलतानपूर (अवध)

टिप्पणियाँ

१. 'संस्कृत-आलोचना'- पं. बलदेव उपाध्याय, उ. प्र. हिन्दी संस्थान (१६६१), पृ. १०
२. वही, पृ. ११
३. ''चतुर्वर्ग फलप्राप्तिः सुखंदुःखल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपम् निरूप्यते ॥ - विश्वनाथ कविराज
४. 'दि रेलिजन ऑव मैन', टैगोर, पृ. ६७
५. 'संस्कृत-आलोचना', पं. बलदेव उपाध्याय, पृ. ४६

६. महादेवी वर्मा के निबन्ध 'प्रणाम' से उद्धृत।
७. 'संस्कृत -आलोचना', पं. बलदेव उपाध्याय , पृ. ६८
८. 'एकाकी नैव रमते'-'सो अकामयत एकोऽहं बहुस्याम्'।
९. 'दि रेलिजन ऑव मैन', टैगोर, पृ. १०
१०. 'Poetry is, bottom, a criticism of life'- Mathew Arnold
११. 'कुमारसंभवम्' -पंचमसर्ग -१
१२. भरतमुनि का नाट्यशास्त्र।
१३. 'गीतांजलि' , टैगोर।
१४. 'गीतांजलि' , टैगोर।
१५. "For men may come and men may go,
But go on for ever"- Tennyson.
१६. ''अधरः किसलय रागः कोमल विटपानुकारिणौ बाहू।
कुसुममिव लोमनीयं यौवनमंगेषु सन्नद्धम्॥
- अभिज्ञानशाकुन्तलम्

पारम्परिक (भारतीय) शास्त्रों का अन्तःसम्बन्ध और राजशेखर

सन्दर्भ - ''काव्यमीमांसा'' का

राजशेखर की ''काव्यमीमांसा'' समग्रता में अप्राप्त है - पर उसकी जो रूपरेखा उपलब्ध है - उससे कल्पना की जा सकती है कि वह किस प्रकार की विविधायामी प्रतिमा का धनी रहा होगा। हमारी परम्परा में पण्डितों के बीच यह प्रसिद्धि रही है कि आचार्य अन्तेवासी की एक ही ग्रन्थ पर न केवल अपने विशेष क्षेत्र का सबकुछ पढा देता है अपितु यथासम्भव अन्य शास्त्रों का भी ज्ञान कराकर शास्त्रनिष्णात करा देता है। जंगम पुस्तकालय के रूप में प्रख्यात पं. गंगाधर शास्त्री कहा करते थे कि उन्होंने केवल ''काव्य-प्रकाश'' पढा है और उसी के पण्डित है-उसकी समझने के लिए तमाम शास्त्रों की ओर जाना पडा। वस्तुतः ज्ञान तो अखण्ड है। ग्राहक की ज्ञानगत खण्डता जब अपने समुच्छेद के लिए शास्त्रकान्तार में प्रविष्ट होती है और व्यवधान छँटता जाता है तब प्रत्येक शास्त्र परस्पर की समझ से पूर्णता की और अग्रसर होते हैं। चिन्तन के लिए भाषा ठीक होनी चाहिए अतः और भाषा के व्यवस्थित होने पर गन्तव्य तक पहुचने के लिए मार्गारूढ होना चाहिए... ''प्रमाण'' का मर्मज्ञ होना चाहिए। ''पद'' और ''प्रमाण'' शास्त्र सर्वशास्त्रोपकारक हैं। इनसे सुसज्जित होकर तात्पर्य-बोध के लिए अपेक्षित ''वाक्य'' शास्त्र को हृदयंगम करना चाहिए। पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ ही शास्त्र का तात्पर्य निर्धारित कर बुद्धिगत विवेक क्षमता और कर्तृत्वगत स्वातंत्र्य वश इष्ट में प्रवृत्ति और अनिष्ट से निवृत्ति स्वरूप आचरण करता है। यही आचरण योग बन जाता है और चिन्तन ''मनन'' तथा ''निदिध्यासन'' में परिणत होकर तापत्रय मूल अज्ञान का भंजन कर स्वरूप-बांध करा देता है। इस प्रकार शास्त्र परस्पर सम्बद्ध उपकारक हैं।

साहित्य तो सभी विद्याओं का सरस निःष्पन्द है। अतः जब रचना की तह में निहित सर्जनात्मक अनुभूति का विश्लेषण करना पडता है -तब शास्त्रालोक में ही यह सम्भव हो पाता है। काव्य ही नहीं, काव्यशास्त्र भी किसी भी शास्त्र की सहायता से ही अपना मन्तव्य स्पष्ट करता रहता है। ध्वनि को समझने के लिए हमें व्याकरण दर्शन की ओर जाना पडता है, ''स्वाकार इव अभिन्नोऽपि'' योगाचार बौद्धदर्शन की अपेक्षा करता है। एक रसवाद के लिए मीमांसा, न्याय, सांख्य,

---

द्वैतवादी शैवागम शांकरवेदान्त, कश्मीरी अद्वयवादी शैवागम का ज्ञान अपेक्षित होता है। अपने को स्पष्ट करने के लिए हर शास्त्र दूसरे की सहायता लेता है। राजशेखर की "काव्यमीमांसा की समझ किस-किस शास्त्र का परस्पर संबद्ध होने के कारण अपेक्षा नहीं करती ? इस सन्दर्भ में एक उदाहरण लें। दशम अध्याय में कविचर्या और राजचर्या का प्रसंग है। इस प्रसंग में काव्य निर्माण के लिए कौन-कौनसी सामग्री सन्निहित होनी चाहिए -इस पर विचार करते हुए यायावर ने अपना पक्ष रखा.... "प्रतिभैव परिकरः" ... इति यायावरीय :।"

काव्य-निर्माण के लिए अपेक्षित "प्रतिभा" की विभिन्न पक्षीय विशेषताओं को स्पष्ट करने में किस प्रकार विभिन्न शास्त्रों के पास हमें जाना पडता है ... यह आन्तरानुशासनिक प्रक्रिया से ही सम्भव है। सर्वप्रथम व्याकरणसम्मत व्युत्पत्ति से हमें ज्ञात होता है कि "प्रतिभायते यया सा प्रतिभा शक्तिः कवित्वबीजभूत संस्कार विशेषः।" जब लोचनकार "शक्तिः प्रतिभानम्" कहते हैं -तब उस प्रयोग को उपचारगर्भ ही माना जाना चाहिए। राजशेखर भी "शक्त्या संव्रियते कविः .."में आनन्दवर्धन द्वारा प्रयुक्त शक्ति के विषय में कहते हैं .... "शक्तिः शब्दश्च्या यमुपचारितः प्रतिभाने वर्तने"। करणव्युत्पत्ति से प्रतिभा शक्ति के अर्थ में ली जा सकी है- पर वास्तव में "प्रतिभाभावव्युत्पत्तिक शब्द ही है। "प्रतिभानं प्रतिभा" काव्यानुकूल शब्दार्थोपस्थिति ही प्रतिमा है। यह प्रतिभान शक्ति का कार्य है। "अर्थहरण" शीर्षक अध्याय में शब्दान्तर से "प्रतिभा" का ही विवेचन किया है। प्रतिभा सारस्वत चक्षु है --प्रतिभा सरस्वती का ही दूसरा नाम है। राजशेखर कहते हैं ... सारस्वतं चक्षुः वाङ्मनसगोचरण प्रणिधानेन दृष्टमदृष्टं चार्थजातं स्वयं विभजति।"तथा "सुप्तस्वापि महाकवेः शब्दार्थौ सरस्वती दर्शयति तदितरस्य तत्र जागृतीऽप्यन्धं चक्षुः।" अर्थात् -यह निश्चित है कि ज्ञानमय चक्षु वाणी और मन से अगोचर प्रणिधान समाधि के द्वारा स्वयं अपने आप निश्चय कर लेता है कि अमुक विषय स्पष्ट है या अस्पष्ट। सरस्वती महाकवि को सुषुप्ति अवस्था में भी काव्यानुकूल शब्द और अर्थ का ज्ञान करा देती है। प्रतिभा के इस विवेचन को और बोधगम्य बनाने के लिए हमें न्याय-वैशेषिक तथा पातञ्जल दर्शन की सहायता लेनी होगी। यहाँ दो जिज्ञासाएं हैं --एक तो यह कि प्रतिभा से जो प्रभा होती है वह किस तरह के प्रमाण से होती है ? इसका उत्तर न्याय वैशेषिक देगा। वह कहेगा कि इसका समावेश प्रत्यक्ष प्रमाण में होगा। प्रत्यक्ष प्रमाण में योगजसन्निकर्ष भी आता है जो योगी के लिए है। योगजसन्निकर्ष से

''युक्त'' को सर्वदा सबका भान होता रहता है और ''युञ्जात'' को चिन्ता करने पर व्यवहित का भी प्रत्यक्ष हो जाता है। विष्णुपुराण में भी कहा है ---

''योगयुक् प्रथमं योगी युञ्जमानोऽभिधीयते।''

इसी तरह ''प्राणिधान'' के स्पष्टीकरण के लिए पातञ्जल शास्त्र के पास जाना होगा। योगसूत्र में ''प्रणिधान'' शब्द ''समाधिपाद'' और ''साधनपाद'' में क्रमशः ईश्वर प्रणिधानाद्वा तथा तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः'' सूत्रों में मिलता है। पर दोनों जगह उसका अर्थ ''भक्ति'' किया गया है। ''यथाभिमतध्यानाद्वा'' के संसर्ग या चित्त की एकाग्रता जैसे अर्थ भी, जो समाधिपरक है लगाया जा सकता है। वैसे भक्ति भी चित्त की अविक्षिप्त दशा ही है। ''व्यासभाष्य'' और ''तत्त्ववैशारदी'' सर्वत्र यही मिलता है।

जिज्ञासा यह भी हो सकती है कि प्रतिभा भास्वती मति है याने चित्त की ही स्थिति विशेष है या निरावरण चित् है या परम सत्ता की शक्ति-विशेष है ? काव्यशास्त्र में सृष्ट्यर्थ अपेक्षित ''प्रतिभा'' काकेन सारूप संगत होगा ? इन प्रश्नों का समाधान पाने के लिए हमें भिन्न-भिन्न शास्त्रों के पास जाना होगा। सांख्य या पातञ्जल दर्शन में पुरुष तो चिन्मय है और बुद्धि के आठ धर्मो में से एक ज्ञान है। रूप या क्षणवर्ती क्रम में समाहित होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है -वह तारक या प्रातिभ ज्ञान है। एक प्रकार से यह भास्वर चित्त ही है। विवेकज ज्ञान की पूर्व दशा है ठीक वैसा ही जैसा सूर्योदय से पूर्व की प्रभा होती है। नागेश भट्ट ने पातञ्जल सूत्र (विभूति पाद का ३६ वां सूत्र) में प्रयुक्त ''प्रतिभा'' शब्द की व्याख्या करते हुए राजशेखर की तरह कहा है ---

''दृष्ट कारणं विनैवाक्स्माद् व्यवहितविप्रकृष्टातीतानागत
सूक्ष्मार्थेषु यथार्थ ज्ञानसामर्थ्यं प्रतिभा।''

अर्थात् दृष्ट कारण के बिना ही व्यवहित, विप्रकृष्ट, अतीत, अनागत सूक्ष्म अर्थो के विषय में ज्ञान के सामर्थ्य को ही प्रतिभा कहते है। योगसाधना से ऋगिषगत ज्ञान या प्रतिभा आर्ष होती है जो ऋषि नहीं है उनमें यह सामर्थय होता है पर वह अनार्ष है। उत्तररामचरित में भवभूति ने ब्रह्मा से कहलवाया है --''अव्याहतज्योतिरार्षम् ते चक्षु : प्रतिभातु।'' यह चित्त की भास्वर दशा ही है। योगकालतंत्र में इसे ''प्रज्ञा'' कहा गया है। न्याय, वैशेषिक और वैदान्त में प्रतिभा की आर्यदर्शन या आर्षचक्षु के पर्याय में ही कहा गया है। व्याकरण दर्शन में प्रज्ञा और प्रतिभा दोनों का प्रयोग है वहां उसे ''पश्यन्ती के स्तर का माना

गया है। यही स्रष्टा के स्रक्ष्यमाण की ''दर्शना'' भूमि है। सम्भव है भट्टतौत की ''वर्णना'' पूर्व ''दर्शना'' की यही भूमि हो। आगमों में ''संवेद'' का प्रयोग इसी के लिए मिलता है। राजशेखर ने भी ''काव्यमीमांसा'' में कहा है ''या शब्दग्राममर्थ सार्थमलंकारतन्त्रयुक्तिमार्गमन्यदपि तथाविधमधि हृदयं प्रतिभासयति सा प्रतिभा।'' बहरहाल, सवाल यह है कि यह भास्वर चित्त है या और कुछ ? जैसा कि ऊपर कहा गया है जैनाचार्य हेमचन्द्र ने अपने सम्प्रदाय के अनुसार माना है कि जीव के शुभाशुभ कर्म उसके ज्ञानस्वरूप आत्मा पर आवरण है। इस आवरण के सहज अभाव से सहजा और कर्म द्वारा नाश से उत्पाद्या प्रतिभा आती है। वाग्भट भी जैन हैं वे भी सहजा को भी कर्म क्षय से ही मानते हैं। इस प्रकार इनके मत से वह प्रतिभा निरावरण चित्त है। ये लोग भी इसे प्रत्यक्ष ज्ञान ही मानते हैं।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा में जहाँ-जहाँ प्रतिभा की चर्चा है - सर्वत्र काव्योपयोगी अर्थ के प्रकाशक रूप में ही की है। कश्मीरी सम्प्रदाय प्रतिभा को प्रकाशिका ही नहीं, निर्मात्री भी मानता है। फलतः उन लोगों ने इसे चित् की शक्ति माना है। अभिनव कहतें हैं -

'' यदुन्मीलनशक्त्यैव विश्वमुन्मीलति क्षणात्।
स्वात्मायतनविश्रान्तां वन्दैनां प्रतिभां शिवाम्। ''

शिव की शिवा ही प्रतिभा है। आनंद ने भी कहा है कि पुण्य-विशेषवश काव्य करने की मनोदशा बन जाने पर कवि को चाहिए कि वह अपनी सत्ता सरस्वती याने प्रतिभा को सौंप दे और स्वयं माध्यम बन जाय।

अन्ततः एक बिन्दु पर विचार करके इस प्रसंग को समाप्त करना है। इन उपर्युक्त विवरणों से निष्कर्ष यह निकला कि प्रतिभा स्फुरण है- प्रकाशन है- प्रज्ञान है। पर कहीं-कहीं कहा गया है कि वह ऐसी प्रज्ञा है जो अपूर्ववस्तु का निर्माण करने में क्षम है- यानी निर्मात्री भी है। दर्शन उसका 'दृष्टिपक्ष' है और निर्माण 'सृष्टी' पक्ष। आर्ष-पक्ष में दृष्टि प्रत्यक्षीकरण ही है- पर अनार्ष-पक्ष में- प्रत्यक्षायमाण या उत्प्रेक्ष्यमाण- जैसा कि दशरूपक के टीकाकार धनंजय मानता है। निर्माण का जहाँ तक सम्बन्ध है-वर्ण्यवस्तु में काव्योचित लोकोत्तर असाधारणता उभारती भी है और आहित भी करती है। व्यापार-प्राधान्यवादी कुन्तक कहता है-

लीनं वस्तुनि येन सूक्ष्मसुभगं तत्त्वं गिरा कृष्यते
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं वाचैव यो वा कविः वन्दे द्वावपितावुभौ--

अर्थात् वह वर्ण्यगत सूक्ष्मसुभग तत्त्व को उभरता भी है और रचता भी है। सहजा प्रतिभा पहला काम करती है और व्युत्पाद्या दूसरा।

इस प्रकार राजशेखर से प्रतिभा विषयक एक बिन्दु लेकर यह देखा गया कि काव्य के किसी तत्त्व को स्पष्ट करने में प्रत्येक शास्त्र परस्पर सम्बद्ध हैं और सम्बद्ध होकर विषय को स्पष्ट करते हैं।

राममूर्ति त्रिपाठी
२,स्टेट बँक कालोनी,
दैवास रोड,
उज्जैन-४५६०१०

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY

PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quaterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

भागवत में रहस्यवाद

धार्मिक -जीवन एवं साधनात्मक क्षेत्र में रहस्यात्मक अनुभूतियों का होना एक सहज स्वाभाविक प्रक्रिया है तथा इस से उत्पन्न परम कोटि का संज्ञान संसार के प्रायः सभी धर्मों का प्राप्तव्य रहा है। यह वह संज्ञान है, जिसमें आत्मा परमात्मा से एकता स्थापित करती है, इसीलिए रहस्यवाद को मानव की उस प्रवृत्ति की संज्ञा दी जाती है- जिसके द्वारा वह समस्त चेतना को परमात्मा अथवा परम सत्य के साक्षात्कार में नियोजित करता है तथा उस साक्षात्कार-जन्य आनंद एवं अनुभव का आत्मरूप में समस्त जगत् में प्रसारित करता है।[१] रहस्यवादी व्यक्ति नैतिक चरित्र, असाधारण ज्ञान, भावना तथा इच्छाशक्ति सम्पन्न होता है, जो निःस्वार्थ भाव से अपने सभी साधनों को एकमात्र परम सत्य परमात्मा की प्रत्यक्षनुभूति में नियुक्त करके उस परम सत्य के पराबौद्धिक और अतीन्द्रिय आनंद आस्वादन की संभावना में विश्वास करता है तथा उसे प्राप्त करना चाहता है। इस प्रकार रहस्यवाद उस अनिर्वचनीय सत्य के प्रत्यक्ष का द्योतक है, जिसको साधना चैतन्य की, प्रत्यगात्मा की एक विशेष स्थिति में निरंतर संलग्न रहकर प्राप्त करता है। यह सत्य अनुभवकर्ता का स्वयं प्रत्यक्ष होने के कारण उसके लिए सर्वाधिक सत्य होता है। उसकी सत्यता के लिए अन्य किसी बाह्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं होती। यह ज्ञान अथवा आत्म-संज्ञान साधारण भौतिक ज्ञान की अपेक्षा इतना अधिक स्पष्ट होता है कि साधक के लिए संदेह का कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

यह प्रश्न किया जा सकता है कि क्या असीम तत्त्व के अनुभव को ससीम-बुद्धि व्यापार का विषय बनाया जा सकता है ? क्या यह संभव है कि जिसे अरूप और अनाम तत्त्व माना जाता है, उसे रूपों और नामों के माध्यम से अनुभव किया जा सके ? सामान्य मनुष्य का भी यह अनुभव है कि अरूप तत्त्व विभिन्न रूपों में प्रतिभासित हो जाता है। माता जब प्यार से अपने पुत्र को चूमती है तो विशुद्ध आनंद की एक झलक मिल जाती है। प्रिया के नयनों में जब प्रिय को निःशेष भाव से आत्म -समर्पण करने की लालसा दिख जाती है तो इस रूप को आश्रय करके अगाध और अपार प्रेम-समुद्र की एक झाँकी मिल जाती है। इन सबमें परमात्मा का स्वरूप होता है। विपत्ति में फँसे हुए किसी असहाय प्राणी की सहायता के लिए जब कोई अपने को संकटापन्न स्थिति में झोंक देने के लिए

उल्लास से चंचल हो उठता है तो भगवान के निर्मल प्रेम-रूप का क्या परिचय नहीं मिलता ? प्रेम और स्नेह में, दया, माया, और त्याग-तप में उस दिव्य ज्योति का साक्षात्कार हमें नित्य ही मिलता है।[२] भागवत-दर्शन में रहस्यात्मक अनुभूतियों का यही आधार है। मनुष्य के प्रेम -स्निग्ध आचरण में ईश्वरीय महिमा की ही झलक हम पाते हैं। भक्त चाहे निर्गुण-भाव का साधक हो, या सगुण-रूप का उपासक, भगवान् के परम प्रेमी रूप को अवश्य स्वीकारता है। भगवान् का अनुभव-गम्य प्रेममय रूप ही श्रीमद्भागवत में रहस्यवाद का केन्द्र बिंदु है। भगवान् केवल सत्तामय या केवल चिन्मय नहीं है, चिन्मय रूप तो उनका एक अंग मात्र है, जिसे तत्त्वज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त भगवान् का एक और ऐश्वर्यमय रूप है, जिसे परमात्मा कहा जाता है, परन्तु भगवान् का जो पूर्ण रूप है, वह प्रेममय है। सगुण-मार्गी भक्तों द्वारा प्रतिपादित अवतार-सिद्धान्त भगवान् के इसी प्रेममय रूप पर आधृत है, जो असीम का सीमा में उपलब्ध करने का एक सुलभ साधन है।

प्रेम की पवित्रता

वैष्णव आचार्यों ने प्रेम की पवित्रता में ही भगवान् के वास्तविक रूप का अन्वेषण किया है। परम तत्त्व एवं श्रेष्ठतम पुरुषार्थ के रूप में ही आनंद अथवा भगवत्-प्रीति के स्वरूप का निरूपण किया गया है।[३] मानव का चरम लक्ष्य सुख की प्राप्ति एवं दुःख का विनाश होता है,जब भगवान् संतुष्ट हो जाते हैं, तभी व्यक्ति दुःख के अंतिम विनाश एवं नित्य सुख की प्राप्ति कर सकता है। जीव परमेश्वर में यथार्थ स्वरूप का ज्ञान न होने एवं ''माया''से आवृत होने के कारण उसके सत्य स्वरूप को जानने में असफल रहता है तथा आत्मगत् उपाधियों से संबंधित हो जाता है और दुःख भोगता है, किन्तु जब भगवान् के प्रति वह पवित्र प्रेम के बंधन को स्वीकार करता है, वह दुःखों का आत्यांतिक नाश करने में सफल हो जाता है। भगवान् में प्रीति द्विविध स्वरूप की हो सकती है। प्रीति भगवान् के प्रति वह स्पृहा हो सकती है, जो भगवान् के सत्य प्रत्यय विषय-ज्ञान को उत्पन्न करती है। किन्तु भगवान् में प्रीति की एक अधिक अपरोक्ष अनुभूति भी होती है, जो प्रत्यक्ष रूप से एक तीव्र भावात्मक स्वरूप की होती है. इस प्रकार की ''भक्ति'' ही ''रति'' कहलाती है, जिसका वर्णन पवित्र प्रेम के रूप में किया जाता है।[४] ''भागवत'' में वर्णित श्रीकृष्ण एवं गोपियों का प्रेम , पवित्रता की इसी कोटि का है। जो लोग इस प्रेम पर वासना का आरोपण करते हैं, भ्रान्त मतों

का प्रतिपादन करते हैं। इस संदर्भ में प्रो.रानडे का कथन है : कृष्ण का गोपियों के साथ कभी कोई वासनामय संबंध रहा हो, ऐसी कल्पना करना भी कठिन है। परवर्ती युग के रचनाकारों ने जो अध्यात्मिक जीवन की यथार्थ प्रकृति से अनभिज्ञ थे, इस असत्य का अविष्कार किया। संभव यही प्रतीत होता है कि अपने रहस्यात्मक साक्षात्कार में प्रत्येक गोपी ने भगवान के प्रत्यक्ष दर्शन किये और भगवान् ने अपने आपको उन सबके सम्मुख इस प्रकार प्रकट किया कि सबने एक ही समय उनके आनंद का उपयोग किया। यह गोपियों की सामाधिक रहस्यात्मक ब्रह्मानंद की स्थिति है। भगवान् के साथ वासनामय संबंध संभव नहीं है, और न ही रहस्यवाद में वासना के लिए कोई स्थान ही है।[५]

जीव-ब्रह्म-एकता

रहस्यवादी सम्पूर्ण प्रकृति के लीला-विलास में एक परा चेतना को अनुभव कर आनंदित होता है, साथ ही जीव और ब्रह्म की एकता पर विश्वास करता है। "भागवत" में बहुश : जीव -ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की गई है तथा पूर्ण काम अद्वैत में लीला रहस्य से आनंद प्रस्फुटन का सिद्धान्त प्रतिपादित किया गया है।[६] "भागवत" में वात्सल्य, सख्य, माधुर्य आदि जितने भावों का प्रतिपादन किया है, सभी का केन्द्र प्रपत्ति माना जाता है। प्रपत्ति की धारणा से निर्मल अंतःकरण होते-होते देहाध्यास मिटने लगता है तथा उपाधियों का त्याग करते-करते प्रत्यगात्मा और परमात्मा की एकता की प्रतीति होने लगती है, तब उस समता में सखा-भाव ओर गोपियों के पक्ष में सखी-भाव नित्य के लिए नहीं, किन्तु अल्प काल के लिए संभव है। नित्य के लिए इसलिए संभव नहीं कि संबंध द्वैतसापेक्ष्य ही होता है, अद्वैत में नहीं, किन्तु उपाधि-भेद से ही आत्म-भेद है- इसे तात्त्विक नहीं माना गया है। पुरंजन के सखा ने यही स्पष्ट किया है।[७] अतः सूक्ष्म उपाधि के रहने पर ही सखादि भाव रहेगा, उपाधि के पूर्ण विलय होने पर सभी भाव नष्ट हो जाते हैं, घट की नितांत निवृति होने पर आकाश से कोई संबंध नहीं हो सकता। किन्तु अर्जुनादि तथा गोपी आदि के भाव में एक अंतर माना जाता है , प्रथम ज्ञान स्वरूप है, जिसमें चित् की एकता है तथा द्वितीय अज्ञान स्वरूप है, जिसमें शरीर-संबंध भी है, तथापि एकता है।

भागवत में रहस्यवाद का स्वरूप

पुराण के रूप में श्रीमद्-भागवत का रचना-तंत्र ही रहस्यवादी पद्धति पर है। इस ग्रन्थ में कथाओं और संवादों का नियोजन रहस्यवादी जिज्ञासाओं के

आधार पर किया गया है। ''भागवत'' में जितने गुरू-शिष्य-रूप संवाद के रूप में सत्संग का वर्णन है, उसमें आत्म-रति तथा अनात्म-विरति साधन रूप तत्त्वों का परोक्ष या अपरोक्ष प्रत्याख्यान किया गया है। विदुर-उद्धव संवाद में श्रीकृष्ण के गोकुल मथुरा द्वारकादि के चरिताख्यानों के संबंध में जिज्ञासा की गई है, जिसके समाधान स्वरूप कथा-श्रवण का सत्संग है। बाद के अवतरणों में उद्धव जी से तत्त्वज्ञान के संबंध में जिज्ञासा की जाती है, जिसका समाधान विदुर-मैत्रेय संवाद में है। कथा-जिज्ञासा उद्धव जी से शांत होती है तथा तत्त्व जिज्ञासा मैत्रेय जी से। अतः भागवत के कथा प्रसंगों का अर्थ अवतार जीवन चरित ही नहीं होना चाहिए, प्रत्युत् इन प्रसंगों में साधक की भूमिका के अनुसार तत्त्व-कथा का भी रूप है। ''भागवत''के दशम स्कंध में शुकदेव मुनि लीला-कथा कहते हैं तो एकादश स्कंध में तत्त्व कथा उपदेश करते हैं। अतः यह सिद्ध होता है कि ''भागवत'' के सत्संग -संवाद प्राय : रहस्यात्मक एवं तत्त्वपरक ही हैं। निश्चित रूप से इसके समाधि-योग में सगुण -ध्यान का ही निर्देश किया गया है, यही स्थान सत्संग-सेवाओं का है, जिसमें लीलाचरित पहले है, तत्त्व जिज्ञासा बाद में। सगुण-रूप ध्यान सिद्ध होने पर मन उसमें स्थिर होता है, तथापि ''भागवत'' में यह निर्देश दिया गया कि मन को उससे हटा कर आकाश में लगाना चाहिए। इस तरह भागवत-दर्शन में अवतार -लीला क्रमशः भगवान की विराट् लीला में परिणत होती है और भगवान का जब माया से संबंध नहीं रहता, तब भगवान की लीला भी निवृत होजाती है। ''भागवत'' के रचना-तत्रं में इस तरह लीला -कथाओं के माध्यम से रहस्यात्मक अनुभूतियों के विकास की ही ओर संकेत किया गया है तथा अधिकांश कथाओं में जीवन का परम सत्य भगवान में खोजा गया है।

गोपी-प्रेम : रहस्यवाद का ऊर्ध्व शिखर

भागवतीय रहस्यवाद मूलतः प्रेम-तत्त्व प्रधान कहा जा सकता है। प्रेम ही साधन और साध्य दोनों माना गया है। उसी प्रकार से जैसे ज्ञान साधन और साध्य दोनों हैं - एक सत्त्व गुण रूप तथा दूसरा चित्‌तत्त्व स्वरूप, प्रथम मनोवृत्ति रूप है, द्वितीय वृत्तियों से परे हैं, दोनों प्रेमों में वैसा ही अंतर है, जैसा साधन-साध्य रूप ज्ञान में प्रथम ज्ञान का त्याग हो जाता है, वह अज्ञान का नाशक है, किन्तु द्वितीय आत्म-स्वरूप ज्ञान ''गृहण-त्याग से रहित'' नित्य सिद्ध माना गया है।[८] इसी प्रकार साधन -रूप प्रेम विषय -प्रेम का नाशक है, किन्तु तत्त्व-रूप

प्रेम अद्वैत स्वरूप है। ''भागवत'' में आत्मा को ही साध्य-स्वरूप प्रेम कहा गया है।[१] प्रियतम के प्रति हृदय की सहज गति ही प्रेम है, जैसे अपने अपने विषय के प्रति इंद्रियों की प्रवृत्तियाँ होती हैं। कामी की मनः प्रवृति कांता के प्रति होती है, धर्मार्थी की धन के प्रति, जल की निम्न स्तर के प्रति वृत्ति होती है। यह मनः प्रवृत्ति केवल प्रियतम को ही चाहती है। इसके लिए प्रियतम के अतिरिक्त अशेष विषय विषवत् ही नहीं जाते, अपितु असत् भी हो जाते। भागवतीय रहस्यवाद का यही तात्त्विक स्वरूप कहा जा सकता है, जिसमें प्रेमी को परम तत्त्व रूप से ब्रह्म लक्षित होता है, ब्रह्म के अतिरिक्त वह और कुछ नहीं देखता, प्रियतम ही उसका ब्रह्म हो जाता है। इसीलिए ब्रह्म को प्राप्त करके भी साधक ब्रह्म को नहीं माँगता, वह माँगता है केवल प्रेम। उसके लिए समस्त पूजन -विधि, उपासना आदि साधन गौण हो जाते हैं। उसके अशेष इंद्रियों के क्रिया व्यापार श्रेष्ठ के लिए ही होते हैं, उसके कर्ण उसी के गुण सुनना चाहते हैं, नेत्र उसी के दर्शन पाँव उसी की ओर हैं तथा हाथ उसी के कार्य करना चाहते हैं। इस प्रकार इंद्रियाँ सर्वत्र समवेत होकर प्रियतम का ही अनुगमन करती है, जैसे अशेष सरिताएँ सागर की ओर ही जाती है। ''भागवत''में गोपियों का प्रेम ऐसा ही है, उनकी प्रेम-प्रवृत्ति का फल श्रीकृष्ण को ही प्राप्त करना है। श्रीकृष्ण का प्रेम प्राप्त करने के लिए के अशेष दुःख को सहर्ष स्वीकार करती हैं। श्रीकृष्ण के लिए वे विश्व के निखिल वैभव को त्याग देती हैं। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की प्रबलता के कारण उन्हें सम्पूर्ण विश्व ही कृष्णमय दिखलाई देता है और दुःखों की प्रतीति ही नहीं होती। श्रीकृष्ण से इतर उन्हें किसी रस का बोध नहीं होता। गोपियाँ सर्वत्र परम प्रियतम का आनंद अनुभव करती हैं, श्रीकृष्ण की ओर ही जाती हैं, उन्हीं का सेवन -भजन चाहती हैं, चाहे लोक निंदा करे, चाहे स्तुति। जिसमें प्रियतम के आनंद की अनुपस्थिति होती है, वे सबका त्याग करती है।

भावात्मक और अभावात्मक साधन

'भागवत' में भावात्मक और अभावात्मक दोनों साधन -विषय से मुक्त होने के लिए ही हैं। भावात्मक साधन में सगुण स्वरूप के ध्यान द्वारा विषयों की ओर से मन को नियंत्रित करना होता है तथा अभावात्मक साधन में अशेष दृश्य मात्र को माया मात्र जानकर उसका त्याग करना होता है। सगुण ध्यान भी वस्तुतः प्रियतम का चिन्तन नहीं है; अपितु विषय से मुक्त होने के लिए मन को निर्विषय स्थान में ले जाने का अभ्यास मात्र है। भागवत-प्रेम की प्रथम भूमिका

के रूप से लोक-विषय-ग्राह से अपने को छुडाना सम्मुख आता है। बिना विषय-विमुक्ति के प्रियतम आत्मा की प्राप्ति हो ही नहीं सकती। अध्यात्म पथ में विषयों से मोक्ष ही ध्येय होता है तथा यही मोक्ष-स्वरूप स्थिति है। विषयों से मुक्त होने पर फिर जीव को प्रियतम के आनंद के लिए भावात्मक प्रयास भी नहीं करना पडता। श्रीकृष्ण में गोपी मनोवृत्ति है, जिसमें से विषय या काम को निकाल देने से शुद्ध चैतन्य-वृत्ति ही शेष रहती है,जिसे 'भागवत' में निर्गुण या पराभक्ति कहा गया है।[१०] इसमें भगवान् का स्वरूप सर्वात्म-स्वरूप हो जाता है। इसीलिए भागवतकार इस भक्ति या प्रेम के विषय को शुद्ध ''सत्त्व''कहते हैं।[११] इसमें भक्त के आत्म-रूप और समस्त विश्व के आत्म-रूप परमात्मा एक हो जाते हैं। प्रत्यगात्मा की परमात्मा या सर्वात्मा से अभिन्न अनुभूति ही 'भागवत'में प्रेम-समाधि है, जिसमें समस्त जीव कोश ध्वस्त हो जाता है, समस्त स्थूल-सूक्ष्म अहंकार का, देहाध्यास का नाश हो जाता है, अशेष उपाधियों का लय होकर शुद्ध चैतन्य मात्र ही शेष रहता है। इसी अवस्था में ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध होता है। ब्रह्म (श्रीकृष्ण)और आत्मा (गोपियाँ) की एकता की यह अनुभूति ही ''भागवत'' में परम प्रेम है।

प्रेम-समाधि

''भागवत'' में सगुण ध्यान का फल यद्यपि मनोनिग्रह मात्र है, तथापि इस निग्रह का फल निग्रह में ही नहीं है, अपितु सर्वत्र भगवद्-दर्शन में है। तात्त्विक समाधि तो मन की निर्विषय स्थिति होती है। यह ज्ञानमयी स्थिति नहीं है, किन्तु इसे सुषुप्तिवत् अज्ञानमयी स्थिति भी नहीं कह सकते, यह निग्रहात्मक अथवा प्रपंचों से अभावात्मक स्थिति है। इसमें जल के भीतर कमलपत्रवत साधक की स्थिति नहीं होती। जल के भीतर कमल पत्रवत् स्थिति ज्ञान से होती है, जिसे प्राप्त करने के लिए समाधि आदि निग्रहात्मक साधन का अनुसरण किया जाता है। भागवतोक्त प्रेम-समाधि इससे भिन्न स्थिति होती है। कुछ न देखना (तात्त्विक समाधि)सिद्धि नहीं, अपितु सब कुछ आत्मा-भाव से देखना (प्रेम-समाधि) सिद्धि है। भागवत-दर्शन में सर्वत्र आत्म-भाव सबको भगवद्-भाव से देखना, सर्वत्र भगवान् है, ऐसा देखना ही वास्तव में समाधि है। इसमें द्वैत का आत्यंतिक लय हो जाता है, सम्पूर्ण संसार असद् और एकमेव भगवान् ही सद् हो जाते हैं। अशेष दृश्य-अदृश्य विषय आत्मा ही है-ऐसा आत्मभाव भागवतोक्त समभाव है। यह सम-भाव अद्वैतभाव ही जीवित जागृत समाधि है,

सगुण ध्यान का फल है। सर्वत्र आत्म-दर्शन होने पर प्रेम और परमानंद अपनी सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं, जैसे प्रियतम को प्राप्त करने पर लोक में होता है, किन्तु लोक का प्रियतम परिच्छिन्न होता है, अतः लोक का प्रेमानंद भी परिच्छिन्न माना जाता है, अतः वह विकारग्रस्त है, नश्वर है, किन्तु जब प्रियतम नित्य अपरिच्छिन्न सर्वव्यापी हो जाता है, तो प्रेमानंद भी अपरिच्छिन्न,सदैव, सर्वत्र, अमृत, अविकारी, एकरस हो जाता है। यहाँ विधि निषेध की कोई सीमा नहीं होती। विधि-निषेध तो द्वैत जगत के नियम हैं, अद्वैत जगत में यह अस्तित्व रहित है। प्रेम-समाधि रूप अद्वैत-भाव में विधि-निषेध, प्रवृत्ति-निवृत्ति, राग-द्वैष, हेयोपादेय आदि अशेष द्वन्द्वों की आत्यांतिक निवृत्ति हो जाती है।

सर्वात्म -भाव-और सदाचार

भागवतोक्त परम प्रेम में विलक्षण सक्रियता और सर्जनात्मकता होती है। सर्वत्र आत्म-भाव की स्थिति में पुरूष निष्क्रिय नहीं हो जाता, वह पुण्याचारी और पापाचारी-दोनों भी नहीं होता। ऐसा महापुरुष स्वभाव से ही सदाचारी होता है, वह विश्व की आत्मा हो जाता है। वैसे ही जैसे लोक-पुरुष अपनी देह की आत्मा होता है। विश्वात्मा महापुरुष स्वभावतः सदाचारी ही होता है। उसका कोप, काम, दंड, समस्त सक्रियता, लोकवत् आचरण लोक-कल्याणार्थ ही होता है। वस्तुतः यह लोक-कल्याण भी उसकी दृष्टि में नहीं होता। उसकी दृष्टि में तो स्वेतर लोक की सत्ता ही नहीं है,अतः तत्कल्याण भी नहीं कहा जा सकता। इसलिए यह आत्म कल्याण भी नहीं है, क्योंकि आत्मा के लिए हानिकारक कोई तत्त्व नहीं है, जिसके प्रतिकार स्वरूप आत्म-कल्याण किया जाय। तथापि 'भागवत' में लोकदृष्टि से ''लोक-कल्याण'' पद का प्रयोग किया गया है। विश्वात्मा महापुरुष की अशेष क्रियायें निखिल सर्जनात्मकता बिना निमित्त के होती हैं, स्व-चैतन्य स्वरूप होती हैं, हानि-लाभ की इसमें कोई अपेक्षा नहीं होती।[१२] यह सब आत्म-विलास है, स्वरूप है, इस आत्म-विलास के लिए ही 'भागवत'में लोक-दृष्टि से ही लीलादि पदों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः विलासादि समस्त क्रियायें भी उस महापुरुष की नहीं होती। जो कुछ भी उसमें लक्षित होता है, वह सब केवल वही महापुरुष है, जिसके रूप को परिच्छिन्न दृष्टि से देखने वाला लोक-पुरुष अपनी आत्मा की उपाधि के अनुसार नाना नाम-रूप प्रदान करता है।

स्वरूप की अभिव्यक्ति

वाणी से उस महापुरूष के स्वरूप का वस्तुतः वर्णन नहीं हो सकता,

क्योंकि वाणी द्वैतविषय का ही वर्णन कर सकती है। यह वाणी द्वैतमयी भाषा में ही अद्वैत को स्पष्ट करने का प्रयास करती है। वाणी अंश का ही निरूपण करती है। सर्वांश का नहीं। अतः महापुरूष के स्वरूप के विषय में अनुभव का ही प्रमाण माना जाता है, वाणी की वही दशा होती है, जो नमक में जल की। सर्वात्म के विषय में लौकिक पुरूष को समझाया नहीं जा सकता, क्योंकि ब्रह्म में एक साथ विरुद्ध भाव की प्रतीति होती है। वह भोग भी करता है, किन्तु भोगी नहीं, कर्म करता है, किन्तु कर्ता नहीं।[१३] तर्क-बुद्धि से सब विरोधाभास है, किन्तु आत्म-भाव में यह सब स्वरूप की अहैतुकी अभिव्यक्ति मानी जाती है।[१४] महात्मा के सारे क्रिया-कलाप आत्मा में आत्मा के लिए ही होते हैं, इसीलिए भगवान् की सारी सृष्टि-क्रिया का वर्णन किया गया है।[१५] सर्वात्म भगवान के दर्शन करने वाले महात्मा को ही भागवत में ''आत्माराम''कहा गया है।[१६]

प्रेम और अद्वयानुभूति

भागवत-दर्शन का रहस्यवाद प्रेम और अद्वयानुभूति का सिद्धान्त लेकर चलता है। आत्म-दर्शन में ही प्रेम की पराकाष्ठा मानी गई है। वास्तव-प्रेम से ही भगवान का सही दर्शन होता है और बिना सही दर्शन के प्रेम हो ही नहीं सकता। यही भागवत में प्रेमाद्वैत तत्त्व है।[१७] यह प्रेमाद्वैत तत्त्व सर्वत्र आत्मानुभूति रूप है। इस प्रेम और आत्म-ज्ञान में कोई अंतर नहीं है। लोक लौकिक ढंग से भक्ति का स्वरूप समझाने के लिए ही 'भागवत' में प्रेम का उदाहरण, गोपी-अभिसार के रूप में प्रस्तुत किया गया है। लोक-भाषा में जो प्रेम है, वह अध्यात्म-शास्त्र में भक्ति ही है, इसीलिए ''भागवत''में अधिकांशत : भक्ति पद का ही प्रयोग किया गया है।प्रेम-पद प्रयोग में भक्ति का ही पर्याय माना गया है। सहजा-भक्ति को ही ''भागवत'' में प्रेम-पद-प्रयोग से स्पष्ट किया गया है, फिर इस ''प्रेम'' से उपासना की भी व्याख्या की गई है। इस प्रकार भागवतीय रहस्यवाद में प्रेम और पराभक्ति को एक ही माना गया है,और संभवतः इसी दृष्टि से गौडीय आचार्य प्रेम की ही साध्य तत्त्व मानते हैं।[१८]

निष्कर्ष

श्रीमद्भागवत में रहस्यवादी तत्त्वों का विकास उसके भक्ति-सिद्धान्त के समानान्तर ही हुआ है। यही कारण है,'शांडिल्य-भक्ति-सूत्र' और 'नारद-भक्ति सूत्र' के समान ही श्रीमद्भागवत को भी मूलतः एक रहस्यवादी ग्रन्थ के रूप समादृत किया जाता है। प्रोफेसर रानडे ने ''भागवत'' को भारत के प्राचीन

रहस्यवादियों के वर्णन एवं भावोद्गारों का भंडार कहा है।[१९] इस ग्रन्थ में बहुशः चरित्र रहस्यवादी साधक के रूप में ही चित्रित किए गए हैं। राजकुमार ध्रुव, भक्त प्रल्हाद आदि उच्च कोटि के रहस्यवादी साधक माने जाते हैं। ध्रुव अपनी विमाता से अपमानित होकर राज्य और संसार का परित्याग करता है। अपमान से संतप्त होकर वह वन-गमन करता है, जहाँ अध्यात्मिक शिक्षक के रूप में उसे नारद जी मिलते हैं, जिनसे वह भागवत-धर्म का ज्ञान प्राप्त कर परम तत्त्व का साक्षात्कार करने में सफल होता है। भक्त प्रल्हाद का भगवत्-प्रेम अनेकश विपत्तियों के बीच भी अक्षुण्ण बना रहता है। अग्नि से जलाए जाने पर, पहाड से गिराये जाने पर भी उसकी भक्ति-भावना अविचलित रहती है और वह सर्वात्म-दर्शन में सिद्ध होता है। भगवद्-दर्शन होने पर उसने कुछ न माँग कर यही वर माँगा कि उसमें कभी कोई इच्छा न उत्पन्न न हो-वह सर्वदा निष्काम बना रहे।[२०] उद्धव भगवान के मित्र हैं, जिनकी रहस्यवादी अनुभूतियाँ अत्यंत उच्च कोटि की है। कुब्जा पहले श्रीकृष्ण के प्रति वासनामय प्रेम से आकृष्ट होती है, परन्तु श्रीकृष्ण उसकी वासना की पंकिलता को नष्ट कर उसे परम प्रेम की पवित्रता प्रदान करते हैं। अंततः वह भगवान को प्राप्त होती है। समुद्र में ग्रह द्वारा ग्रसित वह गजराज जिसने आर्त होकर भगवान को पुकारा, एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है कि किस प्रकार मूक, ज्ञानहीन, जड़बुद्धि पशु की भक्ति से रक्षा होती है और भगवान उसके संकट-काल में आकार उस पर भी अनुग्रह करते हैं। निर्धन भक्त सुदामा, जिसके पास दो मुट्ठी तंदुलों के अतिरिक्त कृष्णार्पण करने को कुछ नहीं था, भगवान से वर प्राप्त कर सुवर्ण नगरी का अधिपति बन गया, भी उत्तम कोटि का रहस्यवादी साधक है। अधम, पातकी अजामिल,जो निम्नजाति की स्त्री के प्रति आसक्त था, मृत्यु के समय भगवान के नामोच्चार मात्र से सिद्धि-लाभ करता है, रहस्यवाद की भूमिका ही प्रस्तुत करता है। ऋषभदेव उस कोटि के रहस्यवादी हैं, जिनकी पूर्ण-आत्म-विस्मृति उनके भगवत् साक्षात्कार का प्रमाण प्रस्तुत करती है। वे पृथ्वी का साम्राज्य अपने पुत्र भरत को सौंप कर मूक-बधिर अवधूत की तरह संसार से निर्लिप्त होकर अभ्यारण्यो में भ्रमण करते हैं। लोगों ने उन्हें हर तरह से अपमानित किया, किन्तु वे अपनी साधना से स्खलित नहीं हुए और सतत् समाधि-भाव को प्राप्त हुए। अंततः दावाग्नि में उन्होंने अपने आपको समर्पित कर दिया। 'भागवत' में दत्तात्रेय भी उच्च कोटि के रहस्यवादी साधक हैं, जो अपने चौवीस गुरूओं से विभिन्न प्रकार के गुण ग्रहण करते हैं, जैसे पृथ्वी से क्षमा, सागर

से गांभीर्य, वन से परोपकार तथा वायु से अनासक्ति आदि। इन विभिन्न गुणों का वे स्वयं अपने जीवन में समन्वय भी करते हैं। शुकदेव मुनि, जो भागवत के दार्शनिक रहस्यवादी सिद्धान्तों के प्रवक्ता हैं, स्वयं एक उच्च कोटि के रहस्यवादी हैं, जो उस दर्शन को व्यवहृत भी करते हैं, जिसकी वे शिक्षा देते हैं। उनके रहस्यवादी उद्गारों से ही श्रीमद्भागवत की रचना हुई है। 'भागवत' के दशम स्कंध के अष्टम् अध्याय में उनकी वे शिक्षाएँ निहित हैं, जिनमें वास्तविक रहस्यवादी जीवन के लिए अपेक्षित भक्ति, अध्यात्मिक शिक्षक, सत्संग आदि की आवश्यकता प्रतिपादित की गई है।

द्वारा-डॉ.रामदास शर्मा **विजयकुमार शर्मा**
पुरानी बस्ती, कायस्थ पारा,
रायपुर, (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. डॉ. रामनारायण पांडेय **भक्ति काव्य में रहस्यवाद** २०
२. डॉ.हजारी प्रसाद द्विवेदी, **वही**,भूमिका -६७
३. जीवगोस्वामीः 'षड्संदर्भ' के अन्तर्गत **प्रीति-संदर्भ**
४. भगवद्विषयानुकूल्यात्मकर-तदनुगत स्पृहादिमयो ज्ञान विशेष तत्प्रीति -**वही, प्रीति -संदर्भ**
५. प्रो.रानडे **मिस्टिसिज्म इन महाराष्ट्र**।
६. **भागवत** -४-२८-६२,-४-२२-३७
७. **वही**, ३१७-२-७
८. न गृह्यते नापि विसृज्यते -**वही**, ११-२८-३३
९. **वही**, १-२-११, ११-२७-२५, ११-२६-११
१०. **वही**, ३-२५-३२-३३, ३-२९-१२
११. **वही**, ३-२३-३२
१२. **वही**, ११-७-११-१२, ११-१८-३६
१३. **तुलनीय** -बिनु पग चलहिं, सुनहि बिनु काना,
बिनु करहिं करम विधि नाना ।
आनन रहित सकल रस भोगी,
बिनु बानी वक्ता बड़ा जोगी ।। तुलसीदास

१४. डॉ. राम तिवारी- **श्रीमत्भागवत में प्रेम तत्त्व**-३४६
१५. **भागवत,** ११-२८-६
१६. **वही**, ६-१६-४०, ११-२०-२३-३०-४४
१७. (अ) सोऽस्मि ४-२२-३७ (ब) तवमेवात्म ४-२८-६२
(स) परात्मैक दर्शनम् ६-१६-६३
१८. डॉ. राम तिवारी
१९. प्रो. रानडे -८
२०. **भागवत**- ८-८-१०

परामर्श (हिंदी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से संबंधित विवरण (फॉर्म ४ नियम ८ देखें)

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिये)

१. प्रकाशन स्थान	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७.
२. प्रकाशन अवधि	:	त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
५. संपादकों के नाम, पता और राष्ट्रीयता	:	डॉ. सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७ भारतीय.
६. उन व्यक्तियों/संस्थाओं के नाम और पते जो समाचार पत्र के स्वामी हो	:	दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७

मैं सुभाषचन्द्र एकनाथ भेलके एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य हैं।

सुभाषचन्द्र भेलके

श्रीभगवद्गीता में-उदात्तता

Sublime अर्थात् विराट-उदात्त-अद्भुत यह सौंदर्यशास्त्र में प्रचलित ऐसी एक संकल्पना होने के कारण सर्वप्रथम जैसे 'सुदंर वस्तुसे हमें आनंद मिलना चाहिए' यह नियम यहाँ भी लागू होता है। किंतु सुंदर वस्तुसे जो आनंद प्राप्त होता है वह सुख पर आधारित होता है, जबकि विराटता, उदात्तता से जो आनंद मिलता है वह दुःख, या भय आदि पर आधारित होता है। अर्थात् यहाँ आनंद याने उस में पूरी तरह से समा जाना होता है।

सुख की दशा में मनुष्य हर चीज से बेखबर होता है लेकिन एक हलका सा दुःख उसे अपने के बाहर की याद दिला देता है। इसीलिए दुःख में ''अरे बाप रे!'', ''ओ माँ!'' ''हे भगवान!'' जैसे उद्‌गार निकलते हैं। और जब यही दुःख अत्यंत उग्र रूप धारण करता है तब उसे स्वयं को बचाने की भावना और अपने भीतर की अपूर्णता की भावना, अपने से बाहर की अपरिमित शक्ति का अहसास दिलाती है, जो सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ है। जिसका अनुभव तो उसे नहीं होता किंतु वह अपने मन में उसकी कल्पना कर सकता है। जैसे एक-एक अंश को जोड के पूरी समष्टि होती है। जब कोई भी बात अपने अनुभव की अपेक्षा परिमाण में विस्तरित, ये बड़ी होती हैं। तब वह शक्ति में भी महान् होती है, कारण भय की भावना जागृत होती है। क्योंकि नित्य अनुभवों में ऐसा कुछ नहीं होता। 'हेगेल' के अनुसार विराट, सुंदरता की दहलीजपर होता है, जहाँ अनुभव की सीमारेखा खत्म होती है वहाँ से विराट की शुरूआत होती है। तब उसमें भय, आश्चर्य आदि भावनाएँ जागृत होती हैं। ऐसी घटनाओंसे हम आकर्षित तो जरूर होते हैं लेकिन उसके प्रति भय और उससे दूर जाने की इच्छा भी होती है। फिर भी हम उससे दूर नहीं जा पाते।

हमारे सभी अनुभवों की समष्टि जो व्यावहारिक धरातल पर संभव नहीं होती किंतु कल्पना में हो सकती है। इसीलिए विराटता का वास हमेशा मनुष्य मे मन में होता है। प्रकृति का हमारा अनुभव उस समष्टिका एक अंश होता है, जो हमें उद्दीपित करता है। और दूसरी ऐसी बातों का आनंद लेने के लिए हमें उसका घटक नहीं होना चाहिए। क्योंकि शुद्ध आनंद आस्थानिरपेक्ष होता है। वह हमेशा कला में या फिर मनुष्य के मन में वास करता है। मन की कल्पनाओं को तंत्र से जोडने से कला की निर्मिति होती है। इसीलीए विराटता को हम परदे पर

या, काव्य में और साहित्य में दिखा सकते हैं। ऐसा ही एक रूप 'भगवद्गीता' में हमें दिखाई देता है जिसका मैं यहाँ उल्लेख करना चाहूँगी।

किसी भी वस्तु या घटना का तीव्र प्रगटीकरण या व्यक्तीकरण उस वस्तु या घटना की सौम्यता , जो कि सुंदरता का प्रमुख लक्षण है, नष्ट करती है।किसी नदी के पानी का झर-झर बहना आल्हाददायक लगता है। किंतु वही नदी का पानी जब रौद्र रूप धारण करता है, या अपनी सीमाओंका उल्लंघन करता है तब वह दृश्य देख कर हमारे मन में शुद्ध आनंद की भावना का निर्माण न होकर भय की भावना जागृत होती है, और प्रकृति की महान् शक्ति एवं सामर्थ्य का हमें अनुभव होता है। प्रकृति की इस अनिवार्य एवं अबाधित शक्ति से हमें 'प्रकृति के हाथ की कठपुतली होने का, दुर्बल होने का अहसास होता है और साथ ही उसमें आदरयुक्त भय की भावना अंतर्भूत होती है।

श्रीकृष्ण का विश्वरूप भी इसीप्रकार का एक तीव्र प्रगटीकरण या व्यक्तीकरण है। यह असामान्य और अपरिमित रूप देखकर अर्जुन चकित हो गडबडा गया और तब उसके मन में भी श्रीकृष्ण के प्रति आदरयुक्त भय की भावना जागृत हो गई।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥ भ.गी.११-१०

उपर्युक्त पंक्तियों में अर्जुन ने उस विश्वरूप में असंख्य मुख और असंख्य नेत्र देखे। और वह विश्वरूप अनेकानेक दिव्य, तेजस्वी अलंकारों से विभूषित और अनेक दिव्य वस्त्रोंसे सुशोभित था। वह विश्वरूप प्रचंड, अपरिमित सर्वव्यापी और अनंत था। सामान्यरूप से अनुभव न आनेवाली बातों का अनुभव अर्जुन को उस विश्वरूप के दर्शनसे प्राप्त हुआ जो पूरी तरह आश्चर्य से परिपूर्ण था।

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहुरूपादम्।
बहुदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोका :प्रव्यथितास्तथाहम् भ.गी.११-२३

उपर्युक्त पंक्तिओं के द्वारा अर्थात् जिसे असंख्य मुख एवं आँखें हैं, जिसे असंख्य बाहु और जांघ तथा पैर हैं, और उसके बहुत सारे पेट हैं। तथा अनेक दातों की वजह से वह बहुत ही भयानक दिखाई दे रहा था। ऐसा असामान्य एवं भयानक रूप देखकर अर्जुन व्यथित और भयभीत हो उठा था। परंतु यह डर वास्तविक न होकर उसके स्थान पर अर्जुन को अपनी दुर्बलता और श्रीकृष्ण की अपरिमित सामर्थ्य के कारण मन में आदरयुक्त भय की भावना पैदा हुई थी। यह

भावना भी किसी 'विराट' या उदात्त के दर्शन से निर्मित भावना जैसी होकर भी वास्तविक भय की भावना नहीं होती।

मान लो, बडे जोर से हवा चल रही है, बादलों की गडगडाहट के साथ बिजली चमक रही है और मूसलाधार वर्षा हो रही है, जिसके कारण रास्ते की व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गयी है। यह दृश्य जब हम अपने घर में बैठकर देखते हैं अथवा हम उस परिस्थिति का शिकार नहीं हैं। उसी तरह से यदि उस परिस्थिति का हमपर प्रत्यक्ष परिणाम न हो रहा है तब हमारे मन में जो भय, या डर की भावना जागृत होती है वह केवल भय की भावना नहीं होती, उसे ही हम विराटता या उदात्तता की भावना कह सकते हैं। जिसमें हमें प्रकृति के अबाधित, सामान्य, प्रचंड सामर्थ्य अथवा शक्ति का अनुभव होता है। उस समय जिस भावना का निर्माण होता है वह आदारयुक्त भय की भावना होती है। या यों कहिए कि जिस प्रकार कोई मनुष्य किसी द्वीपपर खड़ा हो और पानी ही पानी फैला हुआ हो ऐसी परिस्थिति में उस व्यक्ति के मन में बेचैन करने वाली भावनाएँ उत्पन्न होंगी। उसे दिशाओंका ज्ञान नहीं हो पाएगा। और जबतक वह इस परिस्थिति से बाहर नहीं आएगा तब तक उसे शुद्ध सुख या आनंद का अनुभव नहीं पायेगा। उसी तरह जैसे पहले भी देखा नहीं, जिसका अनुभव किया नहीं ऐसा अनिर्बंध, अमर्याद और असामान्य विश्वरूप देखकर अर्जुन के मन में आनंद की अनुभूति तो होती है किंतु यह आनंद शुद्ध नहीं था, उसमें भय और व्याकुलता की भावनाएँ भी अंतर्भूत थी। जिसके कारण वह श्रीकृष्ण को अपना पहला रूप प्रकट करने की बिनती करता है। इससे यह स्पष्ट होता है की इस विश्वरूप से आकृष्ट होने के बावजूद भी वह उससे दूर जाने की इच्छा कर रहा था।

इसी तरह का भयमिश्रित आनंद हमें विराटता के अनुभव में भी होता है। यह सच है कि हम विराट चीजों की तरफ आकृष्ट होते हैं, किन्तु हम उनसे दूर जाने की इच्छा भी करते हैं। अर्थात् उसमें आनंद के साथ आनंदविरोधी भावना का भी मिश्रण रहता है। जिसे हम नकारयुक्त आनंद भी कह सकतें हैं। जैसे बाढ आई हुई नदी में एक नाव फँसी हुई है, और हम उस परिस्थिति का शिकार न होकर दूर से यह दृश्य देखते हैं तब हमारे मन में इसी तरह की भावनाएँ जागृत होती हैं। हमारे मन में आनंद की भावना जागृत होती है क्योंकि हमें इसका ज्ञान होता है कि इस भयानक परिस्थिति का हम शिकार नहीं हैं,

और दूसरे प्रकृति की इस अनिर्बंध शक्ति की अनुभूति हमारे मन में भय जागृत करती है।

इसी तरहका अनुभव हमें तब होता है जब हम प्रकृति के रौद्र रूप का, जैसे - भूकंप, नदी में बाढ, समंदर में तूफान आदि का अनुभव करते हैं। किंतु प्रकृति की इन घटनाओं का संपूर्ण दर्शन होना संभव नहीं होता। क्योंकि मनुष्य की पाचों ज्ञानेंद्रियोंकी क्षमता की कुछ सीमाएँ होती हैं। इंद्रियों की क्षमता की मदद से हमें विशिष्ट और सान्त, मर्यादित घटनाओं, या चीजों का ही ज्ञान हो सकता है। परंतु कुछ घटनाएँ अथवा कुछ चीजें इन मर्यादाओं के परे समाष्टि के रूप में, अमर्यादित, अनंत रूप में होती हैं उनका प्रत्यक्ष अनुभव इन ज्ञानेंद्रियोंसे होना संभव नहीं होता है।

अर्जुन को जिस विश्वरूप का दर्शन हुआ वह इतना भव्य, दिव्य और विराट था कि उसका वर्णन अगली पंक्तियों में स्पष्ट होता है। जैसे

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्त त्वयैकेन दिशाश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमुग्रं तवेदं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्॥ भ.गी.११-२०

वह रूप इतना भव्य, प्रचंड, एवं अपरिमित था कि उसने पृथ्वी और आकाश के बीच की दूरी को घेर लिया था। इसलिये वह रूप प्रचंड, अद्भुत और भयंकर दीख रहा था, जिसे देखकर अर्जुन व्यथित हुआ।

विराटता के अनुभव के बारे में भी हम ऐसा कह सकते हैं। जिस प्रकार तूफान में घिरा हुआ सागर जब हम देखते हैं तब हमारी आँखों के सामने बहुत दूरतक समंदर ही दिखाई देता है, समंदर के इस खौंफनाक एवं रौद्र रूप को देखक हमारे मन में थोडे से भय एवं उत्तेजना की भावना जागृत होती है। और समंदर के पानी ने पूरी सृष्टि को घेर किया है ऐसा आभास होता है। क्योंकि हमारी पांचों ज्ञानेंद्रियों की जितनी क्षमता होती है उतना ही हमें अनुभव होता है। किंतु हमारा मन उसके परे जो अमर्यादित समग्र (totality) है उसकी कल्पना कर सकता है। वहीं विराटता का अनुभव होता है।

विराटता या उदात्तता का संबंध पूर्णता से होता है। इस अनंत समाविष्ट का विस्तार अतुलनीय होता है। अनंत का विस्तार प्रत्येक चीज से बडा एवं उदात्त होता है। जहां अनिर्बंध, अमर्यादित, प्रचंड प्रकृतिका रूप दिखाई देता है वहीं विराटता या उदात्तता का अनुभव होता है। किंतु कुछ संकल्पनाएँ इतनी बडी, दिव्य या भव्य होती हैं जिसको दृश्य रूप देना संभव नहीं होता,

और ऐसा ही प्रयन्त यदि हम करें तो उसकी प्रचंडता के कारण उस दृश्य रूप का अनुभव करना हमारी इंद्रियोंके लिए कठीन हो जाता है। इसी तरह श्रीकृष्ण का यह दिव्यरूप, विश्वरूप अतुलनीय है और यदि उसकी तुलना करनी हो तो स्वयं उसीसे ही करनी पडेगी। ऐसा ही अनुभव अर्जुन को श्रीकृष्ण का विश्वरूप देखते समय हुआ। अर्जुन ने श्रीकृष्ण का जो विश्वरूप देखा वह रूप आदि, मध्य और अन्त से रहित था। उसकी शक्ति अपार, प्रचंड हैं और उसके असंख्य बाहू एवं असंख्य आँखें थीं, जिनमें चन्द्र और सूर्य दो आँखें हैं। उसका मुख अग्नि के समान देदिप्यमान और प्रकाशमान था। जिसके तेजसे सपूर्ण पृथ्वी तप्त हुई थी। यह जो रूप था उसका आदि, मध्य और अन्त नहीं था, अर्थात् वह अनंत अमर्यादित था जिसका अनुभव अर्जुन अपनी इंद्रियों द्वारा नहीं ले पा रहा था। इसीलिए श्रीकृष्ण ने उन्हें दिव्य दृष्टि प्रदान की थी किंतु फिर भी अर्जुन वह दिव्य रूप अधिक समय तक नहीं देख पाया।

विराटता का दर्शन हर किसीको नहीं हो सकता है। उसके लिए आवश्यक क्षमता प्राप्त करने के लिए मनुष्य को संस्कृति की चरम दशा को प्राप्त करना पड़ता है। अपनी आत्मिक शक्ति को भी उन्नत करना पडता है। साथ ही उसके किए अपनी दृष्टि को भी संस्कारित होना आवश्यक है। विराटता के अनुभव में हम ऐंद्रियता की अपेक्षा, अतींद्रियता को अधिक महत्त्व देते हैं। ऐंद्रिय शक्ति मर्यादित होती है, वह ऐंद्रिय जगत् के बाहर नहीं जा सकती। जिस प्रकार प्रकृति की प्रचंड शक्ति के अनुभव में हम उसकी परिपूर्णता का, समष्टि का एक अंश देखते हैं। समष्टि का अनुभव हमें हो ही नहीं पाता। हम केवल उसकी कल्पना के माध्यम से अप्रत्यक्ष अनुभव तो कर सकते हैं लेकिन प्रत्यक्ष नहीं। किंतु उसके लिए भी विशिष्ट आत्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है जिसका आधार संस्कृति है।

विश्वरूप दर्शन के बारे में भी ऐसे ही कहा जाता है कि मनुष्य अपनी भौतिक ज्ञानेंद्रियों के द्वारा श्रीकृष्ण के विश्वरूप को देख नहीं पाता, उसका कहना सुन नहीं सकता, उसका ज्ञान मनुष्य को नहीं हो सकता उसी प्रकार उसका अनुभव भी नहीं कर सकता। इसीलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को दिव्य दृष्टि प्रदान की। श्रीकृष्ण द्वारा प्राप्त दिव्य दृष्टि से अर्जुन उस विश्वरूप को देख सके। जिसमें उन्होनें एकही स्थान पर बैठकर वर्तमानकाल, एवं भविष्यकाल की घटनाओंका अनुभव किया। और उस दिव्य दृष्टि के कारण उसे संपूर्ण ब्रह्माण्ड

याने की समाष्टि के दर्शन का अथवा उसके अनुभव का सामर्थ्य प्राप्त हुआ था।

उपर्युक्त श्लोकों के अध्ययन के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विराटता का आशय भौतिकता को ही विस्तारित करना है और यह विस्तार विवर्त के समान होता है। विवर्त का अर्थ याने जिस प्रकार पानी में पत्थर डालने पर जो गोलाकार वृत्त बनते जाते हैं। ये विवर्त के वलय अस्पष्ट होते जाते हैं। अर्थात् हमारी ज्ञान-कक्षाओं के परे जाते हैं किंतु हम उसकी कल्पना कर सकते हैं। हमारे मन को इंद्रियों की मर्यादएँ नहीं होती। जिस प्रकार एक छोटे से परदे पर अपनी कल्पना, कुछ तंत्र के और प्रकाश योजना की सहाय्यता से जो एक रूप दिखाया जाता है वह भी एक दृष्टि से हिप्नोटिझम ही है क्योंकि हम छोटेसे परदे पर वह भव्य रूप देखकर भयभीत हो जाते हैं।

भौतिक अर्थात् ऐहिक सुखों के पीछे भागनेवाले को केवल परिमाण की, याने की मात्रा की विराटता दिख सकती हैं, उसके परे वह नहीं देख सकता।

नागपूर विश्वविद्यालय
नागपूर

श्रीमती सुनीति इंगळे

ग्रंथ समीक्षा

गौतम सत्यपाल, समाजदर्शन, हरियाणा साहित्य अकादमी चण्डीगढ १९९१, पृ. १६४, रु.४०/-

भारत जैसे विशाल देश में अत्यधिक जनसंख्या के होते हुए भी मौलिक चिन्तन के तथा उच्च बौद्धिक ऊहापोह के ग्रंथ भारतीय भाषाओंमें कम ही लिखे जाते हैं। लेकिन शासन यंत्रणाओं के प्रोत्साहन से इस कमी को पूरा करने की कोशिशों के फलस्वरूप कुछ ग्रंथ भारतीय भाषाओंमें प्रकाशित हो रहे हैं। इन्हीं में एक है डॉ. सत्यपाल गौतम का 'समाजदर्शन'। वस्तुतः यह विषय अत्यंत व्यापक एवं संश्लिष्ट है। इस में एकाध पुस्तक लिखने पर अनेकों कमियाँ दिखाना स्वाभाविक एवं सुलभ होगा। अतः विषय-व्यापकता की मर्यादाओंको ध्यान में रखते हुए हमें ऐसी पुस्तकोंपर सोचना है।

सद्यःकालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा नैतिक समस्याओंपर सोचने के लिए वैचारिक आधारभूमि का होना अवश्यंभावी है। और मौलिक तत्त्वों, मूल्यों एवं सिद्धान्तोंके विमर्श से ही यह भूमि बन सकती है। भारतीयता के आधुनिक परिवेश में अनेकों समस्याएँ महत्त्वपूर्ण एवं मूलगामी होने पर भी हमें उन में से कुछ चुननी पडती हैं। तदनुसार डॉ. सत्यपाल गौतम ने कुछ समस्याओंका चयन करके उनपर अपने विचार प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः हमारी समस्याएँ हमारी अर्थव्यवस्था, मानसिकता और जीवन के प्रति हमारे दृष्टिकोण से जुडी हुई हैं। जनसंख्या एक ऐसी घटना बन चुकी है जो किसी भी परिवेश को कठीन समस्या में बदल डालती है। फिर भी दार्शनिकता की भूमिका लेने के नाम से हम इन असलियतों से परे जाकर अमूर्त-व्यवसाय में समस्या संचयन के व्यापार में जुटे रहते हैं। वास्तविकता यह है कि इस भूमि के दार्शनिक, वैज्ञानिक एवं विचारक इस भूमि के उपजाऊपन को देखे बिना ही कम फसल के कारणों की खोज में आसमान के तारे गिनने लग जाते हैं। डॉ. गौतम अपने प्रथम अध्याय में हमारी वास्तविक समस्याओंकी एक सूचि अवश्य बनाते हैं (पृ.१९) लेकिन उनके मूल में जाकर उनपर विचार करने के निमित्त दर्शन की अमूर्त कल्पनाओं, सिद्धान्तों एवं मूल्यों का ऊहापोह करने में मग्न हो जाते हैं। प्रचलित दार्शनिक विंधा के अनुसार यह एक स्तुत्य प्रयास है। लेकिन मौलिक चिन्तन की प्रेरणा से प्रेरित विचारक पूछ सकते हैं कि इस विधा से हम क्या पाएँगे ? इस चुनौती का

मुकाबला करने की ताक में बैठे विचारकों तथा अध्येताओं का समाधान कठीनही लगता है।

अपनी भूमिका को प्रस्तुत करते हुए लेखक कुछ महत्त्वपूर्ण समस्याओंपर अपना विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए समता, स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता, समाजवाद, लोकतंत्र और सामाजिक न्याय तथा राजनैतिक कर्म इन छः समस्याओं का निरूपण छः अध्यायों में करते हैं। समता का विचार प्रस्तुत करने के लिए लेखक व्यापक संदर्भ लेते हैं जिसमें भारतीय समाज के परंपरागत दृष्टिकोन से लेकर सद्यःकालीन पक्षीय राजनीतिजन्य परिस्थिति तक के मद्दे सम्मिलित हैं। इन समस्याओंसे जुडे जो तत्त्व, वाद या प्रणालियाँ हैं उन के ऐतिहासिक आलेख से अवगत कराते हुए लेखक अपना विवेचन प्रस्तुत करते हैं। यदापि संदर्भ भारतीय है, करीबन सभी मौलिक कल्पनाएँ या तत्त्व पश्चिमी परंपराप्राप्त होने के कारण पाश्चिमात्य दर्शन की पृष्ठभूमि पर ही यह विवेचन होता रहता है।

समता की समस्या का विवेचन करते हुए, भारतीय संदर्भ होने के कारण, लेखक को जातिव्यवस्था एवं वर्णव्यवस्था को केंद्र में रखकर उस से उत्पन्न व्यवस्था को विषमता के रूप में स्वीकार करना पडा है। किसी एक व्यवस्था की प्रस्थापना के फलस्वरूप समाज रचना में स्तरीकरण पैदा होना एक बात है और किसी लाभ हेतु अन्यों को वंचित रखने के लिए विषमता का प्रवेश और बात है। शायद इस भेद के महत्त्व को गौर करने का समय आया है। क्योंकि समता यह न तो एक रम्य कविकल्पना है या न ही कोई लुभावना दिवास्वप्न। और समता के स्वीकार के लिए हम व्यवस्था की कीमत चुकाने के लिये भी कितने तैयार हैं ? इस बात पर सोचना जरूरी है। ऐसे प्रश्न लेखक के विवेचनसे मन में अवश्य उठते हैं। फिर भी लेखक का व्यावहारिक उपायोजन के सुझाव का प्रयास विचारणीय एवं प्रयोगशील लगता है।

समता का आशय स्वतंत्रता को समझे बिना अधूरा है। अतः स्वतंत्रता सब से महत्त्वपूर्ण समस्या है जो किसी भी समाज दर्शन का आधार बनती है। विकल्पों की अनुपलब्धिमें चयन के होने की विडंबना के मद्दे नजर रखते हुए लेखक अपना विवेचन आगे बढाते हैं। और स्वतंत्रता के बदलते विभिन्न अर्थ प्रस्तुत करके 'व्यक्तियों को अपनी क्षमताओं का विकास करने के लिए खुला' अवसर देने की माँग करते हैं। लेकिन वे इस से जुडी विडंबना से भी ज्ञात कराते हुए बताते हैं कि 'आर्थिक सम्पन्नता, राजनैतिक सत्ता तथा सामाजिक स्वतंत्रता

में आंतरिक संबंध है। और, स्वतंत्रता को खतरा... लोकतांत्रिक व्यवस्था में प्रशासन को नियंत्रित करनेवाले दायित्वहीन नौकरशाही तथा जनसंख्या के बहुमत की नृशंस निरंकुशता से भी हो सकता है।

हमारा देश विभिन्न घटकों के मेल से होने के कारण उसमें अलग-अलग श्रद्धाओं एवं जीवनरीतियों का बहुत्व दिखाई देता है। इन सबको सुख चैन से रहने के लिये हमारे हृदय में काफी जगह होनी जरूरी है। इसी कारण धर्मनिरपेक्षता की समस्या पैनी होती जा रही है। वस्तुतः पश्चिमी समाजों में उठी धर्मनिरपेक्षता की कल्पना और हमारे समाज में उत्पन्न हुई असहिष्णुता की समस्या इन में काफी अंतर है। अतः लेखक भारतीय धर्मनिरपेक्षता के उद्भव को ठीक तरह से प्रस्तुत करने की सफ़ल कोशिश करते हैं। इस संदर्भ में उनके सुझाव व्यावहारिक तौर पर अवश्य ही आकर्षक मालूम होते हैं। लेकिन सहिष्णुता की मानसिकता का विवेचन इस के साथ अगर होता है तो इस समस्या का विवेचन अधिक मूलगामी और उपयोगी साबित होता। हमारी प्रायः सभी समस्याएँ किसी सिद्धान्त का राजनैतिक विद्रूपीकरण का परिणाम होते हुए भी इस संभावना के पीछे की मानसिकता का विश्लेषण अधिक अवश्यंभावी एवं मूलगामी होगा।

समाजवाद का विवेचन करते हुए लेखक औचित्य बरतते हुए उस के ऐतिहासिक एवं व्यामिश्र रूप को प्रस्तुत करते हैं। लेकिन इस प्रयास में भारतीयता के संदर्भ में समाजवाद का विवेचन उद्बोधक होते होते बचा प्रतीत होता है। भारतीय मानसिकता के समाजवादी चिंतन के आयाम अधिक विस्तृत रूप में स्पष्ट होने की सार्थ अपेक्षा ऐसे ग्रंथ मे हमेशा रहती है।

समाजवाद के साथ हमने अपनाये लोकतांत्रिक परिवेश का विवेचन तुलना में अधिक प्रभावी दिखाई देता है। क्योंकि इस का हमारे समाजजीवन से जो अंतस्संबध है उसे स्पष्ट करने में लेखक कामयाब रह चुके हैं। 'लोकतांत्रिक व्यवस्था के मूल आधार' को 'जनसाधारण के प्रभुत्व' के रूप में दिखा कर उन्होंने अपना विवेचन मूलान्वेषी साबित किया है। इस में भी उपस्थित सामाजिक विडंबनाओंको दिखाने में वे चूकते नहीं हैं। हमारा हर आदर्श कुछ न कुछ विडंबना से ग्रस्त होने के कारण ही सामाजिक न्याय की समस्या हमारे लिए कुछ और ही प्रारूप में उभरती दिखाई देती है। इस विडंबना का रहस्य हमारी स्वार्थमूलक लोलुपता में है। अर्थात् लेखक इस बात को इतने स्पष्ट रूप से दिखाते नहीं है। फिर भी उनका विवेचन परिणामकारक रहा है। विशेषकर हिंसा के संबंध में किया

विवेचन मार्मिक है ।

इस तरह लेखक ने कुछ चुनी हुई समस्याओंका समर्थ विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए अपनी पैनी दृष्टि, विद्वत्ता और औचित्य का सही परिचय दिया है। मँजी हुई लेकिन सुबोध भाषा तथा सरल और परिणामकारक शैली में पुस्तक लिखी है। अध्यायोंके परस्पर संबंध के बारे में और अपेक्षा रहती है। फिर भी तार्किक त्रुटियोंसे मुक्त विवेचन का उपयुक्त एवं विचारके लिए प्रवर्तक नमूना इस रूप में पुस्तक विद्यार्थी, शिक्षक तथा विचारकों के लिए अवश्य मूल्यवान साबित होगी।

दर्शनविभाग,
पुणे विश्वविद्यालय, पुणे

सुभाषचंद्र भेलके

प्रतीत्यसमुत्पाद : एक परिचय

बौद्ध दर्शन में प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त एक मौलिक सिद्धान्त है जो वास्तव में संपूर्ण बौद्ध चिंतन का मूलाधार है। स्वयं भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद को एक गंभीर एवं सूक्ष्म दर्शन कहा है। उन्होंने स्वयं कहा है कि "जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है, वह धर्म (बाह्यान्तर वस्तुओं के स्वभाव) को देखता है। जो धर्म को देखता है वह प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है।"[१] पुनः उन्होंने कहा है कि "जो प्रतीत्यसमुत्पाद को देखता है वह मुझे देखता है। भगवान की यह प्रतिज्ञा है कि यदि एक धर्म की अनभिज्ञात एवं अपरिज्ञात हो तो मैं कहता हूं कि दुःख का अन्त नहीं किया जा सकता।"[२] वास्तव में प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा ही समस्त जीव-जगत् अन्तर एवं बाह्य परिचालित होते हैं। अतः जब आनन्द ने भगवान् बुद्ध से प्रतीत्यसमुत्पाद के संबंध में जानना चाहा तो भगवान् ने इसके महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा कि "बिना प्रतीत्यसमुत्पाद में कुशलता प्राप्त किये किसी भिक्षु को पण्डित नहीं कहा जा सकता।"[३] आचार्य नागार्जुन (जिन्हें द्वितीय बुद्ध की संज्ञा दी गयी है) ने अपने संपूर्ण दर्शन का प्रारम्भ प्रतीत्यसमुत्पाद से किया। इनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त कार्य कारण संबंधी सभी मिथ्या धारणाओं का खण्डन करता है। अतः यह सिद्धान्त सभी प्रपञ्चों से उपशान्त, शिवलक्षण, यथाभूत वा आदि को प्रकट करता है। प्रतीत्यसमुत्पाद की इस सर्वोच्च महत्ता के प्रति आचार्य नागार्जुन नतमस्तक होते हैं तथा इसी के आधार पर वे मध्यम मार्ग की एक नयी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

आचार्य असंग ने महायान सूत्रालंकार में परमार्थता की व्याख्या करने के क्रम में प्रतीत्यसमुत्पाद को स्पष्ट किया है। प्रतीत्यसमुत्पाद यह स्पष्ट करता है कि इन-इन कारणों से यह-यह कार्य उत्पन्न होते हैं। इस धारणा द्वारा लोगों के मन से मिथ्या दृष्टिकोण समाप्त हो जाते हैं। आचार्य वसुबन्धु ने नीति एवं धर्म के विश्लेषण के क्रम में अपने महान् वैभाषिक ग्रन्थ अभिधर्म कोश के प्रारम्भ में ही कहा है कि "प्रतीत्यसमुत्पाद की दृष्टि धर्मों के प्रविचय (विश्लेषण) की दृष्टि है, क्योंकि (धर्म कर्त्तव्य एवं नीति) पुष्पों के समान व्यवकीर्ण हैं। उनका प्रविचय करना आवश्यक है। इस प्रविचयात्मक प्रज्ञा के बिना क्लेशों के उपशम का कोई दूसरा उपाय नहीं है।"[४] आचार्य धर्मकीर्ति

ने प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा ही प्रमाण-मीमांसा के प्रसंग में नित्य समझे जाने वाले तत्त्वों को प्रमाण नहीं मानकर खण्डन किया। आचार्य शान्तरक्षित ने अपने तत्त्वसंग्रह में प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा ही ८वीं-९वीं सदी के प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्तों का खण्डन किया। इनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद की तात्त्विक देशना के बिना कर्म तथा फल के बीच अविपरीत संबंध स्थापित नहीं किया जा सकता। फिर इन के बिना जीव और जगत् के प्रति नैरात्म्य-बोध संभव नहीं है। फिर इनके अनुसार बुद्ध के पूरे वचनों में उनकी प्रतीत्यसमुत्पाद देशना ही प्रधान है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का दोतरफा महत्त्व स्पष्ट होता है। एक ओर तो यह सिद्धान्त जीव जगत् की व्याख्या करता है तथा दूसरी ओर इस सिद्धान्त के विश्लेषण द्वारा मनुष्य जीव-जगत् के प्रपञ्चों से छुटकारा पाने का मार्ग प्राप्त करता है। इस क्रम में इस सिद्धान्त द्वारा विपरीत दृष्टियों का निराकरण होता है तथा सम्यक् दृष्टि की प्रस्थापना की जाती है। प्रतीत्यसमुत्पाद के महत्त्व को इस गाथा के अन्दर सीमित किया जा सकता है-

ये धम्मा हेतु प्पभवा हेतुं तेसं तथागतो ह्यवदत्।
तेसंचयो निरोधो एवंवादी महासमणों॥

प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार देखा जाता है जिसे एक अलौकिक घटना मानी गयी है। प्रारम्भ में जो लोक-व्यवस्था एवं तदनुकूल विचार वर्तमान थे उनके विरोध में इस सिद्धान्त द्वारा एक नये धर्म एवं दर्शन की प्रतिष्ठा की गयी। कहा जाता है कि बोधिसत्व सिद्धार्थ ने आलार-कालाम, उदक, रामपुत्त आदि अनेकानेक योगियों के पास जाकर तपस्या एवं योग के प्रकार सीखे। ऐसा विश्वास किया जाता है कि उन्होंने निराहार से या तिल-तण्डुल के आहार से अपने दिव्य कोमल शरीर को काटा तथा कनकवर्णा को काला बना दिया। इसी प्रकार वर्षों बीते एकबार श्वास-रहित ध्यान करते समय मार्मिक श्लेश से पीडित होकर टहलने के चबूतरे पर मूर्छित होकर गिर पडे। ऐसा शोर मचा कि श्रमण गौतम की मृत्यु हो गयी। छः वर्षों की दुष्कर तपस्या के बाद भी उन्हें यह अनुभूति हुई कि इस प्रकार की तपस्या द्वारा बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः उन्होंने भिक्षाटन प्रारम्भ किया। घूमते-घूमते वे नेरजरा नदी पर पहुंचे तथा बोधिवृक्ष के नीचे पूर्वाभिमुख हो आसन पर एक संकल्प के साथ बैठ गये कि जब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं

होती तबतक आसन नहीं छोडा जाएगा चाहे चमड़े गल जाय तथा सिर्फ हड्डियां बच जायं, चाहे शरीर, मांस एवं रक्त ही क्यों न सूख जाय। इसी वृक्ष की छाया में बोधिसत्त्व सिद्धार्थ ने प्रथम अभिसंबोधि प्राप्त की। यही प्रथम अभिसंबोधि प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार है।

एक समय श्रावस्ती के जेतवन बिहार में भिक्षु साति ने भगवान् बुद्ध की प्रतीत्यसमुत्पाद देशना द्वारा अपनी यह धारणा बनायी कि विज्ञान ही गति उत्पन्न करता है, संसरण करता है (विञ्ञाणं संधावति संस्सरति अनेञ्ञं) इनका भिक्षुओं के साथ वाद-प्रतिवाद भी इस संबंध में हुआ फिर भी उनमें कोई परिवर्तन नहीं देखा गया। अन्त में स्वयं भगवान् बुद्ध ने उन्हें बुलाकर प्रतीत्यसमुत्पाद से संबंधित सम्यक् दृष्टि को समझाया। इस क्रम में भगवान् बुद्ध ने यह कहा कि विज्ञान विज्ञान मात्र है। यह अपने आप में अनित्य है। यह किसी कारण की अपेक्षा से उत्पन्न होता है। चूंकि विज्ञान को चक्षु इन्द्रिय एवं रूप विषय की अपेक्षा होती है। इसलिए इसे चक्षुविज्ञान कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य विज्ञान अपने-अपने कारणों से उत्पन्न होकर भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। विज्ञान जो कुछ है बस इतना ही है और इस से अधिक विज्ञान कुछ नहीं है। भगवान् बुद्ध ने यह भी समझाया कि जो उत्पन्न होता है उसका विनाश भी हो जाता है। इस नियम को उन्होंने परिशुद्ध उज्ज्वल और दृष्ट कहा। इसके बाद भी अगर इस नियम के संबंध में कोई शंका उत्पन्न होती है तो उसके भी निवारण हेतु भगवान् बुद्ध ने कहा- "इस परिशुद्ध पर्यवदात नियम के प्रति मेरा यह धन है; समझकर आसक्ति या ममता न करो। इस देशना को तुम कुल्लुपम (बांस का बेडा जिससे नदी पार किया जाता है) समझो। इस नियम का ज्ञान सिर्फ संसार दुःख से पार होने के लिए है, पकड़कर रखने के लिए नहीं (इसेंव तुम्हें, भिक्खवें, दिंट्ठि एवं परिशुद्धं एवं परियोदातं न अल्लीयेशं न केलायेश न धनायेश् न ममायेश; अपि नु में तुम्हे, भिक्खवे, कुल्लूपवं धम्मं देसतिं आजानेययाथ नित्थरणत्थाय नो ग्रहणत्थाय तिं)" [५]

भगवान् बुद्ध के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद देशना अनात्मता, अनित्यता एवं दुःखता का सिद्धान्त है। इस दृष्टि से प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा यह स्पष्ट होता है कि "जो कुछ सकारण होता है उसका अवश्य निरोध होता है" (यंकिन्चि समुदय धम्मं सब्बंतं निरोध धम्मति) [६] इससे यह स्पष्ट हुआ कि विश्व में दुःख

का व्यापक प्रसार है और उसके निरोध का मार्ग भी है। दुःख निरोध का प्रमुख बाधक तत्त्व तृष्णा है जिसके कारण मनुष्य एक ओर तो अनात्मता, अनित्यता और दुःखता को नहीं समझ पाता है तथा दूसरी ओर आपस में ये एक दूसरे के कारण बनते हैं, इसे स्पष्ट नहीं किया जाता। कहा गया कि आत्मा और नित्यता का तृष्णा-मूलक विस्तार तीनों कालों में व्याप्त रहता है। अतः भगवान् बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद के नियम द्वारा यह स्थापित किया कि कहीं भी किसी प्रकार से आत्मा का अस्तित्व या वस्तु की नित्यता नहीं देखी जाती। ऐसा देखा गया है कि अपने आत्मास्तित्व के लिए मनुष्य रूप, वेदना, विभिन्न प्रकार की संग, संस्कार एवं विज्ञान आदि को आधार बनाता है तथा इसके लिए वह उन आधारों के प्रति देश और काल में विस्तृत नित्यता की अवधारणा बनाता है। मनुष्य इसकी सुरक्षा में अपने को सुखी एवं आनन्दित समझता है। भगवान् बुद्ध आत्मा एवं नित्यता की इस तृष्णा को दुःख का मूल कारण मानते हैं। अतः उन्होंने यह कहा कि "अतीत, अनागत और वर्तमान, अध्यात्मिक या बाहर, स्थूल या सूक्ष्म, हीन या श्रेष्ठ, दूर या समीप आदि के द्वारा जिन-जिन वस्तुओं का अस्तित्व ज्ञापित होता है और उनके आधार पर मनुष्य अपनी आत्मतृष्णा फैलाता है, मैं उसकी यथाभूतता को संपूर्ण रूप से जानने का उपदेश देता हूं" (एवंमेतं यथा भूतं सम्मण्यन्नाय दट्ठब्बं)।[७] इस विश्लेषण से आत्मा या नित्यता की अवधारणा खोजने पर भी नहीं मिल पाती है। इस प्रकार मनुष्य अपने रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान की यथाभूतता संबंधी रागादि से मुक्त हो जाता है। यही ज्ञान की पराकाष्ठा है। कहा गया है कि "निण्बिन्दं विरूज्जाति, विरागा विमुज्यति, विभुत्तस्मिं विमुत्तम्हीति नाणं होति, खीणा जाति, बुसितं ब्रह्मचरियं, कवं करणीयं, नापरं इत्थत्तायाति पजानातीति।"[८]

प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा भगवान् बुद्ध का दार्शनिक सिद्धान्त मध्यममार्ग भी स्पष्ट होता है। यहां पर शाश्वतवादी और उच्छेदवादी दो प्रकार की दृष्टियां हैं अथवा अस्तिवादी एवं नास्तिवादी दो प्रकार की दृष्टियाँ हैं। फिर, दुःख सत्यसंबंधी स्वयंकृत या परकृत दो सिद्धान्त हैं। स्वयंकृत से शाश्वत दृष्टि स्पष्ट होती है और परकृत से उच्छेद दृष्टि स्पष्ट होती है। अतः भगवान् बुद्ध इन दो अन्तों में आपतित न होकर 'अविज्जा-पच्चया संखारा या सहखार

पच्चया विञ्ञाणां' का उपदेश देते हैं। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के अनुसार अस्तित्ववादी और नास्तित्ववादी दो प्रकार की अविद्या है और लोक की उत्पत्ति का यथार्थ ज्ञान हो जाने पर इन दोनों प्रकार की दृष्टियों का अन्त हो जाता है। भगवान् बुद्ध ने इसे दूसरे रूप में भी स्पष्ट किया है। इनके अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वारा प्रतिपादित कारण-कार्य-परम्परा एक वास्तविक स्थिति है। यह धर्म की एक प्रवृत्ति है जिसका यह अर्थ होता है- 'इस कार्य का यह कारण है। इस स्थिति का ज्ञान प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा ही होता है'। अब यहां पर ऐसे प्रश्नों का कोई भी अर्थ नहीं रह जाता कि 'क्या मेरी सत्ता है'?, 'क्या नहीं है' 'कैसी है' 'कहां से आयी है'?, तथा इसे कहा जाना है'? यहां पर यह प्रश्न भी कोई अर्थ नहीं रखता कि 'तथागत उत्पन्न होते हैं या नहीं'। यहां पर वास्तविकता यही स्पष्ट होती है कि अपने कारणों से ही दुःख उत्पन्न होता है तथा उन कारणों को न जानने के कारण ही मनुष्य दुःखी है। इस सत्य का उद्‌घाटन प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा होता है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धान्त इसी रूप में स्पष्ट होता है कि यह नियम है और उससे उत्पन्न ये धर्म। भगवान् बुद्ध ने संयुक्त निकाय में कहा है कि ''उत्पादा वा तथागतानं अनुप्पादा वा तथागतानं, ठिता व सा धातु धम्मट्ठितता धम्मनियामता इदप्पच्चयता।''

''या तत्र तथता अवितथता अनन्नथता इदण्यच्चयताअयं
बुच्चति, भिक्खवे, पटिच्चसमुत्पादो।''
''अयंच पटिच्चसमुत्पादो इसे चातित्नासमुत्पन्ना धम्म यथाभूतं
सम्मधन्नाथ सुदिट्ठा ति।''[१]

प्रतीत्यसमुत्पाद का विस्तार बौद्ध दर्शन के थेरवाद संप्रदाय द्वारा भी किया गया है। सामान्य रूप से प्रतीत्यसमुत्पाद को हेतु प्रत्ययता का वाद कहा गया है। स्थविरवाद के अनुसार तीन मूल हेतु माने गये हैं- राग, द्वेष और मोह। ये तीनों चित्त की अवस्थाओं को अभिसंस्कृत करते हैं तथा सभी अवस्थाओं में ये स्वयं सहेतुक रहते हैं। प्रत्यय आन्तरिक एवं बाह्य पदार्थों के विभिन्न संबंधों को स्पष्ट करते हैं जो संबंध कारण पर आधारित होते हैं। जो धर्म जिस धर्म की उत्पत्ति में कारक होता है, वह उसका प्रत्यय कहलाता है। कारण के विभिन्न रूप माने गये हैं। सामान्यतः हेतु प्रधान कारण और प्रत्यय से उपकारक कारण समझा जाता है। स्थाविरवाद के अनुसार प्रत्ययों के दो नय हैं प्रतीत्यसमुत्पाद नय तथा प्रस्थान-नय। प्रतीत्यसमुत्पाद नय का

सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि इसके होने से यह होता है, इसके उत्पाद से यह उत्पन्न होता है, इसके नहीं होने से यह नहीं होता है, इसके निरोध से यह निरुद्ध होता है।' इसी प्रकार प्रस्थान नय यह स्पष्ट करता है कि प्रत्यय अन्य प्रत्ययोत्पन्न धर्मों को करके स्थित होते हैं, अर्थात् उनके कारण होते हैं।

वैभाषिक एवं सौत्रान्तिक संप्रदायों ने प्रतीत्यसमुत्पाद को एक वैज्ञानिक नियम माना है। इस सिद्धान्त द्वारा इन्होंने संपूर्ण जड़-चेतन, प्राणि-अप्राणि की व्याख्या की है। इस व्याख्या में इन्होंने हेतु फल संबंध की व्यवस्था पर विशेष बल दिया है। यहां पर इस बात को अधिक स्पष्ट किया गया है कि कार्य की उत्पत्ति में प्रत्ययता किस प्रकार क्रिया एवं शक्ति का आधान करती है तथा किस प्रकार प्रत्ययों का हेतुओं के साथ सामञ्जस्य बैठता है। वैभाषिकों के अनुसार धर्मों का प्रतीत्य समुत्पन्नत्व त्रैकालिक होता है। परन्तु, सौत्रान्तिक वैभाषिकों के जाति, जरा, स्थिति और अनित्यता लक्षणों से युक्त धर्म की व्याख्या को अविभाज्य आकाश को विभाज्य होने के समान मानते हैं सौत्रान्तिक स्थिति की द्रव्य सत्ता को अस्वीकार करते हैं तथा उत्पादानन्तर विनाश को क्षण का लक्षण मानते हैं। इस प्रकार, प्रतीत्यसमुत्पाद नय द्वारा वे क्षणभंगता तथा क्षण-सन्ततिवाद के सिद्धान्त पर पहुंचते हैं।

सर्वास्तिवाद के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद को चतुर्विध माना गया है क्षणिक, सांबन्धिक, आवस्थिक तथा प्राकर्षिक। क्षणिक एवं सांबन्धिक प्रतीत्यसमुत्पाद की व्याख्या बौद्ध दर्शन के संपूर्ण चिन्तन को गतिशील एवं परिवर्तनवादी बनाता है। ये थेरवाद से वैभाषिक तक सभी अनित्यतावादी एवं गतिवादी हैं। सौत्रान्तिकों में इसका प्रकर्ष देखा जाता है।

सभी बौद्ध दार्शनिक सामान्य रूप से यह स्वीकार करते हैं कि सभी वस्तुएं अपने-अपने हेतु-प्रत्ययों से उत्पन्न होती हैं। कोई वस्तु एक प्रत्यय से उत्पन्न नहीं होती बल्कि अनेक प्रत्ययों से उत्पन्न होती है। उपादान हेतु और सहायक प्रत्ययों से फल की उत्पत्ति होती है। अतः नित्य हेतु या ईश्वर का अस्तित्व नहीं देखा जाता। यहां पर सामान्य रूप से बौद्ध दार्शनिकों ने प्रतीत्यसमुत्पाद द्वारा ईश्वर का निषेध किया है। कहा जाता है कि 'अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादाद् इदम् उत्पद्यते' जिसका अर्थ होता है कि अविद्या के कारण संस्कार और संस्कार के कारण विज्ञान

आदि उत्पन्न होते हैं। अतः अविद्या ही मूल कारण है जिससे कर्मों के प्रति झुकाव होता है तथा जिससे जगत् की उत्पत्ति होती है। फिर जब अविद्या की समाप्ति होती है तो कर्म से स्वतः निवृत्ति हो जाती है। अब, चूंकि जगत् और जागतिक पदार्थ अपने हेतु प्रत्ययों पर आधारित होते हैं, इसलिए जगत् का कोई कर्त्ता नहीं हो सकता है। नित्य ईश्वर जगत् का कर्त्ता इसलिए नहीं हो सकता कि उसमें फलोत्पन्न करने की शक्ति नहीं है और न ही इसके द्वारा सहायक कारण स्पष्ट होते हैं। फिर नित्य ईश्वर के स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं देखा जाता है। अतः यदि फलोत्पाद करने के अवसर और फलोत्पाद न करने के अवसर भिन्न हों तो नित्यता का सिद्धान्त समाप्त हो जाता है और इस प्रकार ईश्वर का सिद्धान्त भी समाप्त हो जाता है। धर्मकीर्ति ने प्रमाणवर्तिक में कहा है कि

''नित्यानुप्पतिविश्लेषण वेक्षाया अयोगतः।
कथन्विन्तोपकार्यत्वाद् नित्ये अत्यप्रमाणता॥
नित्यस्य निरपेक्षत्वात्कमोप्पति किर्ध्यते।
नित्यं वा कारणं कथम्॥
तस्मादनेकमेकस्माद्भिन्नकालं न जायते।''[१०]

इससे यह स्पष्ट होता है कि बौद्धों के अनुसार ईश्वर भी सहेतुक होगा क्योंकि अगर ईश्वर सहेतुक नहीं होता है तो बाकी वस्तुएं क्यों सहेतुक होगी ? अब अगर ईश्वर सहेतुक होता है कि वह नित्य नहीं होगा। जैसे देवदत्त जगत् का कर्त्ता नहीं होता है, वैसे ईश्वर भी जगत् का कर्त्ता नहीं हो सकता। इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक इस निष्कर्ष पर आते हैं कि चूंकि सभी वस्तुएं प्रतीत्यसमुत्पन्न हैं, इसलिए ईश्वर भी सृष्टि कर्त्ता नहीं हो सकता। यहां पर जगत् की उत्पत्ति के संबंध में बौद्ध दार्शनिक कहते हैं कि अविद्या के कारण कर्मों का संचय होता है तथा कर्मों से ही यह विचित्र जगत् उत्पन्न हुआ है और होता रहेगा। कर्म तथा क्लेशों के कारण ही जीवों की जन्म-मृत्यु होती है।

बौद्ध दार्शनिक प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा आत्मा को भी अनित्य प्रमाणित करते हैं। इसे एक उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया गया है। देवदत्त ऋण देता है और यज्ञदत्त ऋण लेता है। कालान्तर में जब ऋण चुकाया जाता है, उस समय का यज्ञदत्त ऋण चुकानेवाला तथा देवदत्त

वसूलने वाला होता है। यदि आत्मा नित्य होती तो उक्त व्यवस्था संभव नहीं होती क्योंकि ऋण देनेवाला देवदत्त को अपरिवर्तनीय होने से हमेशा ऋणदाता ही रहना चाहिए। वह वसूलनेवाला कभी नहीं बन सकता है। इसी प्रकार ऋण प्राप्तकर्त्ता हमेशा प्राप्त कर्त्ता ही रहेगा। वह ऋण चुकानेवाला नहीं बन सकाता। इस प्रकार पुद्गल अनित्यवाद में ही विश्व की सभी व्यवस्थाएं देखी जाती हैं। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार पुद्गल-आत्मा का अस्तित्व नहीं देखा जाता जो स्कन्धों से भिन्न नित्य एवं शाश्वत हो।

प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त के अनुसार नैरात्म्य-ज्ञान ही विश्व को मुक्ति दिलानेवाला एकमात्र मार्ग है। यहां पर किसी प्रकार व्रत निरर्थक प्रमाणित होता है। बौद्ध दार्शनिक के अनुसार प्राणी अविद्या के कारण विश्व के दुःखों से संतप्त है। अतः यहां पर प्राणि को ऐसा ज्ञान दिया जाना चाहिए जो अविद्या का साक्षात विरोधी हो। ऐसे ज्ञान को नैरात्म्य ज्ञान कहा गया है। यहां पर पंचाग्नि के सेवन जैसे कठोर व्रत भी व्यर्थ हो जाते हैं। अतः यहां पर 'अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादाद् इदम् उत्पद्यते' नामक सिद्धान्त ही यथार्थ दीखता है। तपस्या और व्रत से प्रसन्न होकर ईश्वर मुक्ति का मार्ग प्रशस्त कर सकता है, परन्तु प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त में ऐसा संभव नहीं है।

प्रतीत्यसमुत्पाद का एक रूप सूक्ष्म प्रतीत्यसमुत्पाद माना जाता है जो विज्ञानवाद द्वारा स्पष्ट होता है। विज्ञानवाद के अनुसार आलयविज्ञान और वासना क्रमशः आधार तथा आधेय होते हैं और साथ ही साथ परस्पर हेतु तथा फल या कारण-कार्य भी होते हैं क्योंकि आलयविज्ञान वासना को आश्रय देता है तथा वासना आलयविज्ञान के आश्रय परिवर्तन में सहायता देती है। इस प्रकार, आलय विज्ञान में स्थित ग्राह्य-ग्राहक वासना के कारण संसार की प्रवृत्ति होती है। उन दोनों से समस्त वस्तुएं प्रतिभासित होती हैं। इस विशिष्ट कार्य-कारण संबंध को आगमानुसारी विज्ञानवादी सूक्ष्म सांक्लैशिक प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं।

माध्यमिकवाद के अनुसार संस्कृत और असंस्कृत दोनों धर्मों पर प्रतीत्यसमुत्पाद की व्यवस्था की जाती है क्योंकि अभाव पदार्थ या असंस्कृत पदार्थ का अस्तित्व भाव पदार्थ या संस्कृत पदार्थ पर निर्भर करता है। धर्मों का परमार्थतः अस्तित्व नहीं होता तथा स्वभावसत्ता नहीं होती। परन्तु, सभी

पदार्थों की स्वभाविक सत्ता नहीं होने पर भी सभी वस्तुओं के अपने-अपने कार्य करने से या कारणकार्य की प्रवृत्ति में कोई बाधा नहीं पहुंचती है, अर्थात् निस्वभावता में ही कार्य-कारण व्यवस्था बनती है। यही प्रतीत्यसमुत्पाद का सूक्ष्म स्वरूप है। माध्यमिकों का यह दृढ विश्वास है कि प्रतीत्यसमुत्पाद होने के कारण सभी धर्म निरस्वभाव होते हैं तथा निरस्वभाव होने के कारण कार्यकारण व्यवस्था सुचारु रूप से चलती है। अतः आचार्य नागार्जुन ने कहा है कि "यद्यशून्यमिदं सर्वमुदयो नास्ति न व्ययः।"[११]

बौद्ध दर्शन के अनुसार प्रतीत्यसमुत्पाद को यथार्थतः जान लेने के बाद समस्त धर्मों की हेतु-प्रत्ययसापेक्ष प्राप्ति का ज्ञान हो जाता है। परिणामस्वरूप समस्त धर्मों की स्वभावतः शून्यता का बोध सरलता पूर्वक हो जाता है। ऐसा स्वीकार किया गया है कि प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त द्वारा कार्य-कारण संबंधी लौकिक, लोकोत्तर आदि समस्त गुणों की व्यवस्था सुचारु रूप से संपन्न हो सकती है। अतः प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना को तथागतों का अनुपम उपाय माना गया है। समस्त पदार्थों का उत्पाद हेतु प्रत्यय पर आश्रित है तथा उनका उत्पाद निर्हेतुक नहीं है। समस्त हेतु प्रत्ययों से समस्त फलों का उत्पाद भी संभव नहीं है। निश्चित क्षमता वाले पृथक्-पृथक् हेतु-प्रत्ययों की समग्रता तथा तत्वत् स्वरूप में परिवर्तन ही से भिन्न-भिन्न फल निष्पन्न होते हैं। हेतु प्रत्ययों के स्व-स्वरूप में परिवर्तन के बिना भी फलोत्पाद संभव नहीं है। अतः कोई निरवयव शाश्वत, कूटस्थ हेतु-प्रत्यय भी युक्ति संगत नहीं हैं।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बुद्ध वचनों के अनुशीलन से यह प्रतीत हुआ कि उनके अति विस्तृत देशनाओं के कुछ आधारभूत मुद्दे वर्तमान हैं। वे हैं -१) वस्तु की अनित्यता, २) आस्रव धर्मों की दुःखता, ३) सर्वधर्म नैरात्म्य एवं शून्य और ४) निर्वाण की उपशान्तता। बौद्ध परंपराओं के अनुसार इन चार तत्त्वों को भगवान् बुद्ध के उंपदेशों में निहित चार 'दार्शनिकमुद्रा' कहा जाता है। इन मुद्राओं द्वारा ही सभी बौद्ध चिंतन धारा स्पष्ट होती है। यद्यपि विश्व यथार्थता एवं जीवन की वास्तविकताओं की विवेचना करते हुए बुद्ध ने अनेक नय द्वारा दुःख की निवृत्ति के उपायों की चर्चा की है तथापि उन सभी उपदेशों के प्रतिपाद्य विषय मूलतः चार दार्शनिक मुद्रा या उसकी सीमा के बाहर नहीं प्रतीत होता है। उन चार तत्त्वों की

मौलिक स्थापना स्वयं बुद्ध ने प्रतीत्यसमुत्पाद नय के आधार पर की है। इसलिए प्रतीत्यसमुत्पाद को तथागत की देशनाओं का गृह्यकोष कहा जाता है।

गाम - नेवाजी विगहा, **डॉ. विश्राम प्रसाद**
डाकघर - हरगावां,
जिला - नालन्दा (बिहार)
पिन - ८०३१०१.

टिप्पणियाँ

१. मज्झिमनिकाय - १.३.८.
२. संयुक्त निकाय - ८/२२.
३. मज्झिमनिकाय - ३/२/५.
४. अभिधर्म कोश - १/३
५. मज्झिमनिकाय, मूलपण्जा - ३८/३.
६. वि. म. - ९.
७. वि. म. - ८.
८. वि. म. म. - ९.
९. सं. नि. निदा. १७-२०
१०. धर्मकीर्ति, प्रमाणवार्तिक, ३.
११. म. का. २४/२.

न्याय - वैशेषिक में काल-विवेचन

आस्तिक भारतीय दर्शनों में अन्यतम न्याय वैशेषिक दर्शन वस्तुवादी, बहुतत्त्ववादी एवं अनुभववादी विचारधारा के रूप में मान्य हैं। इस दर्शन परम्परा में काल एक स्वतन्त्र, नित्य एवं विभु द्रव्य माना गया है। यहाँ आरम्भ में यह स्पष्ट कर देना अनिवार्य है कि न्यायदर्शन में स्वीकृत षोडश पदार्थों या द्वादश प्रमेयों के अन्तर्गत 'काल' की पृथक् गणना नहीं है किन्तु अनुमान के त्रिकालविषयत्व-निरूपण के अवसर पर प्रसंगवश काल के सम्बन्ध में चर्चा हुई है। दूसरी ओर वैशषिकदर्शन में स्वीकृत सात पदार्थों में से प्रथम पदार्थ द्रव्य के नौ भेदों में से एक 'काल' माना गया है तथा उसकी सिद्धि एवं स्वरूप के विषय में विस्तृत विचार किया गया है जो न्यायदर्शन में भी पूर्णतः स्वीकार्य है।[१] अतः यहाँ दोनों को समन्वित सिद्धान्त मानकर ही काल-विवेचन अभीष्ट है।

वैशेषिक दर्शन में नौ द्रव्य माने गये हैं -पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा एवं मन[२] तथा इन्हें ही सब प्रकार के भौतिक एवं अभौतिक कार्यों का कारण कहा गया है। इनमें से प्रथम चार भौतिक जगत् के आधार कहे गये हैं तथा परमाणुओं के रूप में वे नित्य माने गये हैं। शेष पाँचों द्रव्य स्वरूपतः नित्य हैं उनमें से भी तीन-आकाश, काल एवं दिक् एक एक,[३] विभु[४] तथा सभी मूर्तद्रव्यों के संयोगी माने गये हैं। शेष दोनों नित्य द्रव्य आत्मा एवं मन संख्या में अनेक माने गये हैं। तदनुसार 'काल' वैशेषिक दर्शन में स्वीकृत षष्ठ द्रव्य है।

न्याय वैशेषिक में वर्णित सृष्टि प्रक्रिया के अनुसार प्रत्येक कार्य अपने अपने कारण से ही उत्पन्न होता है। अतः इस प्रक्रिया में एक ऐसे तत्त्व की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है जो सभी जन्य वस्तुओं का कालिक आधार हो तथा जिससे परत्व, अपरत्व, युगपत्, चिर, क्षिप्र आदि प्रतीतियों की व्याख्या हो सके। ऐसा द्रव्य ही न्याय वैशेषिक की परिभाषिक पदावली में 'काल' कहा गया है।[५] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल एक स्वतन्त्र, स्थिर, विभु एवं वस्तुतः सत् द्रव्य है, केवल बौद्धिक धारणा नहीं जैसा कि योगीजन मानते हैं, न ही यह एक शक्ति विशेष है जो ईश्वर से संपृक्त

है जैसा कि शैव, शाक्त एवं वैष्णव आगमों ने माना है। वैशेषिक सिद्धान्त के अनुसार कुछ विशेष गुणों का आश्रय होने से काल एक बाह्यतः सत् द्रव्य के रूप में अवस्थित है तथा जागतिक प्रक्रिया में इसका अपना एक विशेष कार्य तथा प्रयोजन है, केवल अस्पष्ट स्थिति नहीं है जैसी कि अरस्तू ने मानी है।[६] जग्त की सभी उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयरूपी क्रियाओं के पीछे काल विद्यमान रहता है, इसीलिए न्याय वैशेषिक में काल को प्रत्येक क्रिया की अनिवार्य प्राग्दशा के रूप में स्वीकार किया गया है।[७] काल ही वह स्थिर आश्रय है जिसपर आश्रित होकर सभी क्रियाएँ घटित होती हैं तथा काल से ही उनका पौर्वापर्य, यौगपद्य अयौगपद्य, चिरत्व, क्षिप्रत्व आदि निर्धारित होता है।

काल की सिद्धि

यहाँ यह जिज्ञासा होनी स्वाभाविक है कि काल की सत्ता तो स्वतःसिद्ध है किन्तु उसके द्रव्यत्व में क्या प्रमाण है ? काल में रूप, रसादि जैसा कोई भौतिक गुण न होने से उसका बाह्य प्रत्यक्ष तो सम्भव नहीं,[८] उसका मानस प्रत्यक्ष भी असंभव है क्योंकि मन भी किसी बाह्येन्द्रिय के साथ संयुक्त होकर ही किसी वस्तु का प्रत्यक्ष कर सकता है। अतः प्रश्न होता है कि काल की सिद्धि में क्या प्रमाण है ?

इस प्रश्न का उत्तर वैशेषिक दर्शन में यह दिया गया है कि काल का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं, अपितु अनुमान से होता है। सूत्रकार कणाद ने काल की सिद्धि के लिए परत्व, अपरत्व, युगपत्, चिर तथा क्षिप्र ये पाँच अनुमापक हेतु दिए हैं[९] तथा भाष्यकार प्रशस्तपाद ने भी काल के अनुमान में इन्हीं पाँच लिङ्गों का निर्देश किया है।[१०] इसका तात्पर्य यह है कि संसार की प्रत्येक घटना को हम अतीत, अनागत या वर्तमान; पहले या बाद में, शीघ्र या विलम्ब से इत्यादि रूप में ही देखते या समझते हैं, अतः हमारा यह अनुभव ही काल नामक एक पृथक् द्रव्य की अनिवार्यता प्रतिपादित कर देता है। काल ही सब कार्यों की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु है क्योंकि काल से ही उन-उन वस्तुओं की उत्पत्ति आदि का कथन किया जाता है जैसे प्रातः उत्पन्न हुआ, दोपहर तक स्थित हुआ तथा सायं विनष्ट हुआ इत्यादि। इसी भाँति क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला, मुहूर्त, याम, अहोरात्र, अर्धमास, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, कल्प, मन्वन्तर, प्रलय, महाप्रलय आदि हमारे व्यवहारों का हेतु

भी काल ही है [११] अतः काल की सिद्धि हो जाती है।

स्पष्टतः यहाँ काल की सिद्धि अनुमान द्वारा की गई है और इस अनुमान के साधक लिङ्ग हैं- परत्व, अपरत्व, यौगपद्य, चिर एवं क्षिप्र। इन परत्वादि-प्रतीतियों की व्याख्या न्याय वैशेषिक में सूर्य परिवर्तनों [१२] के सन्दर्भ में की गई है और सूर्य परिवर्तनों के साथ जिस द्रव्य का सम्बन्ध स्थापित किया गया है, वही काल कहा गया है। आशय यह है कि सूर्य की गतियाँ या आदित्य परिवर्तन जिसने अधिक संख्या में देखे हैं, वह अपेक्षाकृत पर या बडा है तथा जिसका कम सूर्य परिवर्तनों के साथ सम्बन्ध रहा है, वह अपर या छोटा है।[१३] इसी भाँति यौगपद्य का अर्थ एककालता, अयौगपद्य का अनेककालता, चिरत्व का दीर्घकालता और क्षिप्रत्व का अल्पकालता समझना चाहिए तथा इन सबमें काल शब्द से सूर्य परिवर्तनों या काल की उपाधियों को ही जानना चाहिए।[१४] जब हम किसी व्यक्ति या वस्तु को देखते हैं तब वही सूर्य परिवर्तन विशेषण के रूप में उपस्थित हो जाता है क्योंकि पर का तात्पर्य है जिसके जीवन में अधिक दिन व्यतीत हो चुके हैं और दिन स्वयं ही सूर्य-परिवर्तन से जुड़ा हुआ है,[१५] अतः यह सिद्ध हो जाता है कि परत्वापरत्वादि प्रतीतियाँ सूर्य-परिवर्तन से सम्बद्ध हैं।

अब यह प्रश्न उठता है कि परत्वापरत्व एवं सूर्य-परिवर्तनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का आश्रय द्रव्य कौन सा हो सकता है? परत्व, अपरत्व गुण हैं और गुण सदा किसी न किसी द्रव्य में आश्रित होकर ही रहते हैं, अतः यह तो निश्चित है कि पर या अपर कही जानेवाली कोई वस्तु होनी चाहिए जिसे न्याय वैशेषिक में 'द्रव्य' कहा जाता है। परत्वा-परत्व के आश्रय का सूर्य-परिवर्तनों के साथ सीधा 'संयोग' सम्बन्ध तो हो नहीं सकता क्योंकि दोनों एक दूसरे से बहुत दूर हैं, अतः कोई परोक्ष सम्बन्ध ही हो सकता है और वह परोक्ष सम्बन्ध भी किसी द्रव्य के माध्यम से ही सम्भव है। इस परोक्ष सम्बन्ध को वैशेषिक दर्शन में **'संयुक्त संयुक्तसमवाय'** नाम दिया गया है- अर्थात् वह पर या अपर कहा जानेवाला व्यक्ति या वस्तु किसी ऐसे द्रव्य के साथ संयुक्त है जो सूर्य के साथ **संयुक्त** है, जिस सूर्य में उसकी जाति **समवेत** रहती है, वही सूर्य के साथ संयुक्त द्रव्य ही काल है।[१६]

यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि पृथिवी, जल, तेज, वायु एवं मन ये पाँच द्रव्य तो परत्व, अपरत्व के आश्रयरूप में सभी वस्तुओं के साथ सम्बन्ध हो नहीं सकते क्योंकि ये विभु नहीं हैं। अतः यह निश्चित है कि वह द्रव्य कोई विभु द्रव्य ही होना चाहिए और वैशेषिक दर्शन मे विभु द्रव्य चार माने गये हैं आकाश, काल, दिक् एवं आत्मा। इन चारों में से भी आकाश, दिक् एवं आत्मा वह द्रव्य नहीं हो सकते जो परत्व, अपरत्व तथा सूर्य-परिवर्तनों के मध्य सम्बन्ध स्थापित कर सके[१७] ऐसा युक्तिपूर्वक सिद्ध करने के पश्चात् वैशेषिक दर्शन में यही प्रतिपादित किया गया है कि 'काल' नामक एक अतिरिक्त द्रव्य मानना पडता है जो 'संयुक्तसंयुक्तसमवाय' सम्बन्ध से सूर्य परिवर्तनों से जुडा हुआ है और परत्व, अपरत्व, चिर, क्षिप्र, आदि प्रतीतियों का हेतु है। इस प्रकार अनुमान द्वारा काल नामक द्रव्य की सिद्धि की गई है। सूर्य-परिवर्तनों पर आधृत परत्वापरत्व प्रतीतियों के हेतु रूप में कालसिद्धि का यह प्रकार न्याय-वैशेषिक परम्परा में सर्वप्रथम वाचस्पति मिश्र ने अपनाया [१८] एवं तदनन्तर अन्य आचार्यों ने भी इसका आश्रय लिया।

जैसा कि स्पष्ट ही है, कालसिद्धि का पूर्वोक्त प्रकार अत्यन्त जटिल एवं लम्बा प्रतीत होता है, इसलिए न्याय-वैशेषिक परम्परा के ही एक व्याख्याकार ने यह विचार व्यक्त किया है कि सूर्य-परिवर्तनों से वृद्ध एवं युवक में परत्व, अपरत्व का व्यवहार समीचीन नहीं है क्योंकि सूर्य की गति के साथ उस वृद्ध और युवक का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, अतः असम्बद्ध वस्तु को कारण मानने में अतिप्रसङ्ग दोष होगा।[१९] इसलिए उन्होंने कालसिद्धि हेतु कुछ भिन्न तर्क दिए हैं जो अधिक सरल एवं सुबोध प्रतीत होते हैं, तद्यथा -

क) काल परत्वापरत्व का कारण है- एक वस्तु की उत्पत्ति और दूसरी वस्तु की स्थिति-इन दोनों का एक ज्ञान से ग्रहण ही परत्व और अपरत्व की प्रतीति है। यह प्रतीति अपने सहकारिकारण काल से ही उत्पन्न होती है। अतः काल कुछ ऐसी प्रतीतियों का कारण है जो घटनाओं के साथ सम्बद्ध होती हैं और जिनकी किसी अन्य विधि से व्याख्या नहीं की जा सकती।

ख) काल सब कार्यों की उत्पत्ति का निमित्त है- प्रत्येक कार्य

की उत्पत्ति में 'प्रागभाव' एक अनिवार्य साधारण कारण है अर्थात् केवल 'प्रागसत्' वस्तु की ही उत्पत्ति होती है। अब यदि काल को न माना जाये तो प्रत्येक वस्तु या तो सदा सत् रहेगी या सर्वथा असत् और कोई कार्य कभी उत्पन्न न हो सकेगा इसलिए काल ही सब कार्यों का निमित्तकारण है, उसी से 'प्राक्' आदि व्यवहार सम्भव हैं, अतः काल को मानना आवश्यक है।[२०]

ग) काल शरीर-वैचित्र्य का हेतु है- बालक और वृद्ध के शरीरों में जो अवस्था भेद दिखाई देता है, वह स्पष्टतः कालजन्य ही है क्योंकि काल के अतिरिक्त इस परिवर्तन का कोई और कारण नहीं बताया जा सकता, अतः काल ही मनुष्यों के भौतिक शरीरों में विकास एवं ह्रास का कारण है।[२१]

इस प्रकार श्रीधराचार्य ने कालसिद्धि हेतु न्याय-वैशेषिक में प्रचलित पारम्परिकं युक्ति 'सूर्य-परिवर्तन' को न अपनाकर उक्त रीति से कुछ मौलिक तर्कों की उद्भावना करके 'काल' नामक द्रव्य की सिद्धि की है।

इसी भाँति न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य ने पूर्वोक्त 'चिरन्तन' पद्धति को स्वीकार करते हुए भी अपने ग्रन्थ में काल की सिद्धि के लिए एक 'अभिनव' युक्ति प्रस्तुत की है कि वस्तुओं की वर्तमानता ही काल की ज्ञापक है।[२२] अन्य शब्दों में कालानुभूति का आधार हमारा यह ज्ञान होता है कि 'वस्तुएं वर्तमान हैं', 'यह पुस्तक वर्तमान है' 'यह मेज वर्तमान है', 'यह लेखनी वर्तमान है' इत्यादि। इन वाक्यों में विषय का भेद होने पर भी वर्तमानता समान है, अतः वे काल को सूचित करते हैं। सूक्ष्म विश्लेषण करने पर व्यक्त होता है कि वल्लभाचार्य जिस युक्ति को 'अभिनव' कह रहे हैं, वह वस्तुतः न्यायभाष्यकार वात्स्यायन द्वारा पहले से ही संकेतित थी,[२३] उन्होंने केवल उसका विस्तार किया है।

काल सिद्धि के विषय में न्याय-वैशेषिक आचार्यों ने जिन मान्यताओं को प्रकट किया है, उनका आकलन करने पर निम्न तथ्य प्रकाश में आते हैं-

अ) जयन्तभट्ट आदि कुछ विद्वानों का विचार है कि काल की सिद्धि प्रत्यक्ष से भी हो सकती है एवं अनुमान से भी।[२४]

आ) वैशेषिकसूत्रकार कणाद एवं भाष्यकार प्रशस्तपादसहित वाचस्पति मिश्र आदि आचार्यों के अनुसार काल की सिद्धि अनुमान से ही हो सकती है

और उसमें परत्वापरत्वादि साधक लिङ्ग हैं जिनकी व्याख्या सूर्य परिवर्तनों के सम्बन्ध में की गई है।

इ) श्रीधराचार्य का मत है कि काल की सिद्धि संसार के सब कार्यों के निमित्त या सहकारिकारण रूप में अनुमान से होती है, उसमें सूर्य परिवर्तनों का सम्बन्ध नहीं है।[२५]

ई) न्यायभाष्यकार वात्स्यायन एवं न्यायलीलावतीकार वल्लभाचार्य की दृष्टि में वर्तमानता ही काल की साधक है।

काल का लक्षण

वैशेषिक दर्शन के प्रवर्त्तक महर्षि कणाद के अनुसार नित्यों में न होने तथा अनित्यों में होने से स्पष्ट है कि जन्य कार्यों का (निमित्त) कारण ही काल है।[२६] तात्पर्य यह है कि नित्य द्रव्यों में तो परापरादि प्रतीतियों का अभाव होता है किन्तु जन्य या अनित्य वस्तुओं में उक्त प्रतीतियाँ विद्यमान रहने से विदित होता है कि काल सभी जन्य वस्तुओं का निमित्तकारण है। भाष्यकार प्रशस्तवाद ने काल की सिद्धि हेतु जो तीन लिङ्ग दिए हैं, वे तीनों काल के तीन लक्षणों [२७] को व्यक्त करते हैं-

क) काल पर, अपर, युगपत्, चिर, क्षिप्र आदि प्रतीतियों का हेतु है।

ख) काल वस्तुओं की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु है।

ग) काल क्षण, लव, निमेष, काष्ठा और कला आदि प्रत्ययों का हेतु है।

विश्वनाथ न्यायपञ्चानन के अनुसार जो (द्रव्य) परत्व, अपरत्व आदि प्रतीतियों का हेतु है, सारे उत्पन्न होनेवाले कार्यों का जनक है तथा जगत् के सभी पदार्थों का आधार भी है वही काल है क्योंकि प्रत्येक पदार्थ या कार्य किसी न किसी काल में ही उत्पन्न होता है।[२८] तर्कसंग्रहकार अन्नम्भट्ट ने काल को लक्षित करते हुए कहा है कि अतीतादि के व्यवहार का हेतु ही काल है। अन्य शब्दों में हमारे द्वारा प्रयुक्त अतीत, अनागत आदि शब्दों का आधाररूप द्रव्य ही काल है।[२९] 'काणादसिद्धान्तचन्द्रिका' में सब कार्यों की उत्पत्ति के निमित्त और जगत् के आधार को काल कहा गया है।[३०]

इस प्रकार न्याय-वैशेषिक में दिए गये काल के इन विविध लक्षणों का सार यही है कि काल एक सर्वव्यापक द्रव्य है तथा हमारी कालिक परत्वापरत्व आदि प्रतीतियों का हेतु है।

काल के गुण

वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि किसी भी द्रव्य का द्रव्यत्व उसमें आश्रित गुणों से ही निष्पन्न होता है, अतः काल की एक द्रव्य के रूप में सिद्धि करने के पश्चात् उसके गुणों का वर्णन किया गया है। इस विषय में कणाद का कथन है कि काल का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व तो वायु की भाँति ही व्याख्यात समझना चाहिए।[३१] इसे और विशद करते हुए जयन्तभट्ट का कहना है कि काल किसी अन्य द्रव्य पर आश्रित नहीं है, अतः अनाश्रित होने से ही इसका द्रव्यत्व सिद्ध हो जाता है।[३२] प्रशस्तपाद ने काल में पाँच गुणों की सत्ता स्वीकार की है संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।[३३] ये पाँचों ही सामान्य गुण हैं, अतः इससे स्पष्ट होता है कि काल का कोई भी विशेष गुण नहीं है।

संख्या की दृष्टि से काल एक है, काल में अनेकत्व का ज्ञापक कोई प्रमाण नहीं है। एकत्व के साथ पृथक्त्व का अनुविधान अर्थात् नियत साहचर्य है, अतः काल में एकत्व की सिद्धि से पृथक्त्व भी सिद्ध हो जाता है।[३४] चूँकि यौगपद्य, चिर, क्षिप्र आदि प्रतीतियाँ सभी स्थानों में होती हैं, अतः यह स्पष्ट होता है कि काल का परिमाण विभु या सर्वव्यापक है। काल और अवयवीद्रव्य या पिण्ड में संयोग होने पर ही परत्व की प्रतीति होती है, इसी से काल में संयोग गुण की सिद्धि होती है। चूँकि विभाग संयोग का नाशक है, अतः काल में विभाग भी अवश्य होता है, यह सिद्ध हो जाता है। इस प्रकार काल में संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग ये पाँच सामान्य गुण पाये जाते हैं तथा इन गुणों का आश्रय होने से काल का द्रव्यत्व भी अप्रतिहत रूप से सिद्ध हो जाता है।

काल की विशेषतायें

उक्त रीति से काल की सिद्धि, स्वरूप एवं गुणों के विषय में विचार करने के उपरान्त न्याय-वैशेषिक मतानुसार काल की निम्न विशेषतायें व्यक्त होती हैं -

क) काल एक वस्तुतः सत् द्रव्य है।[३५]

ख) काल नित्य[३६] है, इसकी उत्पत्ति एवं नाश नहीं होता।

ग) काल विभु[३७] द्रव्य है, इसका परिमाण परममहत् है, यह सभी मूर्त द्रव्यों से संयुक्त है।[३८]

घ) काल विभु होने के कारण स्वयं निष्क्रिय है क्योंकि सर्वव्यापक द्रव्यों में क्रिया सम्भव ही नहीं।[३९]

ङ) काल में पाँच सामान्य गुण पाये जाते हैं [४०] संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।

च) काल अतीन्द्रिय है और उसका कोई विशेष गुण नहीं है।[४१]

छ) काल स्वयं निष्क्रिय है किन्तु क्रिया का उपनायक है। 'मैं इस समय जा रहा हूँ' आदि वाक्यों में काल क्रिया के आधाररूप में ही व्यक्त होता है, अतः काल क्रिया का निमित्तकारण है।[४२]

ज) काल प्रत्येक कार्य की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश का हेतु है क्योंकि ये सब दशायें काल के प्रसंग में ही व्यक्त की जाती हैं।[४३]

झ) काल अतीत, अनागत, वर्तमान आदि शब्दों के प्रयोग का आधार है।[४४]

ञ) काल क्षण, लव, निमेष, काष्ठा, कला आदि कालमापक शब्दों के व्यवहार का हेतु है।[४५]

ट) काल हमारी परत्व-अपरत्व, यौगपद्य-अयौगपद्य, चिर-क्षिप्र आदि प्रतीतियों का कारण है। [४६]

ठ) काल स्वरूपतः एक ही है। वस्तुतः एक होने पर भी संसार के कार्यों के आरम्भ और समाप्ति, स्थिति एवं विनाशरूप उपाधियों के कारण काल में अनेकता का व्यवहार होता है। जैसे एक ही स्फटिकमणि नीली और पीली वस्तुओं के संयोग से कभी नीली और कभी पीली दिखाई देती है तथा एक ही मनुष्य पाकक्रिया के सम्बन्ध से पाचक तथा पठनक्रिया के सम्बन्ध से पाठक कहा जाता है, वैसे ही उक्त उपाधियों के भेद से एक ही काल कभी आरम्भकाल, कभी अभिव्यक्तिकाल और कभी निरोधकाल आदि भिन्न-भिन्न नामों से व्यवहृत होता है।[४७] अतः काल के भेद तो क्रियाजन्य उपधियाँ हैं - एक ही काल को किसी एक धर्म से विशिष्ट होने पर दिन, किसी अन्य धर्म से अवच्छिन्न होनेपर क्षण आदि कह दिया जाता है; वस्तुतः काल एक ही है और क्षण, दिन, मास आदि उसकी उपाधियों के मान हैं।[४८] भूत, भविष्य, वर्तमान आदि कालभेद भी औपाधिक हैं, तात्त्विक नहीं। अन्य शब्दों में, रवि-क्रियादि रूप उपाधियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं किन्तु काल नहीं;[४९]

अतः काल एक है यही मान्यता समीचीन है, अनेकत्व की कल्पना में तो गौरव-दोष है।[५०]

ड) काल प्रत्यक्षगम्य नहीं, उसकी सिद्धि अनुमान द्वारा होती है। प्राचीन न्याय-वैशेषिक मतानुसार काल का प्रत्यक्ष संभव नहीं, अतः उसकी सिद्धिहेतु अनुमान प्रस्तुत किया गया है।[५१] तदनुसार काल-तत्त्व एक असीम, अखण्ड, अविभाज्य, अनुमेय द्रव्य है; वह हमारी इन्द्रियों का विषय नहीं बन सकता, केवल कालिक गुणों के आधाररूप में अनुमित हो सकता है।

इस स्थल पर उल्लेख है कि मीमांसकों एवं वैयाकरणों की भाँति न्याय-वैशेषिक परम्परा में भी कुछ आचार्य काल की प्रत्यक्षगम्यता स्वीकार करते हैं जिनमें जयन्तभट्ट,[५२] जयदेव मिश्र तथा भगीरथ ठक्कुर[५३] प्रमुख हैं यद्यपि न्याय-वैशेषिक का सर्वमान्य सिद्धान्त यही है कि काल अतीन्द्रिय है।[५४]

ढ) तत्त्वतः एक होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से काल के तीन भेद माने जाते हैं- अतीत, वर्तमान एवं अनागत।[५५] न्याय-वैशेषिक में भी ये तीनों प्रकार के काल स्वीकार किये गये हैं यद्यपि काल का यह विभाजन वहाँ उपाधिजन्य ही माना गया है, वास्तविक नहीं। अन्य शब्दों में, काल एक ही है किन्तु जन्य उपाधियों के साथ संयुक्त होकर तीन रूपों में प्रकट होता है।[५६] जब कोई घटना प्रारम्भ हो चुकी है किन्तु समाप्त नहीं हुई तब उससे सम्बद्ध काल को भूत कहते हैं एवं जो घटना अभी आरम्भ ही नहीं हुई, उसे भविष्य कहते हैं।[५७] अतः क्रिया-रूप उपाधियों से युक्त होनेपर काल के ये तीन भेद प्रतीत होते हैं, तत्त्वतः काल एक ही है।

वर्तमान काल

इसी स्थल पर न्यायदर्शन में पूर्वपक्ष की ओर से एक शंका उठाई गई है कि यहाँ जिस 'वर्तमानकाल' कहा जा रहा है, उसकी तो कोई सत्ता ही नहीं है।[५८] उदाहरण के लिए वृक्ष से गिरनेवाले फल को या तो हम पेड से गिरा हुआ (भूत) कहेंगे या पृथ्वी पर गिरनेवाला (भविष्य) कहेंगे इन दोनों के बीच में कोई आधार ही नहीं बचता जिसके सम्बन्ध में वर्तमानकाल का उल्लेख किया जाये, अतः वर्तमानकाल को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

सूत्रकार गौतम ने इस शंका का समाधान इस प्रकार किया है कि वर्तमानकाल को माने बिना तो काम चल ही नहीं सकता क्योंकि यदि वर्तमान नहीं होगा तो भूत और भविष्यत् भी नहीं हो सकते - वे दोनों भी वस्तुतः वर्तमान पर ही आश्रित होते हैं। अन्य शब्दों में, काल आधार से व्यक्त नहीं होता, क्रिया से व्यक्त होता है[५९] और जब फल के गिरने की क्रिया चल रही होती है, उस काल को वर्तमान कहते हैं, अन्यथा गिरने की क्रिया का हो चुकना (भूत) या होना (भविष्य) किसके सम्बन्ध में कहा जायेगा ? वर्तमानकाल का निषेध करना कथमपि संगत नहीं है। वर्तमानकाल तो वस्तुओं की वर्तमानता या अस्तित्व का भी द्योतक है तथा उसके अभाव में तो किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान ही न हो सकेगा और इस प्रकार व्यवहार ही असंभव हो जायेगा, अतः वर्तमानकाल को तो मानना ही पडता है।[६०]

न्याय-वैशेषिक की कालसम्बन्धी उक्त मान्यताओं का वेदान्ती दार्शनिक श्रीहर्ष ने प्रबल खण्डन किया है एवं कहा है कि प्रथम तो काल वास्तविक स्वरूप ही सिद्ध नहीं है और दूसरे काल के तीनों भेद- भूत, भविष्य और वर्तमान-क्रियापर ही आधृत होने से एक ही सिद्ध होते हैं तथा वे वास्तविक नहीं हैं।[६१] श्रीहर्ष के इन सब आक्षेपों का युक्तिपूर्वक खण्डन करके न्याय-वैशेषिक में पुनः यही प्रतिपादित किया गया है कि काल एक वास्तविक तत्त्व है; भूत, भविष्य एवं वर्तमान उसके क्रियागत भेद हैं तथा वर्तमानकाल की भी सत्ता है।[६२] अन्य शब्दों में, न्याय-वैशेषिक मान्यता है कि तत्त्वतः काल एक, अनन्त एवं अविभाज्य है किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से काल के तीनों भेद भी सत् एवं वास्तविक हैं।[६३] यद्यपि वस्तुतः वे भेद काल के नहीं कहे जा सकते अपितु काल एवं क्रिया के सम्बन्ध पर आधृत हैं।

कालविषयक विप्रतिपत्तियाँ

सामान्यतः न्याय वैशेषिक परम्परा में काल को स्थिर एवं निष्क्रिय द्रव्य माना गया है जो सभी कार्यों का निमित्त कारण है। किन्तु इसी परम्परा में कुछ ऐसे विचारक भी हुए हैं जो काल के विषय में अपना स्वतन्त्र मत रखते हैं तथा पारम्परिक सिद्धान्त को अस्वीकार करते हैं उनमें से कुछ मुख्य मतों का संकेत यहाँ अभीष्ट है, तद्यथा -

१) काल अतिरिक्त द्रव्य नहीं है - रघुनाथ शिरोमणि का विचार है कि काल को एक पृथक् द्रव्य मानने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि काल की उपाधिरूप में स्वीकृत उपाधियों से अवच्छिन्न होकर ईश्वर ही काल व्यवहार का निमित्त माना जा सकता है।[६४]

२) क्षण ही काल है - एक ओर तो रघुनाथ शिरोमणि काल के अतिरिक्त द्रव्यत्व का खण्डन करते हैं और दूसरी ओर काल के ही सूक्ष्मतम रूप 'क्षण' को एक नवीन पदार्थ मानने का सुझाव देते हैं तथा उसे 'कालोपाधि' ही कहते हैं।[६५] उनका विचार है कि 'क्षण' ही 'इदानीम्' इत्यादि व्यवहार के विषय हैं तथा उन्हीं से सब काल-व्यवहार निष्पन्न हो जाते हैं अतः अतिरिक्त काल द्रव्य को मानने की क्या आवश्यकता है ?

३) ईश्वर ही कालरूप एवं सब कार्यों का निमित्त है - रघुनाथ शिरोमणि की ही भाँति सर्वज्ञ ने भी यही मत प्रकट किया है कि काल (एवं दिशा) को एक पृथक् द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भगवान् ईश्वर ही सब ज्ञानाज्ञानात्मक कार्यों का निमित्त है।[६६]

४) काल ईश्वर से पृथक् द्रव्य है - वेणीदत्त का विचार है कि ईश्वर तो एक ही है, उससे कालजन्य विविध अनुभूतियों की व्याख्या संभव नहीं, अतः काल ईश्वर से पृथक्, स्वतन्त्र द्रव्य है इसके लिए श्रुति प्रमाण भी प्रस्तुत किया जा सकता है, यथा - स एष संवत्सरः।[६७]

५) काल दिशा एवं आकाश से अभिन्न है - सप्तपदार्थ के लेखक शिवादित्य एवं वैशेषिक सूत्रों के अर्वाचीन भाष्यकार चन्द्रकान्त तर्कालङ्कार का मत है कि काल एवं दिशा आकाश से अभिन्न हैं, अतः उन्हें पृथक् स्वतन्त्र द्रव्य मानने की आवश्यकता नहीं।[६८]

६) चिर, क्षिप्र आदि काल के साधक लिङ्ग नहीं - जयन्तभट्ट ने काल के विषय में किन्ही विद्वानों का यह मत उद्धृत किया है कि चिर, क्षिप्र आदि काल के साधक लिङ्ग नहीं हो सकते क्योंकि उनमें और काल में कोई व्याप्ति नहीं है। मूहूर्त, याम, अहोरात्र आदि केवल हमारी कल्पना से जन्य हैं वस्तुतः काल नामक कोई वास्तविक द्रव्य है ही नहीं।[६९]

७) महाकाल और खण्डकाल - एक आधुनिक विद्वान का विचार हैं कि न्याय-वैशेषिक में दो प्रकार के काल भेद माने गये हैं एक तो नित्य, अखण्ड महाकाल एवं दूसरा सीमित, व्यावहारिक या खण्डकाल, जिसे

'कालोपाधि' कहा गया है। महाकाल एक स्थिर अविभाज्य तत्त्व है जिसके साथ सब वस्तुएं कालिक सम्बन्ध से ही जुडती हैं जबकि खण्डकाल उसी अनन्त महाकाल की उपाधि है।[७०]

काल-मान

न्याय-वैशेषिक ग्रन्थों में कालमापन सम्बन्धी अनेक पदों का प्रयोग[७१] यह सूचित करता है कि यहाँ काल को अखण्ड, असीम मानते हुए भी उसकी मापक उपाधियों को भी स्वीकार किया गया है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि नित्य महाकाल हमारे व्यावहारिक अनुभव का विषय नहीं बन सकता, किन्तु उपाधियों के द्वारा ही उसके मान की संभावना है।[७२] इस औपाधिक या खण्डकाल के मापन का आधार दैनिक सूर्यपरिस्पन्द को माना गया है तथा इसके लिए नक्षत्रविज्ञान या गणितशास्त्र की[७३] पद्धति अपनाने का निर्देश किया गया है। तदनुसार प्रशस्तपाद के अतिरिक्त श्रीधराचार्य तथा उदयनाचार्य ने कुछ कालमानों का निर्देश किया है जिनकी परिकलन-शुद्धता भी आँकने का प्रयास किया गया है।[७४]

निष्कर्ष - इस भाँति, उक्त संक्षिप्त विवेचन के आधार पर सारांश रूप में कहा जा सकता है कि न्याय-वैशेषिक दर्शन में काल को एक पृथक्, स्वतन्त्र, सम्पूर्ण, अविभाज्य, असीम, निरवयव एवं नित्य द्रव्य माना गया है- अतीत, अनागत, वर्तमान या क्षण, लव, निमेष आदि केवल उसकी व्यावहारिक उपाधियाँ हैं, वास्तविक नहीं हैं। काल को निरवयव इसलिए कहा गया है कि इसके अवयवों की उपलब्धि नहीं होती तथा इसे नित्य इसलिए माना गया हैं चूँकि इसके विभागादि का नाश होने से इसका नाश नहीं हो सकता। काल के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण समस्या यह है कि इसे एक माना जाये या अनेक ? काल की एकता तार्किक अनिवार्यता है तो उसकी अनेकता हमारे अनुभव का विषय है। इसीलिए न्याय-वैशेषिक दर्शनों ने सैद्धान्तिक रूप से काल को एक मानते हुए भी व्यावहारिक अनुभव की सत्यता एवं विविधता के आधार पर उपाधि भेद्र से इसकी अनेकता को भी स्वीकार कर लिया जो इस दर्शनधारा की वस्तुवादिता का ही परिचायक है। यहाँ काल को जगत् के समस्त कार्यों का निमित्तकारण कहा गया है, अतः अब यदि काल को ही वास्तविक नहीं माना जाये तो वे कार्य भी अवास्तविक सिद्ध हो जायेंगे। अतः काल की वास्तविकता न्याय-वैशेषिक के बहुतत्त्ववादी वस्तुवाद की आधारशिला है तो

उसकी व्यावहारिक अनेकता इनके अनुभववाद से प्रमाणित है। न्याय-वैशेषिक की स्थापना है कि काल के बिना किसी भी सद्वस्तु का अस्तित्व अकल्पनीय है, अतः काल एक सतत वर्तमान या नित्य तत्त्व है तथा सभी जन्य कार्यों का जनक, आश्रय या निमित्त है। काल ही हमारे अतीत, अनागत आदि व्यवहारों का हेतु है तथा सारे जगत् का आधार है।

रीडर, दर्शन विभाग, **डॉ. शशिप्रभा कुमार**
दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली.

टिप्पणियाँ

१. (अ) समानतन्त्रे दिक्कालौ वैतत्येन चिन्तितौ। तन्नेह लिख्यते लोके द्वेष्या हि बहुभाषिणः॥ न्यायमंजरी, भाग १ पृ. १२८
(आ) इत्युक्त्या वैशेषिकतन्त्रसिद्धान्त एव नैयायिकानामभिमतः। कालसिद्धान्तदर्शिनी, पृ. २६

२. पृथिव्यप्तेजोवायुदाकाशं कालो दिग् आत्मा मन इति द्रव्याणि। वैशेषिक सूत्र, १/१/५

३. आकाशकालदिशाम् एकैकत्वाद् अपरजात्यभावे पारिभाषिक्यस्तिस्रः संज्ञा भवन्ति, आकाशः कालो दिगिति। प्रशस्तपादभाष्य पृ. ३६

४. विभुत्वं सर्वमूर्त्तद्रव्यसंयोगित्वम्। तर्कदीपिका, पृ. १०

५. जन्यानां जनकः कालो जगतामाश्रयो मतः। भाषापरिच्छेद, कारिका ४५

६. Bhaduri, S. N., Studies in Nyāya Vaiśeṣika Metaphysics, p. 183

७. Misra, Umesh, Conception of Matter According to N. V., p. 160

८. उल्लेखनीय है कि भट्ट मीमांसक एवं वेदान्ती काल को प्रत्यक्षगम्य मानते हैं तथा उनके मत को पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित करते हुए न्याय वेशेषिक परम्परा के मान्य आचार्य जयन्तभट्ट भी काल प्रत्यक्षत्व के समर्थक ही प्रतीत होते हैं किन्तु यहाँ अधिकांशतः

स्वीकार्य एवं परम्पराप्राप्त न्याय-वैशेषिक मत के आधार पर काल की सिद्धि विवेच्य है ।

९. अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति काललिङ्गानि । वै. सू. २/२/६

१०. कालः परापरव्यतिकरयौगपद्यचिरक्षिप्रप्रत्ययलिङ्गम् । प्र. पा. भा. पृ. ४१

११. प्र. पा. भा. पृ. ४३ एवं उसपर व्योमवती, पृ. ३४९-३५०

१२. The Nyāya-Vaiśeṣika has followed the primitive belief that the Sun revolves around the Earth, which was supposed to be static. Prasad, H. S. Time As A Substantive Reality in Nyāya-Vaiśeṣika, East & West, Vol. 34, Sept. 1984, p. 237.

१३. तथाहि जन्मनः प्रभृत्येकस्यादित्यपरिवर्तनानि भूयांसीति परत्वम्, अन्यस्य चाल्पीयांसीत्यपरत्वम् । व्योमवती, पृ. ३४३

१४. सूक्ति, पृ. ३३३-३४

१५. न्या. लीला, कण्ठाभरण, पृ. २८३-८४

१६. किरणावली, पृ. ११५ तथा कणादरहस्य, पृ. ३२

१७. विस्तारहेतु द्रष्टव्य, वैशेषिक दर्शन में पदार्थ निरूपण, शशिप्रभा कुमार, पृ. १४७-४८

१८. एवं परत्वापरत्वे अपि कालपिण्डसंयोगनिबन्धने गृहीत्वा कालोऽनुमीयते न तु कालज्ञानपुरःसरं तज्ज्ञानं तत्सिद्धमरूपतया कालोऽप्रत्यक्षः परत्वापरत्वाद्यनुमेयश्चेति । न्यायवार्तिकतात्पर्य-टीका, पृ. ४०४-४०६

१९. आदित्यपरिवर्तनाल्पीयस्त्व भूयस्त्वनिबन्धनो युवस्थविरयोः परापर व्यवहार इत्येके, तदयुक्तम् आदित्यपरिवर्तनस्य युवस्थविरयोः सम्बन्धाभावादसम्बद्धस्य निमित्तत्वे चातिप्रसंगात्। न्यायकन्दली, पृ. १५६

२०. वही, पृ. १५७-५८

२१. वही.

२२. एवं कालोऽपि सर्वत्राभिन्नाकारवर्तमानप्रत्ययवेद्यः । न्या. लीला. पृ. ३१०-११

२३. न्या. भा (न्या. सू. २/१/४/पर)

२४. सिद्धः कालश्चाक्षुषो लैङ्गिको वा । न्या. मं. भाग ।, पृ. १२८

२५. वस्तुद्वयस्योत्पादसद्भावयोर्यदेकेन ज्ञानेन ग्रहणं तत्सहकारिणा कालेन परापरप्रत्ययौ जन्येते । न्याय कन्दली, पृ. १५६-५७

२६. नित्येष्वभावादनित्येषु भावात्कारणे कालाख्येति । वै. सू. २/२/९

२७. Sinha, J. N. History of Indian Philosophy, vol. I, p. 377

२८. भाषापरिच्छेद, कारिका, ४५-४६

२९. अतीतादिव्यवहारहेतुः कालः । तर्कसंग्रह, पृ. ११

३०. सर्वोत्पत्तिनिमित्तं जगदाधारश्च कालः । कणादसिद्धान्तचन्द्रिका, पृ. १०

३१. तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते । वै. सू. २/२/८

३२. अनाश्रितश्च । अनाश्रितत्वादेव द्रव्यम् । न्या. मं, भाग१, पृ. १२८

३३. तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः । प्र. पा. भा. पृ. ४३

३४. न्यायकन्दली, पृ. १५९-१६०

३५. वै. सू. १/१/५ (पूर्वोद्धृत)

३६. वै. सू. २/२/७ (पूर्वोद्धृत)

३७. कारणे कालः । वै. सू. ७/२/२५

३८. आकाशकालदिगात्मनां सर्वगतत्वं परममहत्त्वं सर्वसंयोगिसमानदेशत्वं च । प्र. पा. भा. पृ. ११

३९. दिक्कालावाकाशं च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि । वै. सू. ५/२/२१

४०. दिक्कालयोः पञ्चगुणवत्त्वम् । प्र. पा. भा. पृ. १३

४१. किरणावली, पृ. ४०

४२. कालः कल्पयितुं युक्तो क्रियातो नापरो ह्यसौ । न्या. मं., भाग एक पृ. १२४

४३. Keith, A. B., Indian Logic & Atomism, pp. 233-234

४४. त. सं. पृ. ११ (पूर्वोद्धृत)

४५. प्र. पा. भा. पृ. ४३

४६. वही, पृ. ४१

४७. वही, पृ. ४४

४८. न्या. सि. मु. एवं उसपर दिनकरी, पृ. १४८

४९. ननु कालस्य भूतभविष्यद्वर्तमानभेदेन बहुत्वात् कुत एकत्वमिति चेन्न, उपाधिभेदेन भेदप्रत्यपयात्। कालोपाधयो रविक्रियादिरूपा भिन्ना एव। तर्कामृत, पृ. १४

५०. किरणा. पृ. ११९

५१. कालस्तु वैशेषिक सिद्धान्ते न प्रत्यक्षः, अतएव तत्साधकमनुमानमुपन्यस्तं पुरातनैः काणादतन्त्रपरिशीलन-निपुणैः। का. सि. द., पृ. २०

५२. न्या. मं. भाग एक, पृ. १२८

५३. उमेश मिश्र द्वारा संकेतित, (एम. एन. व्ही, पृ. १८५)

५४. न्यायकोश, पृ. २३३

५५. काल एकोऽपि उपाधिभेदात्त्रिविधः अतीतः अनागतः वर्तमानश्च। तर्ककौमुदी, पृ. ३

५६. जन्यमात्रं कालोपाधिः। सिद्धान्तचन्द्रोदय (त. सं. १३२ पर उद्धृत)

५७. किरणा. पृ. १२०-१२१

५८. न्या. सू. २/१/४० तथा उसपर न्या. भा.

५९. नाध्वव्यंग्यः कालः, किन्तर्हि क्रियाव्यंग्यः। न्या. सू. २/१/४१ तथा न्या. भा.

६०. न्या. सू. २/१/४३ तथा न्या. भा.

६१. खण्डनखण्डखाद्य, पृ. ६८२-६८४

६२. Mandal, Kumar Kishor, The Concepts of Space and Time in Indian Thought, pp. 92-96

६३. तस्मादेकोऽप्ययं कालः क्रियाभेदाद्विभिद्यते। न्या. मं. भाग १,

पृ. १२७

६४. पदार्थतत्त्वनिरूपण, पृ. २३

६५. क्षणश्च क्षणिकोऽतिरिक्तः कालोपाधिः। वही, पृ. ७२

६६. न्या. भू. पृ. ४९०-४९१

६७. पदार्थमण्डनम्, पृ. १-३

६८. स. प. पृ. १७ एवं तर्कालङ्कारभाष्यपरीक्षा, पृ. ३३१-३३४

६९. न्या. मं. भाग १, पृ. १२६

७०. Ingalls, H. H., Materials for The study of Navya Nyāya Logic, p. 78

७१. क्षणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासर्त्वयनसंवत्सर-युगकल्पमन्तन्वरमहाप्रलयहेतुः। प्र. पा. भा. पृ. ४३

७२. Matilal, B. k., The Navya Nyāya Doctrine of Negation p. 43

७३. गणितशास्त्रानुसारेण प्रत्येतव्यम्। न्या. क. पृ. १५९

७४. Seal, B. N., Positive Sciences of The Ancient Hindus, pp. 76-80

नैयायिकों द्वारा व्यंजनावृत्ति का खण्डन

अभिधा व लक्षणा वृत्तियों के अतिरिक्त आलंकारिकों ने व्यंजना नामक तृतीय वृत्ति की भी सत्ता स्वीकार की है। उनका कहना है कि शक्ति व लक्षणा के द्वारा स्वगत सामर्थ्य से एक अर्थ का बोध कराकर विरत हो जाने पर उसी वाक्य से सहृदय व्यक्ति को जो अर्थान्तर की प्रतीति होती देखी जाती है उस अर्थान्तर की उपपत्ति के लिए ही व्यंजना को मानना आवश्यक है। यथा ''गङ्गायां घोषः'' इत्यादि लक्षणा के स्थल पर जो ''गंगा'' आदि लाक्षणिक पदों का प्रयोग किया जाता है, वह उनसे शीतत्व व पावनत्वादि प्रयोजन की प्रतीति कराने के हेतु ही किया जाता है। लाक्षणिक शब्द से प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना नामक पृथक् व्यापार के द्वारा ही होती है। उस प्रयोजन की प्रतीति न तो अभिधावृत्ति से हो सकती है और न ही लक्षणावृत्ति के द्वारा हो सकती है।[१] अभिधावृत्ति के द्वारा संकेतित अर्थ का ही बोध होता है और वह बोध पहले ही सम्पादित हो गया है। अपि च, गंगादि पदों के प्रयोजनादि अर्थ संकेतितार्थ भी नहीं हैं। प्रयोजनादि अर्थों के संकेतित न होने से अभिधावृत्ति से उनका बोध भी कथमपि संभव नहीं है। लक्षणावृत्ति से भी प्रयोजन की प्रतीति नहीं होती है क्योंकि यहां पर मुख्यार्थ-बाधादि हेतु लक्ष्यार्थ तीर का बोध होता है।[२] अतः शीतत्व पावनत्वादि प्रयोजन लक्ष्य नहीं हो सकते। इस प्रकार प्रयोजन की प्रतीति के लिए व्यंजना को पृथक् वृत्ति स्वीकार करना पडता है। यह व्यंजना शाब्दी व आर्थी भेद से दो प्रकार की होती है। पुनः शाब्दी व्यंजना भी अभिधामूला व लक्षणामूला भेद से दो प्रकार की होती है।

नैयायिकों ने अभिधा व लक्षणा नामक दो वृत्तियों की सत्ता को स्वीकार किया है। उन्होंने व्यंजना को पृथक् वृत्ति नहीं माना है। यद्यपि किन्हीं विशेष प्रसंगों में किन्हीं शब्दों से व्यंग्य अर्थ का बोध होता है तथापि व्यंजना, शक्ति व लक्षणा के अतिरक्ति अन्य कुछ नहीं है।[३] शक्तिवाद के टीकाकार कृष्णभट्ट कहते हैं कि गौणी तथा व्यंजना को अलग से वृत्ति मानना ठीक नहीं, क्योंकि इन दोनों का लक्षणा में अन्तर्भाव हो सकता है।[४] व्यंजना का खण्डन करते हुए माधव भी कहते हैं कि यदि व्यंजना अलग से वृत्ति मानी जाती है तो उसका कोई न कोई निश्चित स्वरूप होना ही चाहिए। व्यंजना का यदि कोई

स्वरूप है तो वह वाच्यरूप ही है। जब कभी व्यङ्ग्यार्थ का ज्ञान होता है तो वह पदों की शक्ति के ज्ञान के कारण होता है। भाव यह है कि व्यंजना में भी अभिधा के द्वारा अभिधेयार्थ माने बिना काम नहीं चलता। वाच्यार्थ ज्ञानही ही व्यंजना का भी कारण है। अतः व्यंजना को अलग से वृत्ति मानने में व्यभिचार आ जाता है, क्योंकि वास्तव में व्यंजना को मानने वालों के मत में वाच्यार्थ ज्ञान व्यंग्यार्थ में हेतु नहीं है। इस प्रकार जब प्रतीयमान अर्थ अभिधा के अतिरिक्त वृत्ति से उत्पन्न होता ही नहीं, तो उसे व्यजंना का कार्य मानना ठीक नहीं। इस सम्पूर्ण कार्य में अभिधा व्यापार ही मानना होगा।[५] अपि च, पूर्वपक्षी ने जो शाब्दी व्यंजना व आर्थी व्यंजना भेद से दो प्रकार की व्यंजना मानकर पुनः शाब्दी व्यंजना को अभिधामूला व लक्षणामूला भेद से दो प्रकार की मानी है तो इनमें से अभिधामूला व्यंजना का अन्तर्भाव अभिधावृत्ति में ही हो जाता है, लक्षणामूला व्यंजना का लक्षणा में व आर्थी व्यंजना का अन्तर्भाव अनुमान में ही हो जाता है। अतः व्यंजना को पृथक् वृत्ति मानना ठीक नहीं है। अधुना, तीनों के अन्तर्भाव की प्रक्रिया को दिखाया जाता है।

अभिधामूला शाब्दीव्यंजना का अन्तर्भाव अभिधा वृत्ति में हो जाता है- व्यंजनावादी की शंका हो सकती है कि ''व्यस्थानागरा सङ्गादङ्गानां हन्ति वेदनाम्'' इत्यादि नानार्थक स्थल पर प्रकरणादि के कारण शब्द से मुख्यार्थ (तात्पर्यार्थ) का बोध हो जाने के पश्चात् उसी शब्द से सहृदय जनों को एक अन्य अर्थ (अप्राकरणिक) का बोध भी होता है। यह द्वितीय अर्थ का बोध अभिधा से नहीं हो सकता है क्योंकि शब्दार्थज्ञान में प्रकरणादि अधीन तात्पर्यज्ञान हेतु होता है। लक्षणा के द्वारा भी इस द्वितीयार्थ का बोध नहीं होता है क्योंकि शब्दार्थ में लक्षणा का योग नहीं होता है। अतएव प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के पश्चात् जिस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है वह अभिधामूला व्यंजना से ही होती है। अतः अभिधामूला व्यंजना को पृथक् मानना पडेगा।[६]

पूर्वपक्षीमत का खण्डन करते हुए नैयायिक कहते हैं कि प्रकरणादि के तात्पर्य का निश्चायक होने पर भी उनका एक रूपसे अनुगम नहीं हो सकता। अर्थात् प्रकरण भिन्न२ स्थलों में भिन्न२ हो सकता है। एक प्रकार के शाब्दबोध में विभिन्न प्रकार के प्रकरण होने के कारण अनुगत रूप से प्रकरण

और शाब्दबोध में कार्यकारणभाव नहीं हो सकता ।[7] यथा यद्यपि घट के प्रति अनेक कारण हैं तथापि घट के प्रति कपाल नियमित रूप से कारण है । सर्वत्र कपाल के होने पर ही घट का निर्माण होता है लेकिन शाब्दबोध में सर्वत्र प्रकरणादि का नियमित रूप से रहना आवश्यक नहीं है । भिन्न-भिन्न प्रकरण में भिन्न-भिन्न प्रकार का शाब्दबोध होता है । अतः कार्य-कारण का नियम न बनने से प्रकरणादि को शाब्दबोध में हेतु नहीं मानना चाहिए । अपि च प्रकरणादिकों [8] के भिन्न-भिन्न होने से गौरवदोष होता है । एक प्रकरण में एक शब्द का जो अर्थ है वही अर्थ अन्य प्रकरण में नहीं हो सकता । अतः प्रतिव्यक्ति प्रकरण भिन्न-भिन्न होने से अनन्तदोष होगा । ''सैन्धवः प्रमेयः'' इत्यादि वाक्य में ''सैन्धव'' (नानार्थक पद) पद से दोनों प्रकार के अर्थ (लवण व अश्व) की उपस्थिति होने में कोई हानि नहीं होती है, क्योंकि लवण व अश्व दोनों ही प्रमेय पदार्थ हैं अतः नानार्थक स्थलों पर तात्पर्यज्ञान को हेतु नहीं मानना चाहिए । तात्पर्यज्ञान की हेतुता का खण्डन हो जाने पर प्रकरणादि का कहीं पर अभाव होने पर भी कोई दोष नहीं होता है क्योंकि तात्पर्यज्ञान की हेतुता सिद्ध होने पर ही लाघववश प्रकरणादि ज्ञान की कल्पना की जा सकती है । अपि च, आलंकारिकों ने तात्पर्यज्ञान के कारण के रूप में ही व्यंजना को माना है किन्तु तात्पर्य प्रतीति में कोई कारण विशेष मानना ठीक नहीं है । व्यंजना को तात्पर्य प्रतीति का कारण तभी माना जा सकता है जबकि सर्वप्रथम तात्पर्यरहित ज्ञान की प्रतीति हो । यदि शब्द प्रमाण से होने वाले ज्ञान को प्रथम अवस्था में निस्तात्पर्यक मानेंगे तो हमें उसके प्रतिबन्धक की कल्पना भी करनी होगी । वस्तुतः ऐसा कोई प्रतिबन्धक नहीं है ।[9]

शाब्दबोध के साथ२ ही तात्पर्य की प्रतीति भी हो जाती है । अतः शाब्दबोध ही तात्पर्य प्रतीति का कारण है । इस प्रकार तात्पर्य रूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति में अभिधावृत्ति के अतिरिक्त अन्यवृत्ति की कल्पना करना उचित नहीं है । अभिधाशक्ति के द्वारा यदि एकविध पदार्थों का अन्वयबोध हो जाने पर पुनः यदि तात्पर्यरूप व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती, तब तो व्यंजना नामकी पृथक् वृत्ति स्वीकार की जा सकती थी लेकिन ऐसा होता नहीं है । वस्तुतः एकार्थबोध के अनन्तर होने वाले प्रतीयमान अर्थ का बोध मन की विशिष्ट बुद्धि के द्वारा ही होता है । प्रतीयमान अर्थबोध के अनन्तर होने वाले सुखादि चमत्कार में शाब्दबोध के समान मानस बोध को भी हेतु मानना ठीक है ।[10]

अतः इस प्रतीयमान अर्थ का बोध किसी वृत्ति विशेष के द्वारा न होकर मन से ही होने से इसका कारण कोई शक्ति विशेष न होकर सहृदय की मनः कल्पना ही है। उपर्युक्त नानार्थक स्थलों पर जो अभिधामूला व्यंजना होती है वहाँ अभिधा से ही काम चल जायेगा। "-व्यस्थानागरासंगादंगानां हन्ति वेदनाम्" वाक्यस्थल में १) नवयुवती चतुर नायक के संग से अंगों की वेदना को हरती है तथा २) हरीतकी सोंठ के संग से शरीर की पीडा हरती है उभय अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही हो जाती है। फिर प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति में अभिधामूला व्यंजना क्यों मानी जाय। वस्तुतः ऐसे भेद की कल्पना ही अनुचित है।[११]

महिमभट्ट के अनुसार तो अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में इस मत का उल्लेख किया है। इनके अनुसार "दुर्गालङ्घितविग्रहो" आदि पद्य में शिव वाले दूसरे अप्राकरणिक अर्थ की व्यंजना नहीं होती है।

लक्षणामूलाशाब्दी व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणावृत्ति में हो जाता है। नैयायिकों का मत है कि "गंगायां घोषः" इत्यादि लक्षणा के स्थल पर प्रयोजन की प्रतीति करवाने के लिए ही आलंकारिकों ने व्यंजना को पृथक् वृत्ति माना है। परन्तु शैत्यपावनत्वादि प्रयोजन, जिन्हें व्यंग्य माना है, की प्रतीति लक्षणा से ही हो जाती है।[१२] "गंगायां घोषः" वाक्य में "गंगा" पद मात्र तट अर्थ का ही बोध नहीं करवाता अपितु पावनत्वादि विशिष्ट तट (प्रयोजन विशिष्ट लक्ष्यार्थ) का ही बोध करवाता है क्योंकि हमें "गंगातीरे घोषः" इस प्रकार के वाक्य से जिस अर्थ की प्रतीति होती है उससे कहीं विशिष्ट अर्थ की प्रतीति "गंगायां घोषः" कहने से होती है और यही लक्ष्यार्थ का प्रयोजन है। इससे प्रतीत हो जाता है कि "गंगा" पद केवल तटार्थबोध के लिए ही प्रयुक्त नहीं किया गया है अपितु एक विशेष प्रकार के अर्थ की प्रतीति कराने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अतः पावनत्वादि विशिष्ट लक्ष्यार्थ का ही बोध करवाता है क्यों कि हमें "गंगायां घोषः" इस प्रकार के वाक्य से जिस अर्थ प्रतीति होती है उससे कहीं विशिष्ट अर्थ की प्रतीति "गंगायां घोषः" कहने से होती है और यही लक्ष्यार्थ का प्रयोजन है। इससे प्रतीत हो जाता है कि "गंगा" पद केवल तटार्थबोध के लिए ही प्रयुक्त नहीं किया गया है अपितु एक विशेष प्रकार के अर्थ की प्रतीति

कराने के लिए ही प्रयुक्त हुआ है। अतः पानवत्वादि विशिष्ट तट में लक्षणा मानने से ही काम चल जाता है तो फिर व्यंजना की क्या आवश्यकता है।[१३]

व्यंजनावादी की शंका हो सकती है कि उपर्युक्त स्थल में प्रयोजन विशिष्ट लक्ष्यार्थ की प्रतीति होने पर भी "मुखं विकसितस्मितं"[१४] आदि में "विकसित" पद अपने अर्थ का विस्तार कर लक्षणा के द्वारा "जिसमें मुस्कराहट प्रकट हो रही है" उसका अनुभव कराता है। तत्पश्चात् लक्षणामूला व्यंजना से "मुख में कुसुमतुल्यसौरभ होना" अर्थ की व्यंजना होती है। अतः "योग" तथा "रूढ" आदि शब्दों के समान व्यंजक को भी शब्द मानना पडेगा।[१५] "विकसित" पद "कुसुम" के समान सुगन्धित अर्थ में रूढ नहीं है क्योंकि विकसित पद का यह संकेतित अर्थ नहीं है। "विकसित" पद यौगिक भी नहीं है क्यों कि पद की अवयव शक्ति के द्वारा उपर्युक्त अर्थ की प्राप्ति नहीं होती है। अपि च, "विकसित" पद से होने वाला बोध लक्षक भी नहीं है क्योंकि यहाँ पर मुख्यार्थबाधादि का अभाव है। अतः यहां पर व्यंजना ही माननी पडेगी।

उपर्युक्त मत का खण्डन करते हुए जगदीश कहते हैं कि "अन्वयानुपपत्ति को ही इन्होंने लक्षणा का बीज कहा है। अन्वय-अनुपपत्ति लक्षणाका जनक नहीं है। यह लक्षणा का ज्ञापक भी नहीं है क्योंकि मुख्यार्थ के अन्वयानुपपत्ति ज्ञान के बिना प्रमाणान्तर से भी लक्षणा का ग्रहण हो जाता है। यथा "गङ्गायां घोषः" स्थल पर "गङ्गा" पदं तीर लाक्षणिकं तीरार्थकतया प्रामाणिक प्रयुक्तगंगापदत्वात्" अर्थात् "गंगापद" तीर अर्थवाला होने से तीर का लक्षक है क्योंकि वह प्रामाणिक व्यक्ति द्वारा प्रयुक्त पद है" इत्यादि अनुमान से प्रकरणादि से तात्पर्यभूत लक्ष्यार्थ का ग्रहण हो जाता है। इस प्रकार ऐसे स्थलों पर अन्वय की अनुपपत्ति रूप लाक्षणिक बीज के न होने पर भी प्रकरणादि रूप बीजान्तर की कल्पना से लक्ष्यार्थबोध हो जाता है।[१६] अपि च, लक्षणाजन्य अन्वयबोध के प्रति अन्वयानुपपत्ति को कारण मानने से व्यभिचारदोष ही होता है क्योंकि "यष्टिः प्रवेशय" इत्यादि स्थल पर मुख्यार्थ के अन्वय की अनुपपत्ति न होने पर भी "यष्टिधर" आदि लक्ष्यार्थ का अन्वयबोध हो जाता है। अतः जिस प्रकार एक स्थल पर अन्वयानुपपत्ति के बिना लक्षणा के द्वारा ही तात्पर्यान्वय का बोध हो जाता है उसी प्रकार अन्यत्र भी अन्वयानुपपत्ति के बिना ही लक्षणा से शाब्दबोध हो जाता है। अन्वयानुपपत्ति के लक्षणा का

हेतु होने में किसी प्रमाण की उपलब्धि नहीं होती है। अतः "मुखं विकसितस्मितम्" स्थल पर भी "मुख" पद से आधुनिक लक्षणा के द्वारा ही "मुख में कुसुमतुल्य सौरभ 'होना" रूप अर्थ की प्रतीति हो जाने से यह अर्थबोध लक्षक ही है।[१७] इस प्रकार लक्षणामूला व्यंजना का अन्तर्भाव लक्षणा में ही हो जाने से व्यंजना को पृथक् वृत्ति मानना उचित नहीं है।

आर्थी व्यंजना का अन्तर्भाव अनुमान में हो जाता है। यहाँ यह कहा जा सकता है कि शाब्दी व्यंजना का बोध शक्ति तथा लक्षणा से हो जाने पर भी आर्थी व्यंजना के स्थल पर शक्ति व लक्षणा के द्वारा व्यंग्य वस्तु का बोध नहीं सम्पन्न किया जा सकता। उसके लिए व्यंजना को पृथक् वृत्ति मानना पडेगा। यथा "गच्छ गच्छसि चेत्" [१८] इत्यादि वाक्य स्थल पर वाच्यार्थ रूप से तो पत्नी की पति के प्रति विदेश गमन के समय कही गयी भावपूर्ण उक्ति का ही संकेत मिलता है परन्तु वास्तव में इस वाक्यार्थ के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का अर्थ प्रतीत होता है और वह अर्थ है, "हे प्रिय। तुम्हारे गमन के पश्चात् मेरा मरण हो जायेगा इसलिए तुम मत जाओ"। इस प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति व्यंजना वृत्ति से ही होती है, अभिधा अथवा लक्षणा से नहीं। अतः व्यंजना को पृथक् वृत्ति मानना ही पडेगा।

आलंकारिक मत का खण्डन करते हुए नीलकंठ कहते हैं कि उपर्युक्त वाक्यस्थल पर प्रतीयमान अर्थ का ज्ञान अनुमानादि के द्वारा ही हो जाता है। अनुमान का प्रयोग निम्नोक्त प्रकार से होता है -"इयं मदीयगमनोत्तर कालिक प्राणवियोगवती। विलक्षण शब्दप्रयोक्तृत्वात्" अर्थात् साध्य - यह (पत्नी) मेरे गमन के पश्चात् प्राणों को त्याग देने वाली है। हेतु - क्योंकि यह विलक्षण शब्दों की प्रयोक्तृ है। इस प्रकार अनुमान के द्वारा ही प्रतीयमान अर्थ का बोध हो जाने से आर्थी व्यंजना का अनुमानादि [१९] में ही अन्तर्भाव हो जाता है।[२०]

नैयायिकों के समान आलंकारिक महिमभट्ट ने भी व्यक्तिविवेक में व्यंजना वृत्ति का विरोध करते हुए कहा है कि व्यंग्यार्थ प्रतीति अनुमान द्वारा ही हो जाती है क्योकि व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ से नितान्त असम्बद्ध नहीं होता है। यदि ऐसा होता तो किसी भी शब्द से किसी भी अर्थ की व्यंजना होने लगती। इसलिए वाच्य और व्यंग्य में सम्बन्ध है और इस सम्बध से व्यंग्यव्यंजक भाव बनता है। या सम्बन्ध के नियमित होने के कारण ही सहृदयों को नियमित रूप से व्यंग्य की प्रतीति होती है अतः व्यंग्यव्यजंकभाव वस्तुतः अनुमाप्य अनुमापक

रूप है और व्यंग्य प्रतीति अनुमिति ही है। इस अनुमिति में व्यंजक हेतु है।[२१] यह व्यंजक रूप लिङ्ग प्रसिद्ध व्यंग्यार्थी के स्थल (सपक्ष) में अवश्य रहता है। वाच्यादि स्थलों में व्यजंक के न रहने से हेतु के विपक्षासत्व की भी सिद्धि होती है। और इस हेतु में धर्मिनिष्ठत्व या पक्षसत्व भी है अर्थात् जिज्ञासित व्यंग्यस्थल में भी व्यंजक विद्यमान है। अतः त्रिरूप हेतु के द्वारा साध्यका ज्ञान ही अनुमान है।[२२] यथा गोदावरी के तीर के संकेत स्थल पर पुष्पचयन करने के लिए आकर विघ्न करनेवाले धार्मिक को कोई नायिका सिंह के द्वारा कुत्ते के मारे जाने की घटना को बताती हुई कहती है - हे धार्मिक, अब निश्चिन्त होकर घूमों क्योंकि गोदावरी नदी के क़छार के कुओं में रहने वाले दर्पयुक्त सिंह ने उस कुत्ते को आज मार दिया है।[२३] यहाँ पर दो अर्थ हैं एक वाच्य तथा दूसरा प्रतीयमान। वाच्यार्थ ''हे धार्मिक, तुम खूब घूमो'' इस प्रकार का विधिरूप है और प्रतीयमान '' वहाँ शेर है अतः न घूमों'' निषेध रूप है। यह प्रतिषेध रूप अर्थ अनुमेय ही है।[२४] दोनों अर्थ क्रम से जान पडते हैं। इन दोनों के बीच अग्नि व धूम के समान साध्यसाधनभाव सम्बन्ध है।[२५] वाच्यार्थ की प्रतीति तो यहाँ हो ही जाती है क्योंकि भ्रमण विधान रूप साध्य का हेतु ''दुष्ट कुत्ते का मारा'' यहाँ विद्यमान है। किन्तु प्रतीयमान अर्थ इसी वाच्यार्थ विधि के द्वारा प्रतीत होता है। प्रतीयमान अर्थ में जब हम यह सोचते हैं कि कुत्ता वस्तुतः मारा गया है तो हमें कुत्ते को मारने वाले क्रूर सिंह का ध्यान आ जाता है। क्रूर सिंह के अस्तित्व रूप साधन से कुंज में अभ्रमण रूप निषेधार्थ की अनुमिति हो जाती है। क्योंकि जहाँ भी कोई भीषण भयजनक वस्तु होती है वहाँ डरपोक व्यक्ति कभी नहीं जाते हैं। किन्तु गोदावरी के तट पर सिंह की उपलब्धि है। अतः वहाँ भीरुभ्रमण का निषेध (व्यंग्य) है। अनुमान का स्वरूप निम्नोक्त प्रकार से होता है ''गोदावरी तीरं भीरुभ्रमणायोग्यम् भयकारणसिंहोपलब्धेः यन्नेवं तन्नैवं यथा गृहम्।'' अर्थात् गोदावरी तीर भीरुभ्रमण के अयोग्य है क्योंकि वहाँ भय के निमित्तभूत सिंह की उपलब्धि होती है। यहां पंचावयव अनुमान वाक्य का प्रयोग किया जा सकता है। यथा -

१) यह स्थान भीरु भ्रमण के अयोग्य है - प्रतिज्ञा वाक्य

२) क्रूरसिंह की उपस्थिति, होने के कारण - हेतु

३) (अ) जहां - जहां क्रूर सिंह होता है वहां -वहां भीरु भ्रमण नहीं

होता है।

(ब) जहां-जहां भीरु भ्रमण नहीं होता है वहां-वहां क्रूर सिंह का सद्भाव होता है जैसे अरण्य [२६] - दृष्टान्त

४) उसी प्रकार यह देश भी है - उपनय

५) इसलिए यह भी वैसा ही है (भीरु भ्रमण के अयोग्य है) - निगमन

इस प्रकार प्रकृत स्थल पर व्यंग्य अर्थ अनुमानगम्य ही है। अतः अन्य ध्वनि स्थलों पर भी व्यंग्यार्थ की अनुमेयता ही जाननी चाहिए। अन्ततः अभिधामूला शाब्दीव्यंजना, लक्षणामूलाशाब्दीव्यंजना व आर्थी व्यंजना का क्रमशः अभिधा, लक्षणा व अनुमान में अन्तर्भाव हो जाने से व्यंजनावृत्ति को अलग मानने की आवश्यकता नहीं है।

संस्कृत विभाग **डॉ. शशि कश्यप**
एस्. एन्. डी. टी. विश्वविद्यालय
मुंबई ४०००२०

टिप्पणियाँ

१. नाभिधा समयाभावात्। हेत्वभावान्न लक्षणा। काव्यप्रकाश, २/१५

२. मुख्यार्थबाधे तद्योगे रुढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत् सा लक्षणारोपिताक्रिया॥
वही, २/९

३. तुलना कीजिए, नैयायिकस्तु न सहन्ते। तथाहि व्यंजना शक्तौ लक्षणायां चान्तर्भवति। न्यायकोश, पृ. ८१६

४. एवं च गौणीव्यजंनयोः पृथग्वृत्तित्वमयुक्तं तयोः लक्षणायामन्तर्भाव सम्भवात्। शक्तिवादमंजूषा, पृ. १

५. व्यंजनाया वृत्तित्वोपगमे तस्याः स्वरूपसत्या एव हेतुताया वाच्यता तज्ज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितेरनपेक्षितत्वेन तत्तत्पदार्थ-विषयकशाब्दबुद्धौ पदवृत्तिज्ञानजन्यपदार्थोपस्थितेर्हेतुतया व्यभिचाराद्, व्यंजनावृत्यजन्य शाब्दत्वस्य कार्यतावच्छेककोटौनिवेशे गौरवाद्। शक्तिवादमाधवी, पृ. २

६. इत्थं संयोगादिभिरर्थान्तराभिधायकत्वे निवारितेऽप्यनेकार्थस्य

शब्दस्य यत्क्व चिदर्थान्तरप्रतिपादनं, तत्र नाभिधा, नियमनात्तस्याः। न च लक्षणा मुख्यार्थबाधाद्यभावाद। अपित्वंजनं व्यंजनमेव व्यापारः। काव्यप्रकाश, २/१९

७. न च तात्पर्यग्राहकाणां प्रकरणादीनामेव शाब्दबोधे कारणत्वमस्त्विति वाच्यम्। तेषामननुगमात्। न्याय सिद्धान्तमुक्तावली, शब्दखण्ड, पृ. ३१५-३१६

८. संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्य विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्ग शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचित्ती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतव :।
काव्य प्रकाश, द्वितीय उल्लास, पृ. ८९

९. निस्तात्पर्यकत्वज्ञानस्य प्रतिबन्धकत्वकल्पनादिति भावः। शब्दशक्तिप्रकाशिका, कृष्णकान्ती टीका, पृ. १५१

१०. तत्तदर्थाना यथाकथञ्चिदुपनयवशेन मनसैव विशिष्टधीसम्भवात्, मानोरथित्सुखप्रभेदपर्य्यवसितं चमत्कारं प्रत्यापि शाब्दस्यैव मानसस्यापि बोधस्य विशिष्य हेतुतायाः सुवचत्वात्, अतिरिक्तस्य व्यंजनस्य पदार्थान्तरस्य स्वरूपसत्तया अन्वयबुद्धौ तद्धेतुत्वस्य च प्रमाण- विरहेणासत्वाच्चेति। शब्दशक्ति-प्रकाशिका, पृष्ट १५३ -१५४,
अपि च, मनसैव तादृशबोधस्वीकारात्। शक्तिवादमाधवी, पृ. २

११. व्यंजनाऽपि शक्तिलक्षणान्तर्भूता शब्दशक्तिमूला। तर्कसंग्रहदीपिका, शब्द खण्ड, पृ. १४९। अपि च, अयं भावः व्यंजके नानार्थस्थले ''दूरस्थाभूधरा रम्याः'' इत्यादौ भूधरशब्देन पर्वतानामिव राज्ञामपि शक्त्यैव प्रतीतिः सम्भवति। नीलकण्ठी, शब्दखण्ड, पृ. १४९। तादृशबोधे तात्पर्यज्ञानस्य हेतुत्वे शक्त्यैव तादृशबोधसंभवेऽभिधामूलव्यंजना स्वीकारानुपपत्तेः। वही

१२. तुलना कीजिए- यत्तु तार्किकाः - लक्षणयैव - गतार्था व्यंजना इति न सा स्वीकार्या इत्याहुः। परमलघुमंजूषा - व्यंजना निरूपण

१३. ''गंगायां घोषः'' इत्यादौ तु शैत्यपावनत्वादिविशिष्टतीरप्रतीतिरपि

लक्षणासाम्राज्यादेव। तत्र लक्षणाकल्पिकायाः तात्पर्यानुपपत्तेरेव सद्भावात् किमतिरिक्त व्यंजनयेति। नीलकण्ठी, शब्दखण्ड, पृ. १४९। ननु पावनत्वादिधर्मयुक्तमेव तटं लक्ष्यते गंगायास्तटे घोष इत्यतोऽधिकस्यार्थस्य प्रतीतिश्च प्रयोजनमिति विशिष्टे लक्षणा, तत्किं व्यंजनयेत्याह। काव्यप्रकाश २/१७

१४. मुखं विकसितस्मितं वशितवक्रिमप्रेक्षितं
समुच्छलितविभ्रमा गतिरपास्तसंस्था मतिः।
उरोमुकुलितस्तनंजघनमंत बन्धोदधुरं
बतेन्दुवदनातनौ तरुणियोद्गमोमोदते॥
काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, उदाहरण स. ९

१५. स्यादेतत्, ''मुखं विकसितस्मितमित्यत्र विकसितपदेन विस्तृतार्थलक्षणया मुखस्य प्रकटितस्मितवत्तामनुभाव्योत्तरकाले कुसुमतुल्यसौरभादिमत्त्वं तस्य लक्षणामूल-व्यंजनया वृत्त्या बोध्यत इति रूढादिवत्व्यंजकमपि शब्दान्तरमास्थेयम्। शब्दशक्तिप्रकाशिका, पृ. १४४-१४५

१६. तत्र अन्वयानुपपत्तिज्ञानस्य लक्षणाबीजत्वं हि न तज्जनकत्व-शक्यसम्बन्धात्मिकाया लक्षणायास्तदजन्यत्वात्, नापि तज्ज्ञापकत्वं मुख्यार्थान्वयानुपपत्तिज्ञानमन्तरेणापि प्रमाणान्तरेण तदखग्रहसम्भवात्, अतएव न लक्ष्यार्थ- तात्पर्य्यग्राहकत्वमपि प्रकरणादितोऽपि लक्ष्यार्थपरत्वग्रहात्। वही, पृ. १४६-१४७

१७. तथाच स्वमते मुखादिपदस्याधुनिकलक्षणया कुसुमादितुल्य-सौरभादिमत्त्वप्रतीतिरिति तस्य लक्षकत्वान्न न्यूनतेति भावः। शब्दशक्ति प्रकाशिका, कृष्णकान्ती, पृ. १४८

१८. गच्छ गच्छति चेत्कान्तपन्थानः सन्तु ते शिवाः।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान्। नीलकण्ठी, शब्द खण्ड,

१९. अदिना संभावनादि परिग्रहः।उत्कटैकतरकोटिक संशयः संभावना। वही, पृ. १५०

२०. अर्थशक्तिमूला च अनुमानादिनाऽन्यथा सिद्धा।
तर्कसंग्रहदीपिका, शब्दखण्ड, पृ. १४९-१५०

२१. पक्षधर्मत्वसंबन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात्।

वृक्षत्वाम्रत्वयोर्यद्वद् यद्वच्चानलधूमयोः।
अनुमानत्वमेवात्र युक्तं तल्लक्षणान्वयात्॥
व्यक्तिविवेक, १/३४-३५

२२. त्रिरूपाल्लिङ्गाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानमेव। व्यक्तिविवेक, १/३४-३५

२३. भ्रमधार्मिक विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन। गोदानदीकच्छ-कुरङ्गवासिना दृप्तसिंहेन। वही, तृतीय विमर्श

२४. तुलना कीजिए -
एतेन शब्दसामर्थ्यमहिम्ना सोऽपि वारितः।
यमन्यः पण्डितमन्यः प्रपेदेकंचन ध्वनिम्॥
विधेर्निषेधावमतिर्विधिबुद्धिनिषेधतः।
''भ्रम धम्मिअवीसत्थोमा स्म पान्थ गृहं विश।
मानान्तर परिच्छेद्यवस्तुरुपोपदेशिनाम्।
शब्दानामेव सामर्थ्यं तत्र तत्र तथा तथा
न्यायमजंरी, भाग १, पृ. ४५

२५. अत्र हि द्वावर्थौ वाच्यप्रतीयमानौ विधिनिषेधात्मकौ क्रमेण प्रतीतिपथमवतरतः, तयोर्धूमाग्न्योरिव साध्यसाधन-भावेनावस्थानात्। व्यक्तिविवेक, तृतीयाविमर्श।

२६. तुलना कीजिए - यत्र-यत्र दृप्त सिंहसदभावस्तत्र तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम्।
व्याप्ताव्यापकभावो हि भावयोर्यादृगिष्यते।
तयोरभावयोस्तस्माद् विपरीतः प्रतीयते॥
श्लोकवार्तिक, अनुमान परिच्छेद

कन्फ्यूशियस का नैतिक दर्शन

कतिपय कारणों से कन्फ्यूशियस के विचारों का अध्यनय करना आज प्रासंगिक हो गया है। चीन की सभ्यता, संस्कृति और इतिहास को समझने के लिए तो यह जरूरी है ही, आधुनिक चीन और पूर्वी एशिया के अन्य देशों (जापान, दक्षिण कोरिया, सिंगापूर, ताइवान) की वर्तमान प्रगति की तह तक पहुँचने के लिए भी कन्फ्यूशियस के चिंतन को समझना बहुत जरूरी है। अधिकांश विचारकों की मान्यता है कि इन देशों की तीव्र आर्थिक प्रगति के पीछे वहाँ के व्यक्ति-समाज में कन्फ्यूशियस के नैतिक विचारों का प्रभाव भी महत्त्वपूर्ण है। साथ ही आधुनिकता का जो स्वरूप इन देशों में सामने आया है वह पश्चिमी देशों में व्याप्त स्वरूप से काफी भिन्न है। आधुनिकता की ओर कदम बढ़ा रहे भारत जैसे देश इससे बहुत कुछ सीख सकते हैं।

एक ऐसे अराजक समय में कन्फ्यूशियस का जन्म हुआ जिसमें समाज में भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता का बोलबाला था। कन्फ्यूशियस ने अपने ही देश की गौरवशाली परम्पराओं को पुनर्जीवित करके वैचारिक स्तर पर इस चुनौती का सफलतापूर्वक सामना किया। हानवंश के शासन में कन्फ्यूशियसवाद को राजधर्म की मान्यता मिली। तब से लेकर १९०५ इ. तक यह दर्शन चीनी शिक्षा प्रणाली का अनिवार्य अंग रहा। उसने चीनकी संस्कृति में तीन आधारभूत तत्त्वों -'जैन' अर्थात् लोकमंगल, 'यी' अर्थात् औचित्य और 'ली' अर्थात् अनुष्ठान की नींव डाली और श्रेष्ठ पुरुष द्वारा इन तीनों का समन्वय करके आचरण का उदाहरण प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी। कन्फ्यूशियसवाद की जड़ें चीनी जनमानस में इतनी गहरी जम गई कि ढ़ाई हजार वर्षो तक उसे न ताओवाद और बौद्ध दर्शन की तत्त्वमीमांसा ही उखाड सकी और न इस्लाम और ईसाई धर्म की आस्तिकता।

कन्फ्यूशियस मूलतः मानवतावादी है। व्यर्थ के तत्त्वज्ञान और रहस्यवाद में उसकी रुचि नहीं है। वह मानव सम्बन्धों से भरे इस जगत् पर अपना ध्यान केंद्रित करता है ताकि एक उन्नत समाज का निर्माण हो सके। यह कार्य वह व्यक्तिगत नैतिकता पर आधारित नैतिक दृष्टिकोण से करना चाहता है। उसका उद्देश्य एक ऐसी राजनैतिक व्यवस्था का निर्माण करना है जिसका आधार नैतिक व्यवस्था है। मनुष्य के ऊर्ध्वमुखी नैतिक आचरणमें ही श्रेष्ठ राज्य की

सम्भावना देखने के कारण कन्फ्यूशियस नैतिकता और राजनीति में भेद को तत्त्वतः मिटा देता है। श्रेष्ठ आचरण के लिए मानवीय स्वभाव की उन्नत प्रवृत्तियों में आधार खोजता है न कि किसी दैवीय आदर्श सत्ता में। अतः हम कह सकते हैं कि कन्फ्यूशियस के नैतिक दर्शन की नींव पर ही उसका सामाजिक-राजनैतिक दर्शन टिका हुआ है। इसी कारण जहां एक ओर वह कठोर दंड विधान में आस्था नहीं रखता वहीं समाज के प्रति दायित्व की भावना उसे असामाजिक ताओवादियों के व्यात्मक दृष्टिकोण का समर्थन भी नहीं करने देती।

कन्फ्यूशियस के नैतिक दर्शन की मूलभूत मान्यता है कि मनुष्य ही मनुष्य के आचरण का पैमाना है। संगीत और अनुष्ठान को इतना महत्त्व देने के पीछे भी मनुष्य के नैतिक स्वभाव के निर्माण की भावना है। यह पूर्व मान्यता व्यक्ति पर अपने आचरण को ऊर्ध्व नैतिक स्तर पर उठाने के दायित्व सौंपती है। इसके लिए उसे अपने स्वभाव के श्रेष्ठतम पथ से प्रारंभ कर उसे और अधिक उन्नत बनाना है। वही उसकी नैतिकता का सार है। यह कार्य कैसे किया जाय इसके लिए वह 'श्रेष्ठ मनुष्य' और 'जीवनके स्वर्णिम मार्ग' (Golden mean) की महत्त्वपूर्ण अवधारणाएँ प्रस्तुत करता है।

यद्यपि कन्फ्यूशियस ने श्रेष्ठ मनुष्य का कोई उदाहरण नहीं दिया है लेकिन उसकी वह उक्ति "एक श्रेष्ठ पुत्र और एक श्रेष्ठ अनुज होना श्रेष्ठ मनुष्य होने का पूर्व आधार है" यह वह दर्शाने में सक्षम है कि श्रेष्ठ मनुष्य कोई निरपेक्ष कल्पना मात्र नहीं है। मन की उस अवस्था का नाम है जिसमें मनुष्य वास्तव में अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त करता है। केवल दयालु पुरुष को भी वह श्रेष्ठ मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं करता। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि सामान्य मनुष्य श्रेष्ठता को प्राप्त नहीं कर सकता। अपितु कन्फ्यूशियस का सारा जोर ही इस बात पर कि प्रत्येक सामान्य व्यक्ति श्रेष्ठ मनुष्य हो सकता है यदि वह ऐसा होना चाहता है। इसके लिए उसे स्वयं प्रयत्न करना होगा। उसकी सफलता का आधार कन्फ्यूशियस का यह कथन है कि "उँचाई तक चढ़ने के लिए हमें निचली जमीन से प्रारम्भ करना होता है और दूर-स्थान तक जाने के लिए पहला कदम उठाना ही पड़ता है"। इस कार्य का प्रारम्भ व्यक्ति एक अच्छा पुत्र, भाई, बहन या नागरिक होकर कर सकता है।

श्रेष्ठता की मानववादी अवधारणा का अनिवार्य परिणाम 'जीवन का स्वर्णिम मार्ग है' दूसरे के प्रति वह व्यवहार मत करो जो स्वयं के प्रति दूसरों से नहीं चाहते हो। श्रेष्ठ मनुष्य की परिभाषा ही कन्फ्यूशियस ने इसी आधार पर की है और यही उसके चिन्तन का केन्द्रीय तत्त्व है। अति सुन्दर उदाहरण के माध्यम से उसने समझाने का प्रयत्न किया है कि आरी का हत्था बनाने के लिए एक बढ़ई को अपने हाथ में पकड़े हत्थे की ओर देखना मात्र है। अर्थात् दूसरे के प्रति किसी भी कर्म के औचित्य का निर्धारण करने के लिए स्वयं को उस परिस्थिति में रखकर आत्मपरीक्षण करना होगा कि स्वयं को कैसा अनुभव होता है। अतः आत्मपरीक्षण और आत्मपरिष्कार कन्फ्यूशियस के नैतिक दर्शन के आधार स्तंभ है।

आत्मपरिष्कार पर बल देने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि कन्फ्यूशियस व्यक्तिवादी नैतिकता का पक्षधर है। उसे सामाजिक नैतिकता का पक्षधर ही कहना उचित होगा क्योंकि उसका विश्वास है कि श्रेष्ठ पुत्रों और श्रेष्ठ भाईयों का देश ही एक शान्त व्यवस्थित देश हो सकता है। वह देश और समाज की उचित व्यवस्था के लिए परिवार तथा परिवार की सामंजस्यपूर्ण व्यवस्था के लिए व्यक्ति के आत्म परिष्कार को अनिवार्य समझता है। यहां कई आधुनिक विचारकों से समानता द्दष्टव्य है जो शिक्षा को वर्तमान-संकट दूर करने का अनिवार्य माध्यम समझते हैं। यह आधुनिक मनोविज्ञान के आदत और नक्ल के सिद्धान्तों के अनुरूप भी हैं। उसके अनुसार परिवार के अन्तर्गत प्रेम और आदरकी आदतों का विकास से ही व्यक्ति में परिवार के बाहर के व्यक्तियों, उनके पिताओं तथा राज्य के प्रति प्रेम-आदर की भावनाओं का विकास सम्भव है। इसी कन्फ्यूशियस ने पूरे सामाजिक और राजनैतिक जीवन को पांच कर्तव्यों की द्दष्टि से पांच युग्मों में बांटा है -

१- शासक-मंत्री
२- पिता-पुत्र
३- पति-पत्नी
४- बड़े-छोटे भाई और
५- मित्र-मित्र

यदि ध्यान से देखें तो हमारा व्यवहार इन्हीं सम्बधों के बीच होता है। कन्फ्यूशियस ने पांच कर्तव्यों के माध्यम से इन सम्बधों में नैतिक व्यवहार की

स्थापना की है । यह पांचों कर्तव्य सार्वभौम दायित्व के अन्तर्गत आते हैं । तीन सद्गुणों- ज्ञान, उदारता और शक्ति अथवा ऊर्जा के माध्यम से इन कर्तव्यों का अभ्यास कराया जा सकता है लेकिन इसके लिए आचरण में एकनिष्ठता जरूरी है ।

इस बात पर भी विचार करना आवश्यक है कि ज्ञान, उदारता और ऊर्जा इन तीनों से कन्फ्यूशियस का क्या तात्पर्य है । सम्बधों के वास्तविक ज्ञान को जानकर अच्छे मनुष्य में उदारता का भाव पैदा होता है । उदारता के गुण से न केवल हम दूसरों के प्रति मृदु होते हैं बल्कि उन्हें भी अपने प्रति मृदु होने का अवसर देते हैं । उदारता के साथ साथ सहज मानवीय संकोच से मनुष्य में ऐसी ऊर्जा का प्रादुर्भाव होता है जिससे वह परस्पर सन्मान को समझ सकता है । वहीं यह भी प्रश्न उठता है कि तीनों सद्गुणों को उनके विकास के लिए जिस एकनिष्ठता पर कन्फ्यूशियस बल देता है वह किसके प्रति है ? स्वर्ग और राजा के प्रति । तभी वह स्वयं के प्रति भी निष्ठावान हो सकेगा ।

कर्तव्यज्ञान के विषय में कन्फ्यूशियस परम्परागत धारणा का अनुयायी है । कर्तव्यज्ञान जन्मगत भी होता है और अभ्यास से भी । यदि जन्म में यह ज्ञान न भी हो तो समाज में रहकर व्यक्ति को अपने भले-बुरे की पहचान हो जाती है । उसने इस बात पर बल दिया कि शिक्षा में रुचि लेना ज्ञान के समीप पहुँचना है । दृढ़ता से अभ्यास करना उदारता के निकट पहुँचना है, लिहाज करने का भाव रखना ऊर्जा के समीप होना है।

कन्फ्यूशियस का स्पष्ट मात है कि जिस व्यक्ति ने आत्मपरिष्कार के द्वारा अपने चरित्र का विकास किया है वही दूसरों पर शासन करने के योग्य है । अतः उन सभी को जो साम्राज्य-शासन से जुड़े हैं, नौ स्तरीय नियमों का पालन करना चाहिये । अपने चरित्र का विकास, सद्गुणी एवं प्रतिभावाने व्यक्तियों का सन्मान, सम्बन्धियों के प्रति स्नेह, योग्य मंत्रियों के प्रति आदरभाव, समस्त पदाधिकारियों के प्रति उदारता तथा दयालुतापूर्ण व्यवहार, जनता के प्रति पितृवत् आचरण, विभिन्न वर्गों के कारीगरों को प्रोत्साहन, औपचारिक दूरी रखकर मनुष्यों के प्रति मधुर आचरण तथा राज्यों के युवराजों के प्रति दयाभाव और लगाव । उपरोक्त नियमों के पालन के साथ-साथ वह बहुत गम्भीरता पूर्वक राज्य अधिकारियों और जनता के बीच कर्तव्यनिष्ठा के

निर्वाह पर बल देता है। चूँकि उसके समय में राजाओं का परस्पर व्यवहार परम्परागत धारणा से ही परिचालित होता था। अतः उसने परम्परा को प्रतिष्ठित करते हुए उन व्यक्तिगत गुणों पर अधिक बल दिया है, जिससे व्यवस्थित और सद्भावनापूर्व समाज की स्थापना होती है। सूत्र रूपमें इन्हें इस प्रकार रखा जा सकता है : अपने आपको अधिकांश लोगों के अनुकूल बनाना, निरन्तर प्रयत्न करते रहना,उच्च गुणों के लिए स्वयं को समर्पित करना, बुराई करने वालों की उपेक्षा करना तथा भौतिक आवश्यकताओं का दास न होना।

कन्फ्यूशियस के नैतिक चिन्तन के उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वह श्रेष्ठ मनुष्य और निम्न कोटि के मनुष्य में अन्तर करता है। श्रेष्ठ मनुष्य, जहाँ नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर आचरण करता है वहीं निम्न कोटि का मनुष्य लाभ के आधार पर कर्म-प्रवृत्त होता है। अपने वक्तव्यों में कन्फ्यूशियस ने बार-बार श्रेष्ठ मनुष्य के गुणों का वर्णन किया है। जिस आदर्श आचरण की बात वह करता है उसमें से कुछ भी ऐसा नहीं है जिसे मनुष्य अपने सांसारिक जीवन में ग्रहण न कर सके। व्यवहारिकता उसके चिन्तन की धुरी है।

जिस श्रेष्ठ मनुष्य की चर्चा कन्फ्यूशियस ने की है वह नीत्शे के सुपरमैन से भिन्न है। वह एक शान्त, दयालु, नैतिक आदर्शों पर चलनेवाला सद्गुणी, ज्ञानी, अपने व्यवहार के प्रति सावधान और अपने व्यवहार का समाज पर प्रभाव डालने की क्षमता रखने वाला मनुष्य है जो भोगवादी जीवन शैली के प्रति घृणा रखता है। वह सन्त पुरुष के समान है किन्तु सामाजिक दायित्व की भावना के कारण उसे प्लेटो के दार्शनिक राजा के प्रति रखा जा सकता है। यहां पर प्रश्न उठाना समीचीन है कि क्या मनुष्य की यह अवधारणा पश्चिम की व्यक्तिवादी अवधारणा के समान है ? कदापि नहीं। इस पश्चिमी अवधारणा में मनुष्य आत्मकेन्द्रित, अहंकेन्द्रित, समाज से कटा हुआ है जिसका दूसरों से बराबर संघर्ष चलता है किन्तु कन्फ्यूशियस के लिए मनुष्य अनेक मानवीय सम्बन्धों का केन्द्र है, उसकी सामाजिकता और नैतिकता उसके आत्मस्वरूप का आवश्यक अंग है। आत्मपरिष्कार उसके लिए जड़ें और तने के समान है, सामञ्जस्यपूर्ण मानवीय सम्बन्ध उसकी शाखाएँ हैं। उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता और न इनके वरीयता-क्रम में परिवर्तन ही किया जा सकता है।आत्मपरिष्कार एक सामुदायिक कर्म है जिसे मानवीय सम्बन्धों के निरन्तर विस्तृत होते वृत्तों के रूप में समझा जा सकता है। लेकिन मनुष्य को

उसकी विभिन्न सामाजिक भूमिकाओं के समुच्चय के रूप में देखना उचित नहीं है। अपितु उसे मनुष्य की नैतिक अध्यात्मिक उन्नति के विभिन्न सोपानों के रूप में देखा जाना चाहिये। मनुष्य जीवन का अंतिम उद्देश्य निर्वाण, उसी वास्तविकता को उपलब्ध होना है जो हमारे अन्दर छिपी हुयी है। इस परिकल्पना को स्पष्ट करने के लिए वह कहता है -

''कविता के साथ उठो।
औचित्य में स्थित रहो।
संगीत के साथ विकास करो।''

कविता और संगीत के साथ विकास करने का अर्थ है कि कन्फ्यूशियस का नैतिकवादी दर्शन जीवन की सरलता का निषेध नहीं करता। वह जीवन के निषेध के स्थान पर उसकी स्वीकृति का पक्षधर है। वह जीवन को सार्थक ही नहीं उल्लासमय बनाना चाहता है।

कन्फ्यूशियस की नैतिकता को दासता की नैतिकता कहकर आलोचना की जाती रही है कि उसे सामान्तवाद को प्रश्रय दिया और सुविधाभोगी बुद्धिजीवियों को प्राथमिकता देकर अधिकांश जनता को पराधीन बनाये रखा। इसके अन्तर्गत धनी और गरीब, बुद्धिजीवी और अशिक्षितों के लिए भिन्न आचरणों का विधान है। स्त्रियों की सत्ता नहीं के बराबर है और परिवार की सत्ता व्यक्ति के मूल्य पर स्थपित की गई है। एक हद तक वर्तमान की उपेक्षा, अतीत का गौरवगान तथा परिवर्तन का विरोध करने का आरोप भी इस पर लगाया गया। कन्फ्यूशियस के विचारों के आधार पर एक प्रजातांत्रिक और समतावादी राज्य-प्रणाली का निर्माण नहीं किया जा सकता।

कन्फ्यूशियस के पक्ष में यह कहा जा सकता है कि कोई भी चिन्तक कितना भी बड़ा क्यों न हो, इस बात की कल्पना नहीं कर सकता कि शताब्दियों बाद विश्व की सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक तस्वीर कैसी होगी। नये परिवेश में नारी-पुरुष का अन्तर समाप्त हो जायेगा, यह बात उस युग में नहीं सोची जा सकती थी। हमें यह मानना चाहिये कि व्यक्ति को केन्द्र में रखकर उसने जिस तरह से परिवार, समाज और राज्य में सामञ्जस्य की आवश्यकता पर बल दिया वह आज भी प्रासंगिक है। व्यक्तिगत पूर्णता का आदर्श और सद्‌भावनापूर्ण समाज की व्यवस्था आज भी उतनी ही अपेक्षित है जितनी ढ़ाई हजार वर्ष पहले थी। यह लक्ष्य कैसे प्राप्त किया जाय, इसके लिए कन्फ्यूशियस

ने एक समग्र दर्शन प्रतिपादित किया है। उसने व्यक्तिवाद नहीं परिवार-सापेक्ष व्यक्ति की परिकल्पना की है। व्यक्तिवाद जहाँ अलगाव को जन्म देता है वहीं कन्फ्यूशियस के नैतिक दर्शन में व्यक्ति और परिवार के बीच स्वस्थ सन्तुलित सम्बन्धों की परिकल्पना है। राज्य उसके लिए परिवार का ही विस्तार है। राजनीति को नैतिकता से जोड़कर वह उसे औचित्य का आधार देता है, यह उसकी महान देन है। वह एक ऐसे व्यावहारिक नैतिक दर्शन का प्रणेता है जो उच्चतम मानवीय आदर्शों को जीवन में उतारने और उसके द्वारा पूरे समाज को लाभान्वित करने के लिए है। वह प्रकृति, मनुष्य और पशु-पक्षियों के बीच अभिन्न सम्बन्ध की उद्‌भावना करता है। आज वृक्षों के गिराये जाने से परिवेश के संरक्षण के लिए जो विश्वव्यापी चेतावनियां दी जा रही हैं, कन्फ्यूशियस ने उन पर बहुत पहले ही सोचा था।

यह सच है कि आधुनिक जीवन में प्राचीन मान्यताएँ कुछ अप्रासंगिक हो गयी हैं किन्तु चिन्तक के रूप में कन्फ्यूशियस आज भी प्रासंगिक है। भौतिक स्तर पर बहुत उन्नति करने के बावजूद मानवीय सम्बन्धों के स्तर पर हम उससे बहुत सीख सकते हैं। आज के परिवारिक विघटन, शासकीय निरंकुशता, व्यक्तिवादी स्वेच्छाचारिता और पर्यावरण सम्बन्धी खतरों के बीच कन्फ्यूशियस की चेतावनी और उनका समाधान हमें एक स्वस्थ और सुनियोजित समाज बनाने की प्रेरणा देता है।

५३, अशरफ टोला, **डॉ. आलोक टंडन**
हरदोई, उ. प्र. २४१००१

संदर्भग्रंथ

१. लिन युतांग, दि विजडम आफ कन्फ्यूशियस, कार्लटन हाउस, न्यूयार्क, १९३८
२. टू. बी. मिंग, कन्फ्यूशियस थॉट, स्टेट यूनीवर्सिटी आफ न्यूयार्क प्रेस, १९८५
३. बी. एस. बोनसाल, कन्फ्यूशियनिज्म एन्ड ताओइज्म, दि एपवर्थ प्रेस, लन्दन, १९३४
४. डॉ. विनय, कन्फ्यूशियस : महान गुरु, हिन्द पाकेट बुक्स, १९८८

परामर्श (हिंदी)

(त्रैमासिक पत्रिका)

दर्शन एवं साहित्य पर वैचारिक चिंतन प्रस्तुत करनेवाली पत्रिका दर्शन, साहित्यशास्त्र तथा अन्य सामाजिक विज्ञान के अध्यापक, संशोधक, छात्र एवं प्रेमी पढते हैं।

विज्ञापन की दरें

१/८ डिमाई साईज	एकअंक के लिए रु.	चार अंको के लिए रु.
१/४ पृष्ठ	१२०/-	४२०/-
१/२ पृष्ठ	२००/-	७००/-
पूर्ण पृष्ठ	४००/-	१४००/-
कव्हर पृष्ठ. ३	६००/-	२१००/-
कव्हर पृष्ठ. ४	८००/-	२८००/-

आप आपकी संस्था /प्रकाशन/ उत्पादन का 'परामर्श (हिं)' में विज्ञापन देकर पत्रिका की मदत कर सकते हैं।

विज्ञापन की प्रति एवं शुल्क मनीऑर्डर या बँक ड्राफ्ट से निम्नंकित पते पर भेजें-

प्रधान संपादक,
परामर्श (हिंदी)
दर्शन-विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे ४११००७

कार्ल मार्क्स चिन्तन के विभिन्न आयाम

विश्व विख्यात आर्थिक चिन्तक कार्ल मार्क्स को विश्व कला का बहुत अच्छा ज्ञान था और साहित्य, शास्त्रीय संगीत तथा चित्रकारिता के प्रति उनका सच्चा अनुराग था। मार्क्स ने अपने जवानी के दिनों में कविताएं लिखी की और मार्क्स ने यह दृष्टिकोण प्रतिपादित कि किया चेतना सामाजिक प्राणी में ही संभव है। मार्क्स को क्लासिकीय साहित्य को ही बहुत अच्छा ज्ञान नही था, वे तो उन लेखकों की कृतियों से भी सुपरिचित थे जो बहुत प्रसिद्ध नहीं थे, जिन्हें बहुत कम लोग जानते थे। उन्होंने लोककला, विभिन्न जातियों के महाकाव्यों तथा अन्य प्रकार की लोककथाओं - गीतों, किस्से-कहानियों और कहावतों के प्रति सच्चे अनुराग का परिचय दिया। मार्क्स की रचनाएँ तत्त्व की गहनता के लिए ही नहीं, अपितु उनमें असाधारण कलात्मक गुणों के लिए भी उल्लेखनीय है। मार्क्स तथा एंजेल्स ने अपने विचारों को अधिक अशक्त तथा विविधपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करने के लिए पत्रकारिता तथा वादानुवाद सम्बन्धि अपनी कृतियों में, यही नहीं पूंजी तथा डयूहरिंग मतखण्डन जैसी आधारभूत सैद्धान्तिक कृतियों तक में कलात्मक बिम्ब विधान का उपयोग किया था।

मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन को कार्ल मार्क्स के योगदान की विभिन्न रूपों में परीलक्षित किया जा सकता है। विश्व कला के उनके अनुपम ज्ञान ने उन्हें सही अर्थों में वैज्ञानिक सौन्दर्यात्मक सिद्धांतों का प्रतिपादन करने में सहायता दी। मार्क्स इस प्रकार पूर्ववर्ती युग के जटिल सौन्दर्यात्मक प्रश्नों का उत्तर देने में ही नहीं, अपितु सौन्दर्यशास्त्र की आधारभूत रूप से एक नूतन पद्धति का विकास करने में भी सक्षम रहे।

सौन्दर्यशास्त्र के सिद्धांत का विकास करते हुए उन्होंने अपने पूर्ववर्तियों की उपलब्धियों को स्वभावतया अपना आधार बनाया। मार्क्स ने कला को व्यक्ति के सामाजिक अस्तित्व के साथ जोडकर इसका अध्ययन किया था। मार्क्स तथा एंजेल्स दोनों कला तथा साहित्य के विकास के मात्र आन्तरिक नियमों को ही प्रस्थान बिन्दु बनाकर उन्हें समझ पाना असम्भव मानते थे। उनके अनुसार कला के सार, मूल विकास तथा सामाजिक भूमिका को समग्र सामाजिक प्रणाली के विश्लेषण के जरिए ही समझा जा सकता है जिसके

अन्तर्गत आर्थिक कारक-उत्पादन सम्बन्धों के साथ जटिल अन्योन्यक्रिया में उत्पादन शक्तियों का विकास निर्णायक भूमिका अदा करता है। मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि सामाजिक चेतना के विभिन्न रूप निःसन्देह कलात्मक सर्जना समेत इस सामाजिक यथार्थ पर सक्रियतापूर्वक प्रभाव डालते हैं, जिससे वे अविर्भूत होते हैं।

मार्क्स अपने ज्ञान के द्वन्द्वात्मक-भौतिकवादी सिद्धांत को कला तथा साहित्य के विश्लेषण पर लागू करते हैं। स्वभावतः साहित्य का विवेचन करते समय मार्क्स ने अपना ध्यान यथार्थवाद की समस्या पर, किसी कलात्मक कृति में यथार्थ का सबसे सटीक चित्रण करने पर संकेन्द्रित किया। मार्क्स साहित्य में एक प्रवृत्ति तथा कलात्मक सृजन की एक विधि के रूप में यथार्थवाद को विश्व कला की सबसे बडी उपलब्धि मानते थे। लासाल के नाम अपने चिट्ठियों में मार्क्स और एंजेल्स ने साहित्य तथा जीवन के बीच, साहित्य तथा समकालीन अवधि के बीच सम्बन्ध सूत्रों की भी चर्चा की। मार्क्स साहित्य को राजनीति के ऊपर रखने के प्रयत्नों तथा "कला" कला के लिए सिद्धांत के कटु आलोचक थे।

मार्क्स ने इस बात पर जोर दिया कि यथार्थवादी लेखकों की कृतियों को प्रगतिशील विश्व दृष्टिकोण प्रतिबिम्बित करना चाहिए, उन्हें प्रगतिशील विचारों से ओतप्रोत होना चाहिए तथा उन्हें सही मायने में समसामयिक समस्याओं से वास्ता रखना चाहिए। ठीक इसी अर्थ में उन्होंने साहित्य में प्रयोजनमुखता का स्वागत किया था, जिसे वे विचारात्मक तथा राजनीतिक प्रतिबद्धता मानते थे। मार्क्स की यह दृढ मान्यता थी कि प्रगतिशील साहित्य गठन और जीवन्त प्रक्रियाओं को सच्चाई के साथ प्रतिबिम्बित करने, अग्रणी विचारों की उद्घोषणा करने, समाज में प्रगतिशील शक्तियों के हितों की रक्षा करने के लिए कर्तव्यबद्ध है।

मध्ययुगीन सामाजिक प्रणाली तथा संस्कृति की विशेषताओं का उनके द्वारा किया गया सही मानों में विज्ञान सम्मत विवेचन निरपवाद रूप में बहुत प्रचलित है। मार्क्स ने मध्य युगों के स्वच्छन्दतावादी आदर्शीकरण की धज्जियाँ उडा दीं और साथ ही ज्ञान प्रसारकों के इस अमूर्त विचार की असंगति भी प्रदर्शित कर दी कि यह तो महज सामाजिक तथा सांस्कृतिक प्रतिशामिता का युग था। मार्क्स ने पुनर्जागरणकाल के बारे में नया दृष्टिकोण निरूपित तथा

अभिपुष्ट किया, जो संस्कृति के पूर्ववर्ती इतिहासकारों के दृष्टिकोण से तथा कई मामलों में समकालीन बूर्ज्वा इतिहास लेखन से भिन्न था। पुनर्जागरणकाल का मार्क्स ने ''आम क्रान्ति'' तथा सबसे बडे प्रगतिशील परिवर्तन के रूप में मूल्यांकन किया। वे पुनर्जागरणकाल के महामानवों को मात्र असाधारण विद्वान, कलाकार या कवि ही नहीं, वरन् विश्व विज्ञान तथा संस्कृति के क्षेत्रों में महान् क्रान्तिकारी भी मानते थे।

मार्क्स १८वीं शताब्दी के अंग्रेज तथा फ्रांसीसी ज्ञान-प्रसारकों की धरोहर की, उनके कथा साहित्य तथा उनकी सौन्दर्यशास्त्र सम्बन्धी कृतियों की बहुत कद्र करते थे। ज्ञान प्रसारकों की गतिविधियों पर मार्क्स द्वारा किया गया विश्लेषण फ्रांसीसी बूर्ज्वा क्रान्ति के लिए तैयारी के समय समाज के जीवन तथा वर्ग संघर्ष के साथ इन गतिविधियों के घनिष्ठ सम्बन्ध पर प्रकाश डालता है और इस धरोहर में, नरम बूर्ज्वा तत्त्वों तथा जनवादी तत्त्वों के बीच विभाजन रेखा खींचता है। पश्चिमी यूरोपीय स्वच्छन्दतावाद का मार्क्स द्वारा किया गया विश्लेषण साहित्य के सच्चे अर्थों में विज्ञान सम्मत इतिहास का विशदीकरण करने के लिए बहुत महत्वपूर्ण है। मार्क्स इन प्रतिक्रियावादी स्वच्छन्दतावादियों की आलोचना करते थे, जिनकी अतीत के प्रति पूजा-भावना सामन्तशाही के हितों की आधार शिला थी।

मार्क्स की मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन की अभिलाक्षणिकता यह थी की साहित्य तथा कला के प्रति उनका रुख अत्यन्त गहन अन्तरराष्ट्रीयतावादी था। वे यूरोपीय तथा गैर-यूरोपीय, छोटे तथा बडे सभी राज्यों की सृजनशील कृतियों की ओर समान रूप से ध्यान देते थे, वे यह मानते थे कि हर जाति कला तथा साहित्य के विश्व भंडार में अपना अद्वितीय योगदान करती है। मार्क्स ने सर्वहारा वर्ग के सभी पक्ष जनवादी तथा क्रान्तिकारी कवियों तथा लेखकों की ओर विशेष ध्यान दिया। वे अपने जमाने के सर्वोत्तम प्रगतिशील लेखकों को समाजवादी आन्दोलन की ओर खींचने उन्हें शिक्षित तथा अग्नि-दीक्षित करने अपने सृजनात्मक कार्यों के कमजोर पहलुओं को दूर करने में उन्हें मदद करने के लिए आजीवन प्रयास करते रहे। उन्होंने साहित्य में सर्वहारा क्रान्तिकारी धारा के निर्माण के कार्य में सक्रिय योगदान दिया। दूसरी ओर पूंजीवादी समाज के असन्तुलन को मार्क्स के अनुसार, पूंजीवाद समाज के आधारभूत अन्तर्विरोध की, उत्पादन के सामाजिक स्वरूप तथा हस्तगतकरण

के निजी स्वरूप के अन्तर्विरोध की अभिव्यक्ति है। पूंजीवाद के अन्तर्विरोधों के विश्लेषण से मार्क्स ने सौन्दर्यशास्त्र के लिए असाधारण महत्त्व का निष्कर्ष निकाला अर्थात् पूंजीवादी उत्पादन आत्मिक उत्पादन के कुछ रूपों से, उदाहरण कला तथा काव्य से शत्रुता रखता है। मार्क्स के अनुसार शोषण की पूंजीवादी प्रणाली का स्वरूप ही उन मानवतावादी आदर्शों के गहन अन्तर्विरोध में निहित है, जो सच्चे कलाकारों को प्रेरणा दिया करते हैं। कलाकार में अपने आदर्शों तथा पूंजीवादी यथार्थ के अन्तर्विरोधों के बारे में जितनी ही अधिक चेतना होती है, पूंजीवादी सम्बन्धों की अमानवीयता के प्रति उसका विरोधस्वर उतना ही अधिक तीव्र तथा स्पष्ट होता है। कला के प्रति बूर्ज्वा समाज की शत्रुता बूर्ज्वा साहित्य तक इस या उस रूप में पूंजीवाद की आलोचना को जन्म देती है, उसमें पूंजीवादी यथार्थ का नाटकीय त्रासदीपूर्ण टकरावों से भरे यथार्थ के रूप में चित्रण किया जाता है। यह चीज मार्क्स की राय में, पूंजीवादी के अन्तर्गत कला के विकास का द्वन्द्वात्मक लक्षण है। मार्क्स तथा एंजेल्स ने अपनी कृतियों में वैरभावों से युक्त समाज में कला के वर्ग स्वरूप के बारे में बहुत से गहन विचार प्रस्तुत किये। कला तथा वर्ग संघर्ष के बीच सम्बन्ध-सूत्र दर्शाने के साथ ही मार्क्स ने इस समस्या की चौखटेबन्दी की कोशिशों के विरुद्ध सदैव संघर्ष किया। उन्होंने लक्षित किया कि वर्ग अचल तथा अपरिवर्तनशील नहीं होते कि वर्गों के आपसी सम्बन्ध इतिहास की धारा के साथ बदलते जाते हैं, समाज के जीवन में वर्गों की भूमिका के जटिल रूपान्तरण होते रहते हैं।

मार्क्स ने नये प्रकार का एक ऐसा लेखक तथा कलाकार तैयार करने का प्रयास किया, जो क्लासकीय साहित्य की सर्वोतम परम्पराओं को आत्मसात करते हुए मुक्ति के लिए सर्वहारा वर्ग के संघर्ष में सक्रिय भाग ले, क्रान्तिकारी संघर्ष के अनुभवों को तथा कार्यभारों की व्यापक समझ के आधार पर अग्रसर हो। मार्क्स ने कम्युनिस्ट समाज के आधारभूत गुणों की पूर्वकल्पना करने में अनुपम दूरदृष्टि का परिचय दिया था। मार्क्स ने कहा कि स्वतंत्रता का राज्य वस्तुतः केवल नहीं से शुरू होता है, जहाँ मजबूरी तथा बाह्य औचित्य से निर्धारित श्रम का अन्त होता है। मार्क्स के अनुसार शोषण से मुक्त श्रम समाजवाद के अन्तर्गत समस्त आत्मिक सृजनशीलता का स्रोत बन जाता है। मार्क्स लक्षित करते हैं कि ठीक सच्ची आर्थिक, राजनीतिक तथा आत्मिक

स्वतंत्रता की परिस्थितियों में ही मनुष्य की सृजनशील योग्यता का विकास पूर्ण हो सकता है। केवल सर्वहारा क्रान्ति ही कलात्मक संस्कृति के विकास में अनन्त प्रगति की असीम सीमा या सम्भावना प्रदान करती है। सर्वहारा वर्ग में ही मार्क्स ने वह सामाजिक शक्ति देखी थी, जो विश्व को बदल सकती है, अर्थव्यवस्था तथा राजनीति के ही नहीं, वरन् संस्कृति के क्षेत्र में भी प्रगति सुनिश्चित कर सकती है, जो मानवजाति के उच्च नैतिक तथा सौन्दर्यात्मक मूल्यों को पूर्णतः मूर्त रूप देने के लिए आवश्यक अवस्थाएँ निर्मित कर सकती है। मार्क्स के अनुसार मनुष्यों की चेतना उनके अस्तित्व को निर्धारित नहीं करती, बल्कि उलटे उनका सामाजिक अस्तित्व उनकी चेतना को निर्धारित करता है। समाज में अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति न होने पर व्यक्ति के मन में उसके विरुद्ध विद्रोह या असन्तोष उत्पन्न होता है, जिससे नवीन विचारों के साथ नवीन साहित्य का सृजन होता है।

मार्क्स ने कांट की व्यक्ति की भूमिका एवं आदर्श को अस्वीकार किया है। इसी प्रकार हेगेल ने भी भौतिक स्वरूप की व्याख्या की। किन्तु इन लोगों में ईश्वर के प्रति विश्वास छुपा हुआ है। ये आईडिया से भौतिकवाद की उत्पत्ति मानते हैं। हेगेल तो आदर्श से पदार्थ की उत्पत्ति मानते हैं। मार्क्स इन विचारों से असहमत हैं एवं खंडन करते हुए, स्पष्ट करते हैं कि भौतिक तत्त्वों (मेटर) के परस्पर संघर्षों से विचार उत्पन्न होते हैं। मार्क्स जगत् की उत्पत्ति विकास और परिवर्तन की भौतिक स्तर उसकी व्याख्या करते हैं। समाज के विकास और परिवर्तन के क्रम में साहित्य और कला की बात करते हैं, और कला को वे (मानवी संज्ञान) की अभिव्यंजना कहते हैं। मार्क्स ने आर्थिक विकास को कला और संस्कृति के विकास से जोडा है। आदिम समाज से आधुनिक समाज तक उत्पादन व्यवस्था में क्या परिवर्तन होता है, यहाँ तक अर्थव्यवस्था की व्याख्या की है। आर्थिक कारणों को सामाजिक परिवर्तन का कारण माना है। जो समाज आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न है वहाँ कला और संस्कृति का विकास आसानी से होता है। लेकिन कला संस्कृति और आर्थिक विकास के अन्तर्विरोध को भी पहचाना। विषमता को मार्क्स ने स्वीकार किया है।

साहित्य के मूल्यांकन के संबंध में भी मार्क्स ने नवीन विचार प्रस्तुत किया है, जिसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है, मार्क्स ने पूंजीवादी व्यवस्था

में भी बडी व्यावहारिक दृष्टि का विवेचन किया है। मार्क्स ने इसे सामन्ती व्यवस्था से बेहतर व्यवस्था बताया है। मार्क्स पूंजीवाद की प्रगतिशील भूमिका को भी स्वीकार करते हैं। लेकिन साथ-साथ पूंजीवाद के अन्तर्विरोध को भी स्पष्ट किया है। इसी प्रकार साहित्य को विचारधारा से जोडा है। साहित्य को विचारधारा से जोडने के आगे कलात्मक मूल्यांकन की बात भी करते हैं। कला और साहित्य की सीमित स्वायतता की बात करते हैं। काव्य और रूप के संबंध की बात मार्क्स ने की है। दोनों को अविच्छिन्न माना है। मार्क्स दोनों में अन्तः संबंध मानते हैं, द्वैत नहीं देखते। प्रमुख रूप से यही मार्क्सवादी साहित्य चिन्तन को कार्ल मार्क्स का योगदान है।

औतार लाल मीणा

दर्शनशास्त्र विभाग
जयनारायण व्यास विश्वविद्यालय
जोधपूर

व्यक्तिगत संबंधों की अवधारणा

(संदर्भ : सार्त्र एवं सांख्य दर्शन)

जगत् में स्थित व्यक्ति के स्वरूप के आधार पर उसके संबंधों को उससे पृथक् नहीं किया जा सकता है। व्यक्ति के जन्म के साथ ही उसके बाह्य संबंध निश्चित हो जाते हैं तथा उसके मृतावस्था तक कई तरह के संबंध बनते रहते हैं। इनमें सामाजिक, आर्थिक आदि प्रमुख हैं। इनका बौद्धिक विश्लेषण भी किया जाता है। इन संबंधों से हटकर व्यक्ति के अस्तित्व या जीवन की व्याख्या संभव नहीं हो सकती है। व्यक्ति के विविध प्रकार के संबंध अनेक वस्तुओं, अनेक व्यक्तिओं से होते हैं। किन्तु किसी एक व्यक्ति का किसी दूसरे एक व्यक्ति से संबंध का आधार क्या होता है ? दोनों के संबंधों में किस प्रकार का परिवर्तन होता है ? यह इस लेख का विषय है। इसे हमने व्यक्तिगत संबंध का नाम दिया है।

सार्त्र के दर्शन एवं सांख्य दर्शन में तत्त्वों के स्वरूप के संदर्भ में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। सार्त्र के दर्शन में चेतना (Being for Itself) पृथक् तत्त्व न होकर वस्तु जगत् पर अवलम्बित है। चेतना के ज्ञान या अनुभूति के लिये वस्तु जगत् ही माध्यम है तथा चेतना स्वरूपतः अपूर्ण एवं रिक्त (Nothinglessness) है जबकि वस्तु-जगत् पूर्ण तथा स्थिर है।

इसके विपरीत सांख्य दर्शन में पुरुष एवं प्रकृति दो स्वतंत्र तत्त्व हैं तथा पुरुष स्वरूपतः पूर्ण तथा प्रकृति परिवर्तनशील है जो पुरुष के भोग हेतु सापेक्ष या माध्यम है। हालांकि सार्त्र के दर्शन एवं सांख्य दर्शन दोनों की मान्यता है कि व्यक्ति जड एवं चेतना का संग्रथित रूप है।

सार्त्र व्यक्ति की चेतना एवं वस्तु जगत् (Being for Itself) दोनों की परस्पर विरोधी विशेषताएं बतलाते हैं। उनके अनुसार वस्तु जगत् पूर्ण, अकारण, बाहर और भीतर से समान है। वह ठोस और प्रकट है तथा अभाव व नकार से रहित है। वस्तु जगतत गतिशील या अतिक्रमणशील नहीं है। इसकी न तो अपनी कोई आवश्यकता है न उसमें कोई संभावना है इसलिए उसमें न कोई परिवर्तन होता है न ही विकास होता है। वह स्वाश्रित है, सिर्फ 'है'।

इसके विपरीत व्यक्ति की चेतना जो वस्तुरूपी शरीर से अभिव्यक्त हो

रही है, अतिक्रमणशील है यह उसके गुणों के वरण स्वातन्त्र्य एवं गतिशीलता के कारण है। यह स्वरूपतः रिक्त एवं अपूर्ण है तथा पूर्ण होना चाहती है, अपनी रिक्तता को भरना चाहती है। दोनों के स्वरूप के संदर्भ में सार्त्र का कथन है कि वस्तु-जगत् कुछ करता नहीं, केवल होता है, जबकि चेतना कुछ है नहीं, केवल करती है।

इन विशेषताओं के आधार पर सार्त्र के दर्शन में चेतना की प्रवृत्ति को समझा जा सकता है। उनके अनुसार जगत् एक तथ्य है तथा व्यक्ति की चेतना इससे अपनी रिक्तता को भरना चाहती है। इसलिये उसकी चेतना सारे मूल्य, अर्थ, प्रयोजन आदि जगत् पर आरोपित कर देती है जो जगत् के लक्षण नहीं है जैसे भूत, वर्तमान, भविष्य काल आदि जगत् के तथ्य न होकर व्यक्ति के आरोपित पक्ष हैं। यह उसके विषय की ओर अभिप्रेरित होने के कारण होता है। इन सब क्रियाओं के द्वारा चेतना जीवन को सारवान् या अर्थवान् बनाना चाहती है अर्थात् चेतना की प्रवृत्ति वस्तु जगत् के समान स्वयं को पूर्ण एवं स्थिर कर देने की होती है।

सांख्य दर्शन में व्यक्ति की मूल प्रवृत्ति दो रूपों में अभिव्यक्त होती है - भोग अभिप्रेरित एवं दुःखनिवृत्त्यात्मक। इसे भोक्तृभावात् कैवल्यार्थप्रवृत्तश्च बतलाया गया है। व्यक्ति का मूल स्वभाव भोगपरक है तथा भोग्य त्रिगुणयुक्त समस्त सृष्टि है। व्यक्ति के चेतना की प्रवृत्ति के अलावा दोनों दर्शनों में यह स्पष्ट देखा जा सकता है कि विभिन्न अनुभूतियों, भोग आदि हेतु जड़ प्रकृति माध्यम है तथा मुख्य अभिप्रेरक चेतना है।

इस विवेचन पर आधारित सार्त्र के दर्शन में व्यक्ति का जो स्वरूप बनता है वह एक विरुद्धधर्मात्मक अंतहीन, अतिक्रामी चेतना का होता है जिसका मुख्य अस्त्र निषेध है। व्यक्ति के आंतरिक स्वरूप में ही हर प्राप्तव्य का निषेध या नकार विद्यमान है। अपने उक्त स्वरूप के कारण हमेशा स्वातन्त्र्य वरण पुनः उसके निषेध की निरंतरता से उपजे संघर्ष या द्वंद्व से व्यक्ति भय तथा वेदना से भर जाता है और अपने इस स्वरूप को विस्मृत कर वस्तु के समान स्वयं को मान लेता है या वस्तुरूप की तरह स्थिर बनने की कोशिश करता है। सार्त्र के अनुसार वह अपने मूल या आंतरिक रिक्त स्वरूप से परे नहीं जा सकता। इसलिए सदैव सन्त्रस्त रहता है। सार्त्र के दर्शन में यह निश्चित है कि व्यक्ति के रिक्त स्वरूप के अलावा उसका अन्य कोई भी स्वरूप, संबंध,

बोध आदि जो उसे वस्तुरूप की तरह स्थिर कर देता है वह उसका मिथ्या या असद्‌रूप (Bad Faith) होगा।

सांख्य दर्शन में भी बतलाया गया है कि पुरुष या चेतना के बन्धन या दुख का कारण स्वयं को अहंवश प्रकृति तथा उसके गुणों का रूप समझ बैठना है तथा वस्तुरूपी प्रकृति या शरीर से अपने भेद को न जानना है। इस भेद ज्ञान से ही उसे कैवल्यानुभूति होती है। इस प्रकार सार्त्र के दर्शन में चेतना वस्तुरूप होनी चाहिए है तथा सांख्य दर्शन में चेतना या पुरुष स्वयं को वस्तुरूप समझता है। जबकि दोनों दर्शनों में चेतना की विशेषताएं वस्तु जगत् या प्रकृति से भिन्न हैं। किंतु इस भेद या अलगाव-ज्ञान से सार्त्र के दर्शन में चेतना स्वरूपतः रिक्त हो जाती है जबकि सांख्य दर्शन में यही पूर्णता या कैवल्य का बोध है।

व्यक्ति के उक्त स्वरूप तथा प्रवृत्ति के आधार पर संबंधों का विश्लेषण किया जाए तो वस्तु और व्यक्ति से उसके संबंधों में भेद है। जिस प्रकार अचेतन वस्तु को व्यक्ति अपने सुख, सुविधा के लिये, उपकरण के रूप में प्रयोग में लाता है या संबंध बनाता है उसी प्रकार एक चेतन व्यक्ति के साथ अपने संबंध में वह ऐसा नहीं कर सकता, क्योंकि व्यक्ति-वस्तु का संबंध 'एकपक्षीय' होता है जबकि व्यक्ति का संबंध एकपक्षीय न होकर 'पारस्परिक' होता है।

सार्त्र के अनुसार वस्तुगत संबंधों के विपरीत एक व्यक्ति का दूसरे व्यक्ति से संबंध उसके चेतनयुक्त होने के कारण भिन्न होता है। दूसरा व्यक्ति अपनी वरण-स्वतंत्रता का प्रयोग कर हमारे उन सारे प्रयत्नों को विफल कर सकता है जिसके द्वारा हम उसके स्वरूप को वस्तु के समान नियंत्रित या सीमित करना चाहते हैं। "जब कि मैं अपने को दूसरे के प्रभाव से मुक्त रखने का प्रयत्न करता हूँ दूसरा मेरे प्रभाव से मुक्त होना चाहता है। जबकि मैं दूसरे को अपने प्रभाव में लेता हूँ दूसरा मुझे अपने प्रभाव में ले लेना चाहता है।"[१] यह व्यक्ति के अतिक्रामी आंतरिक, रिक्त स्वरूप के कारण होता है। "क्योंकि मुझमें इच्छा है। इच्छा अभाव से उपजती है और किसी स्वबाह्य विषय के लिये होती है। इसलिए अन्य की उपस्थिति मेरी 'सुखकल्पना' के लिये अनिवार्य है।"[२] किंतु व्यक्तिगत संबंधों में सुख की यह अवस्था सहज नहीं रह पाती क्योंकि मेरी तरह दूसरा व्यक्ति भी मुझको अपने प्रयोजन हेतु, वस्तु के समान

प्रयोग में लाना चाहता है। "सार्त्र इसे मेरे 'विश्व' में एक 'छेद' कहता है। अन्य 'मेरी' ओर देखता है इसी देखने के द्वारा स्वयं को 'मेरे' विरुद्ध एक विषयी के रूप में निर्मित कर देता है। तथा 'मुझे' वह विषय बना लेता है। ... वह अपनी दृष्टि के माध्यम से मेरा अतिक्रमण करता है अर्थात् उसकी संभावनाएं मेरी संभावनाओं के पार जाती हैं। इस तरह सदैव अन्य के द्वारा मेरा अवरोध होता रहता है।"[३] इससे दोनों पक्षों के संबंधों में संघर्ष या द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है जो भय, पीडा या वेदना का कारण है।

सांख्य दर्शन में व्यक्तिगत संबंधों से उपजे संघर्ष या द्वंद्व, अलगाव को तीनों गुणों- सत्त्व, रजस्, तमस् के माध्यम से समझा जा सकता है। इसके अनुसार अचेतन प्रकृति की विविधरूपात्मकता, व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न स्वभाव, भोग के प्रति उनके विभिन्न दृष्टिकोण आदि सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के कारण है। सांख्यदर्शन में 'पद्मावती नाम की एक स्त्री' का दृष्टांत बतलाया गया है जिसके सौदर्य का प्रभाव उसके निमित्तों के भिन्न-भिन्न गुण होने के कारण अलग-अलग परिणामों को उपस्थित करता है। पद्मावती अपने पति हेतु सुखकारक, दूसरे व्यक्तियों के लिये दुखकारक तथा जिन व्यक्तियों को वह अनुपलब्ध है उनके लिये विषाद का कारण बनती है। यह उसके सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के कारण है। यही नहीं एक व्यक्ति या त्रिगुणयुक्त निमित्त पर विभिन्न अवस्थाओं में गुणों के कारण भिन्न-भिन्न प्रभाव अनुभव में आते हैं। यही पद्मावती एक स्थिति में पति-हेतु सुखदायी, अन्य पुरुषान्तरासक्त होने की दशा में दुखदायी तथा वियोग होने की स्थिति में उसी पति के लिये विषाद का कारण बनती है। "यहां पर काल एवं स्थितिभेद से अनुभूति के साधन चित्त अथवा बुद्धि विषयगत सुख-दुख-मोहात्मकता रूप विलक्षण अनुभूति का साधन बनता है। प्रत्येक क्षण में वस्तु की त्रिगुणात्मकता रूप समानता रहने पर भी बुद्धि एक समय में उसके एक रूप को ग्रहण कर पाती है।"[४] इस प्रकार व्यक्तियों, वस्तुओं के सत्त्व, रजस्, तमस्, त्रिगुणाधिष्ठित होने के कारण संबंधों में सुख, दुख, विषाद या मोह का उद्रेक होता है। व्यक्ति विशेष का इन संबंधो में भोगपरक दृष्टिकोण मुख्य रहता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि व्यक्तिगत संबंधों में गुणों के कारण परिवर्तनीयता अनिवार्य विशेषता है। गुणों के स्थितिभेद, परिवर्तनीयता के अलावा व्यक्ति के पारस्परिक भोगपरक दृष्टिकोण, संबंधों में विविधता आदि

भी कारण हैं। जिससे संबंधों में बदलाव एवं विपरीत परिणाम अनुभूत होते हैं, जैसे पद्मावती के अन्य पुरुषान्तरासक्त होने पर वही अपने पति के संबंधों में सुख के बजाय दुःखानुभूति में सहायक बनती है। इसी प्रकार एक सात्त्विक स्वभाव वाले व्यक्ति के लिये अप्राप्य वस्तु सामान्य प्रभाव उत्पन्न करती है जबकि वही अप्राप्य वस्तु राजसिक स्वभाव वाले व्यक्ति के दुख का कारण बनती है। अतः व्यक्तिगत संबंधों में व्यक्ति हमेशा सुख प्राप्त नहीं कर सकता है, न इनसे हमेशा दुख प्राप्त होता है तथा न इन संबंधों में हमेशा विषाद या मोह की अवस्था रह सकती है। व्यक्ति इनके प्राप्त सुख के कारण, संबंधों को स्थिर रखना चाहता है जो इसके परिवर्तनीय स्वरूप के कारण असंभव है फलतः व्यक्तिगत संबंधों में संघर्ष या द्वंद्व की स्थिति उत्पन्न होती है।

सार्त्र के अनुसार इस संघर्ष या द्वंद से इसलिये बचा नहीं जा सकता क्योंकि चेतना के निर्विषयक न रहकर सदैव विषय की ओर अभिप्रेरित होने के कारण संबंध तो बनते ही हैं। अतः यह स्वाभाविक है। सार्त्र बतलाते हैं कि इन व्यक्तिगत संबंधों के दो रूप हो सकते हैं। पहले रूप में व्यक्ति दूसरे संबंधित व्यक्ति पर बल आदि प्रयोग कर उसे अपने लिये वस्तु (object) के समान बना दे या दूसरे के समक्ष स्वयं को वस्तु रूप बन जाने दे। दूसरे शब्दों में वह परपीडक (Sadist) बन जाए अथवा वह स्वपीडक (Masochist) बन जाए। किंतु सार्त्र के दर्शन में इन दोनों रूपों को भी स्थिर नहीं किया जा सकता है। क्योंकि दोनों पक्ष अपने आंतरिक स्वरूप के कारण इस हेतु तैयार नहीं हो सकते। उदाहरणार्थ -"प्रेमी प्रेमिका के लिये विषय है, इसलिये वह प्रेमिका की इच्छा के अनुरूप अपनी चेतना की अवहेलना करते हुए विषय बनने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता का हनन करता है और प्रेमिका की दृष्टि से स्वयं को देखता हुआ विषय बनने का प्रयत्न करता है जिससे आकर्षित होकर प्रेमिका उससे एक हो जाए। इसी प्रकार का वस्तु का बनने का प्रयत्न प्रेमिका भी अपनी ओर से करती है।"[1] अतः संबंधों में परिवर्तन स्वाभाविक तथा संघर्ष अनिवार्य है।

यह कहा जा सकता है कि सार्त्र के दर्शन में यह व्यक्ति की नियति है कि वह चाहे अथवा न चाहे संबंध तो बनते ही हैं क्योंकि ये उसके आंतरिक स्वरूप की निर्मिति है तथा यह निर्मिति, उसका वास्तविक स्वरूप न होने के कारण, संघर्ष, अलगाव, अकेलेपन का बोध निश्चित है। यही उसकी

स्वरूपजन्य पीडा है। व्यक्ति इससे मुक्त नहीं हो सकता। वह 'शुद्ध विषयिता के रूप में स्वयं जीना चाहता है और अन्य के साथ संबद्धता कायम रखना चाहता है पर यह उसकी आंतरिक संरचना के नाते एक असंभव साध्य है जिसे साकार करने का वह सपना देख सकता है पर जिसे वह जी नहीं सकता।''[६]

बृहदारण्यक उपनिषद के याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद में एक स्थान पर बतलाया गया है कि ''यह निश्चित है कि पति के प्रयोजन के लिये पति प्रिय नहीं होता, अपने ही प्रयोजन के लिये पति प्रिय होता है। स्त्री के प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया नहीं होती अपने ही प्रयोजन के लिये स्त्री प्रिया होती है। ... तथा सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते अपने प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं।''[७] *

इस संवाद में व्यक्ति-व्यक्ति के संबंधों को एक विशेष दृष्टिकोण से समझने में सहायता मिलती है। वह यह कि इन संबंधों में परस्पर अभिप्रेरणा से जो प्रेम, सहयोग, आदि भाव प्रतीत होते हैं उनका मूल आधार परस्पर अनुकूल व्यवहार होता है जिससे सुख या प्रीति की अनुभूति होती है। अर्थात इन संबंधों का कारण स्वयं के प्रति सुखजनक अनुकूलता है क्योंकि इसी अनुकूलता के किसी विशेष स्थिति में समाप्त हो जाने पर, प्रतिकूल व्यवहार के होने से इन्ही संबंधों में विपरीत परिणाम अर्थात् सुख न होकर दुख उपस्थित हो जाता है। इसलिये कहा गया है कि जिस पक्ष से व्यक्ति के संबंध हैं वह उस पक्ष के प्रयोजन होने के कारण प्रिय नहीं है वरन् अपने प्रयोजन अर्थात स्वयं के प्रति सुखानुकूल व्यवहार के कारण प्रिय है। इस प्रकार इन संबंधों में भोगपरक दृष्टिकोण मुख्य रहता है। चाहे वह भोग किसी भी रूप में होता हो।

व्यक्ति सुखानुभूति के कारण इन संबंधों को स्थिर रखना चाहता है किंतु इनके परिवर्तनीय स्वरूप के कारण ऐसा नहीं हो पाता है। तब क्या व्यक्तिगत संबंधों में संघर्ष, द्वंद्व, अलगाव, अकेलापन आदि नियति है ? सामाजिक दायित्वों, कर्तव्य आदि पालन को प्राथमिकता तथा व्यक्तिगत संबंधों को गौण महत्त्व देकर समाज में इन संबंधों को सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। किंतु यह सामाजिक संबंध है। इससे व्यक्तिगत संबंधों की अवधारणा समाप्त हो जाती है।

सांख्यीय मान्यताओं में इस संदर्भ में एक समाधान देखा जा सकता है। हालाँकि सार्त्र के दृष्टिकोण से यह स्वतः को वस्तुरूप बना देता है, किंतु यह सार्त्र के दर्शन की परिणति है। सांख्य दर्शन के अनुसार तीनों गुण प्रकृति के होते हैं तथा पुरुष के भोग में सहायक बनते हैं। भोग-हेतु प्रकृति पर आश्रित पुरुष अविवेकवश इनके प्रभाव को अपना स्वरूप मान लेता है जबकि पुरुष आश्रिगुण स्वरूप है। यदि भेद ज्ञान हो जाएं तब विवेकपूर्ण भोग होगा तथा व्यक्तिगत संबंधो में प्रत्याशा एवं अहंभाव का अभाव रहेगा अतः संघर्ष स्वतः समाप्त हो जाएगा। सात्त्विक पुरुष के संदर्भ में यही कहा गया है कि - "ममता, अहंकार, आशा से रहित होकर, सर्वत्र समदृष्टि रखना और सर्वथा निष्काम हो जाना श्रेष्ठ पुरुषों का सनातन धर्म है।"[८] दरअसल पुरुष "मेरी बुद्धि, मेरा भोग्य, मेरा शरीर आदि रूपों में प्रकृति से ममत्व स्थापित कर बैठता है। प्रकृति तो सुख दुख मोहात्मक है अतः पुरुष भी इनसे युक्त स्वयं को अनुभव करने लगता है। तत्त्वज्ञान हो जाने पर वह समझ लेता है कि ये सब वास्तव में प्रकृति के विकार हैं, त्रिगुणात्मक हैं। सुख, दुख, मोहात्मकता मेरे स्वरूप में नहीं है।"[९]

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद भी इसी समाधान से समाप्त होता है कि "यह आत्मा ही दर्शनीय, श्रवणीय, मननीय और ध्यान किए जाने योग्य है। इस आत्मा के दर्शन, मनन एवं विज्ञान से सबका ज्ञान हो सकता है।"[१०]

सहायक प्राध्यापक (दर्शनशास्त्र) **डॉ. हरनाम सिंह अलरेजा**
शासकीय छत्तीसगढ़ महाविद्यालय
रायपुर (म. प्र.) ४९२०१०

टिप्पणियाँ

१. वर्मा, सुरेन्द्र - 'नीतिशास्त्र की समकालीन प्रवृत्तियाँ,' पृ. २१५
२. दाधीच, महावीर - 'अस्तिवाद', पृ. १००
३. वहीं, पृ. ९६
४. शास्त्री, उदयवीर - सांख्य सिद्धांत, पृ. २११
५. दाधीच, महावीर - 'अस्तित्ववाद', पृ. ९९
६. सक्सेना, लक्ष्मी एवं मिश्र, सभाजीत - 'अस्तित्ववाद के प्रमुख विचारक', पृ. २१२

७. बृहदारण्यक उपनिषद, अध्याय २, ब्राह्मण ४, सूत्र ५

* तुलनीय - सिख धर्म दर्शन :

१. श्री. गुरुग्रन्थ साहब - सोरठ म. ९, पृ. ७३४

''प्रीतम जान लेह मन माही।

अपने सुख सिउ ही जग फाधियों को काहु को नहीं ॥१॥

२. देवगंधारी, मं ९, पृ. ५३६

''जगतत में झूठी देखी प्रीत, अपने सुख

सिओ सभ लागे, किया दारा किया मीत ॥२॥

८. महाभारत 'आश्वमेधिक पर्व', ३७वां अध्याय, गीताप्रेस गोरखपुर, पृ. ६१८०

९. राव, बी कामेश्वर - 'सांख्य प्रज्ञा', पृ. १२०

१०. बृहदारण्यक उपनिषद, २/४/५

सार्त्र के अस्तित्ववाद में मानवीय स्वतंत्रता : एक पुनर्मूल्यांकन

प्रत्येक भावात्मक वस्तु के साथ निषेधात्मक वस्तु का द्वन्द्व एक प्राकृतिक नियम है। इस द्वन्द्व के परिणामस्वरूप एक नवीन वस्तु उत्पन्न होती है, जो प्रथम दोनों की स्थानापन्न होती है। इस सिद्धान्त को दार्शनिक पदावली में प्रस्तुत करने का श्रेय हेगेल को है। हेगेल के अनुसार प्रत्येक वाद (थीसिस) के साथ किसी प्रतिवाद (एण्टी थीसिस) का संघर्ष होता है जिससे एक नये सम्वाद (सीन थीसिस) का जन्म होता है जो कि प्रथम दोनों का समन्वित रूप होता है। अस्तित्ववाद भी कदाचित् इसी प्रक्रिया का परिणाम है। जब उन्नीसवी शताब्दी में विभिन्न प्रकार के आविष्कारों एवं सिद्धान्तों के प्रचलन के कारण मानव जीवन पर वैज्ञानिकता और सामाजिकता का प्रभाव प्रबल रूप से महसूस किया जाने लगा, जिसके समक्ष व्यक्ति की वैयक्तिकता और स्वतंत्रता उपेक्षित होने लगी तो उसकी प्रतिक्रियास्वरूप एक ऐसे वाद का विकास हुआ जो व्यक्ति की वैयक्तिकता और स्वतंत्रता को सर्वाधिक महत्त्व देता हुआ वैज्ञानिकता और सामाजिकता का तीव्र विरोध करता है। दर्शन के क्षेत्र में यही वाद अस्तित्ववाद के नाम से प्रसिद्ध है।

अस्तित्ववाद मूलतः एक मानव दर्शन है। अस्तित्ववाद मूल रूप से इस विश्व में अस्तित्ववान व्यक्ति, उसकी समस्यायें, समस्याओं से सामुख्य के विविध रूप और जीवन के प्रति उसके निजी दृष्टिकोण से सम्बद्ध है। अस्तित्ववाद का आधारभूत पद अस्तित्व है। अस्तित्ववाद विचार या प्रत्यय की अपेक्षा व्यक्ति के अस्तित्व को अधिक महत्त्व देते हैं। इसी कारण ये अस्तित्ववादी कहलाते हैं। परम्परागत विचारधारा के अनुसार सृष्टि में विचार (आयडिया) पहले आता है, फिर वस्तु का आविर्भाव हुआ। प्लेटो इसी विचारधारा के समर्थक हैं। मध्ययुग में भी तत्त्व या सार (इसैन्स) की पदार्थ या व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया जबकि अस्तित्ववादियों का दृष्टिकोण इसके विपरीत है। संक्षेप में परम्परागत विचार के अनुसार विचार, सत्व, सार सिद्धान्त या सामान्य निष्कर्ष ही सर्वांगीण सत्य एवं शाश्वत सिद्धान्त के प्रतिनिधि हैं, जब कि भौतिक पदार्थों एवं विविध प्राणियों की सत्ता क्षणभंगुर होने के कारण मिथ्या है। अस्तित्ववादी इस धारणा का खंडन करते हुए तर्क

देते हैं कि जब वस्तु ही नहीं तो इसका विचार या सार कैसे संभव है ? पहले वस्तु का अस्तित्व होगा तदनन्तर उसके सम्बन्ध में विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण होगा। वस्तुतः सारे विचार या सिद्धान्त व्यक्ति की चिन्तन के परिणाम हैं, क्योंकि मनुष्य के अतिरिक्त अन्य पदार्थ या प्राणी चिन्तन या मनन करते ही नहीं। अतः कहना चाहिये कि पहले चिन्तन करने वाला मानव या व्यक्ति अस्तित्व में आया तथा उसके पश्चात् उसके द्वारा विभिन्न विचारों या सिद्धान्तों का निरूपण हुआ। अतः व्यक्ति का अस्तित्व ही प्रमुख है जबकि विचार या सिद्धान्त गौण है। अस्तित्ववाद के प्रसंग में अस्तित्व और 'सारतत्त्व' के बीच अन्तर को स्पष्ट करते हुए जान मक्केरी ने कहा है ... यह कहना कि किसी वस्तु का 'अस्तित्व' है मात्र यह इंगित करना है कि 'वह है' अगर किसी वस्तु के अस्तित्व का सम्बन्ध 'वह है' के तथ्य से है तो उसका सारतत्त्व 'वह क्या है' में निहित होता है। किसी वस्तु का सारतत्त्व उन बुनियादी विशेषताओं से बनता है जो उसे उस प्रकार की वस्तु बनाती है न कि कोई अन्य। निष्कर्ष यह है कि सारतत्त्व की विशेषता अमूर्तता और सामान्यता है। आगे, सारतत्त्व बुद्धिसंगत चिन्तन, विश्लेषण, तुलना और संश्लेषण के विषय हो सकते हैं, जबकि आस्तित्व के 'वह' की शुद्ध आकस्मिकता इन प्रक्रियाओं के दायरे में नहीं आती।[1] सार्त्र के अनुसार मनुष्य शुद्ध अस्तित्व है। वह शुद्ध चेतना और आत्मनिष्ठ है जिसका कोई निर्धारक नहीं होता है। चूंकि शुद्ध चेतना का कोई निर्धारक नहीं होता इसलिए वह नास्ति के तुल्य है।

सार्त्र का ईश्वर विचार एक अस्तित्ववादी होने के नाते सार्त्र को मानवीय अस्तित्व ही मात्र मान्य है। इसी प्रकार एक अनीश्वरवादी होने के नाते सार्त्र ईश्वरीय अस्तित्व को अस्वीकार करते हैं। यदि ईश्वर अस्तित्वपूर्ण नहीं हो तो सब कुछ संभव है, क्योंकि उस स्थिति में मनुष्य निराश्रित होकर किसी भी आंतरिक या बाह्य वस्तु से नहीं बंध सकेगा। यदि 'अस्तित्व' सचमुच सारतत्त्व का पूर्ववर्ती है तो फिर किसी भी पूर्व प्रदत्त या निर्धारित मानव-प्रकृति के आधार पर वस्तुओं की व्याख्या अपेक्षित नहीं। दूसरे शब्दों में, मनुष्य के लिये कुछ भी पूर्व निर्धारित नहीं है, वह स्वतंत्र है। पुनश्च यदि ईश्वर का अस्तित्व न रहे तो ऐसा कोई भी मूल्य या आदेश भी नहीं रहेगा जिसे मानना या जिसके अनुसार अपने चरित्र को अनुशासित करना आवश्यक हो। वस्तुतः सार्त्र का विरोध ईश्वर से उतना नहीं, जितना कि उन आस्थाओं,

विश्वासों, धारणाओं एवं नीति नियमों से है जो ईश्वर के कारण बने हुए हैं। यदि ईश्वर व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में हस्तक्षेप नहीं करे तो उसे भी बने रहने की छूट देने के लिये सार्त्र तत्पर हैं। सार्त्र की दृष्टि में उनका अस्तित्ववाद इतना नास्तिक नहीं वह ईश्वर का विरोध करने में ही अपनी शक्तियों का अपव्यय करता रहे, अपितु वह तो इस बात को स्पष्ट करना चाहते हैं कि यदि ईश्वर है तो उनसे मनुष्य का कुछ बनता-बिगडता नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सार्त्र उस ईश्वर के विचार को नहीं मानते जो व्यक्ति की स्वतंत्रता और आत्म-निर्भरता में बाधक हो। ईश्वर सम्बन्धी अन्य अध्यात्मिक धारणाओं को अस्वीकार करने का भी यही कारण है। सार्त्र इसे और स्पष्ट करते हुए कहते हैं 'यदि ईश्वर नहीं है तो कम से कम एक सत्ता आवश्यक है जिसका अस्तित्व उसके सारतत्त्व का पूर्ववर्ती होता है। यह सत्ता मनुष्य है।[२] 'अस्तित्व सारतत्त्व का पूर्ववर्ती होता है' इसलिए मनुष्य प्रारंभिक अस्तित्व नास्ति के रूप में होता है और कालान्तर में मनुष्य अपने को परिमार्जित करता है। सार्त्र के अनुसार प्रत्येक सिद्धान्त व्यक्ति की अपनी दृष्टि की उपज है अतः वह व्यक्ति सापेक्ष है। ऐसी स्थिति में किसी सिद्धान्त को सार्वभौम या सार्वजनीन नहीं माना जा सकता। सार्त्र के अनुसार व्यक्ति को अपना सिद्धान्त स्वयं खोजना या बनाना चाहिये, दूसरों द्वारा प्रतिपादित या निर्मित सिद्धान्त को स्वीकार करना उसके लिये अनिवार्य नहीं। सार्त्र व्यक्ति के अस्तित्व को भी व्यक्ति की इच्छा पर निर्भर मानते हैं। यह कहना कि व्यक्ति का अस्तित्व किसी बाह्य सत्ता एवं परिस्थितियों या उसके पूर्व कर्म-फल पर आधृत है, सार्त्र की दृष्टि में उचित नहीं। सार्त्र के विचार में प्रत्येक व्यक्ति अपने भाग्य का निर्माता है। व्यक्ति अपने लिये जो चयन करता है, वही उसे मिलता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि व्यक्ति जैसा अपने को बनाना चाहता है वैसा ही वह बनता है। अतः कोई व्यक्ति क्या बनता है और क्या नहीं, यह उसकी अपनी इच्छा पर निर्भर है। यह कहना कि परिस्थितियों और भाग्य ने उसे ऐसा बना दिया, ठीक नहीं। परिस्थितियों के बन्धन को स्वीकार करना या न करना व्यक्ति की इच्छा पर ही निर्भर है। अतः परिस्थितियों के अनुसार ढल जाने के लिये स्वयं व्यक्ति ही उत्तरदायी है। एक व्यक्ति परिस्थितियों के समक्ष अपने को समर्पित कर देता है तो इसका अर्थ यह होगा कि उसने उपस्थित परिस्थितियों को स्वीकार कर लिया है। यह भी कह सकते हैं कि

उस व्यक्ति ने अपने परिस्थितियों के अनुसार ही अपनी भाग्य का चयन किया है जबकि उसके समक्ष अन्य विकल्प उपस्थित थे और इनके चयन के लिये वह स्वतंत्र था। प्रत्येक स्थिति में यह व्यक्ति का ही चयन है कि उसे परिस्थिति के अनुकूल बनना है या प्रतिकूल। इसके लिये किसी अन्य को दोष देना व्यर्थ है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या यह व्यक्ति के अधीन है कि वह जो चाहे बन सके ? क्या वह जैसा चयन करता है वैसा ही बन सकता है ? क्या यह ठीक नहीं कि एक व्यक्ति जो अधिकारी बनना चाहता है वही लिपिक बनने को बाध्य हो जाता है ? इन प्रश्नों का सार्त्र के पास एक ही उत्तर है कि यदि हम जो चाहते हैं वह नहीं बन पाते तो कुछ और बनना क्यों स्वीकार करते हैं ? हम अपने दुःख और मृत्यु की अनिवार्यता के कारण ही इन अप्रिय या अवांछित को स्वीकार करने को विवश हैं। पर, यदि दुःख एवं मृत्यु की अनिवार्यता को स्वीकार कर लें तो यह भय कहां रह जाता है ? दूसरे शब्दों में हम जो चाहें, वह नहीं बन सकते तो बदले में प्रत्येक प्रकार का दुःख यहां तक कि मृत्यु को भी स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत रहें। यदि हम इतने साहसी हो सकते हैं तो हमें कोई नहीं झुका सकता है। व्यक्ति को अपने अस्तित्व का बोध दुःख या त्रास की स्थिति में ही होता है। इसलिए व्यक्ति को इस स्थिति का स्वागत करने के लिये तत्पर रहना चाहिए। अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं एवं वैयक्तिक स्वतंत्रता को कुचलकर तथा परिस्थिति के समक्ष नतमस्तक होकर प्राप्त किये गये सुख की अपेक्षा दुःख या मृत्यु का वरण श्रेयस्कर है, जो चयन को स्वतंत्रता या निजी इच्छाओं व वैयक्तिक स्वच्छन्दता की सुरक्षा करते हुए प्राप्त हो। वस्तुतः आत्म-स्वातंत्र्य की संरक्षा के लिये प्राप्त दुःख चाहे कितना ही दारुण क्यों न हो, दासता एवं परतंत्रता की छाया में प्राप्त सुख से उत्तम है।

सार्त्र का मानवीय स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार

सार्त्र का मानव-स्वातंत्र्य का सिद्धान्त उसकी मानव-चेतना सम्बन्धी विशिष्ट धारणा का तार्किक परिणाम है। चेतना अवस्तुतता है, सत्ता से निषेध की क्षमता है। हम यह भी कह सकते हैं कि चेतना जगत् से अपने सम्बन्धों का परित्याग कर भी उसपर विचार एवं अनुचिन्तन कर सकती है। इस प्रकार चेतना सत्ता को अर्थवत्ता प्रदान करती है। चेतना सदैव किसी वस्तु की

चेतना होती है। मेरी चेतना मेरे ही ज्ञान का विषय नहीं बन सकती। चेतना की अनुभूति जब कभी होती है तो वह किसी वस्तु की चेतना के रूप में होती है। चेतना स्वयं कोई वस्तु नहीं। यदि चेतना किसी वस्तु की चेतनां नहीं होती है तो वह अवस्तुतत्त्व हो जाती है। चेतना की यह अवस्तुता ही स्वतंत्रता है। चेतना की अवस्तुता का एक अन्य पक्ष है आत्मा के साथ उसका सम्बन्ध सार्त्र यह मानते हैं कि चेतना किसी आत्मा की चेतना नहीं होती क्योंकि आत्मा से युक्त चेतना का पारदर्शी स्वरूप नष्ट हो जाता है। चेतना पूर्णतया स्वच्छन्द, उन्मुक्त एवं अनिर्वारित होती है। किसी आत्मा की कल्पनाचेतना के शुद्ध आत्मनिष्ठ प्रवाह को निर्धारित करना है।

प्रश्न यह है कि मनुष्य को क्या होना चाहिए, जिससे कि उसके माध्यम से अवस्तुत्व का आविर्भाव हो सके ? सार्त्र का उत्तर है : उसे स्वतंत्र होना चाहिए। स्वतंत्रता मानवीय वास्तविकता का पर्यायवाची है। मनुष्य पूर्णतया तथा नित्य स्वतंत्र है। मनुष्य या चेतना 'अवस्तुतता' है, सत्ता का अभाव है, सत्ता में छिद्र है। उसका स्वरूप उसकी स्वतंत्रता का परिचायक है। वास्तव में मनुष्य और स्वतंत्रता में कोई भेद नहीं किया जा सकता। ऐसी बात नहीं कि मनुष्य पहले होता है और बाद में स्वतंत्र होता है। मनुष्य होने और स्वतंत्र होने में कोई भेद नहीं। मनुष्य ही स्वतंत्रता है। सार्त्र के ही शब्दों में अभी तक हम जिस वस्तु की परिभाषा का प्रयत्न कर रहे थे, वह मनुष्य की सत्ता है, जिस सीमा तक वह नास्ति के प्रकट होने का निर्धारण करती है, उस सीमा तक सत्ता हमें स्वतंत्रता के रूप में दिखाई देता है। नास्ति के ध्वंश की अनिवार्य दशा के रूप में यह सत्ता अन्य गुणों के साथ, मानव यथार्थ के सारतत्त्व का गुण नहीं होती...। जिसे हम स्वतंत्रता कहते हैं उसे 'मानव यथार्थ' की सत्ता से अलग करना असंभव है। मनुष्य का अस्तित्व पहले इसलिये नहीं होता कि वह आगे चलकर स्वतंत्र हो। मनुष्य और उसके स्वतंत्र होने में कोई अन्तर नहीं।[३] मनुष्य की स्वतंत्रता होती है क्या ? सार्त्र के अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ वरण कर सकना है। सार्त्र कहते हैं "इसप्रकार स्वतंत्रता के मूल कृत्य का पता चलता है... यह विश्व में मेरे स्व का वरण है और इसी अर्थ में यह विश्व की खोज करता है।"[४] सार्त्र मात्र यही मानते हैं कि हमें वरण करना चाहिये। मानवीय स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं कि वह अपनी स्थूल भौतिक परिस्थिति को परिवर्तित कर सकता है या अपनी सभी

वांछित इच्छाओं की पूर्ति कर सकता है। चयन की स्वतंत्रता उपलब्धि की स्वतंत्रता नहीं। उपलब्धि भौतिक परिस्थितियों द्वारा परिसीमित होती है। सार्त्र यह नहीं मानते कि हमें उचित प्रकार स्वतंत्रता और कार्य का भी वरण करना चाहिए। सार्त्र ने स्वतंत्रता को 'इच्छा के लिए स्व को प्रेरित करने', इच्छा को वरण करने और अन्ततः वरण को अभिप्राय का और अभिप्राय को कार्य का समरूप ठहराया है। सार्त्र के लिये स्वतंत्रता एक आत्मनिष्ठ मानसिक क्रिया है। सार्त्र के ही शब्दों में 'यह बात सामान्य बुद्धि' को बतलानी आवश्यक है कि स्वतंत्र होने का अर्थ इच्छित को प्राप्त करना नहीं, बल्कि इच्छा के लिये स्व को प्रेरित करना है। दूसरे शब्दों में स्वतंत्रता के लिये उपलब्धि महत्त्वपूर्ण नहीं। स्वतंत्रता की तकनीकी और दार्शनिक धारणा का अर्थ मात्र वरण की स्वतंत्रता है... चूंकि हमारी स्वतंत्रता की धारणा में वरण और कार्य में अन्तर नहीं किया जाता, इसलिये वह हमें अभिप्राय और कृत्य के बीच अन्तर करना तत्काल बन्द कर देने के लिए बाध्य करती है।[1]

यदि मनुष्य का अस्तित्व है और वह स्वतंत्र है, तो वह अपने क्रियाओं के लिये भी उत्तरदायी है। एक मनुष्य पूर्णतः स्वतंत्र होता है और इसलिए अपने कार्यों का पूर्ण उत्तरदायित्व भी उसी पर है। चूंकि मनुष्य को पूर्ण दायित्व का निर्वाह करना है इसलिए स्वतंत्रता उसके लिये बोझ बन जाता है। मनुष्य स्वतंत्र होने के लिये अभिशप्त है। अभिशप्त इसलिए है क्योंकि मनुष्य स्वंय सृजन नहीं करता, फिर भी जिस क्षण वह विश्व की भीड में फेंका जाता है, अपने भविष्य के लिए वही उत्तरदायी होता है। इस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपने भविष्य का निर्माता है। सार्त्र के अनुसार मनुष्य की स्वतंत्रता इतनी निरपेक्ष है कि हत्यारे के छुरे तले भी स्वतंत्र और अपने कृत्य के लिये उत्तरदायी होता है। इस विश्व में जो भी घटनायें घटित हो रही हैं उसकी महत्ता मनुष्य के कारण ही है। इस विश्व की रचना अपने कृत्यों द्वारा मनुष्य ही करता है। इस विश्व में जो भी युद्ध हुए हैं उसके लिये मनुष्य ही उत्तरदायी है। प्राकृतिक प्रकोप भी अपना अर्थ मानवीय चेतना से प्राप्त करता है। इस प्रकार इस विश्व में कुछ भी मानव से परे नहीं। अपनी विविध क्रियाओं द्वारा मनुष्य इस विश्व में भिन्न-भिन्न मानवीय संरचनाओं का निर्माण करता है। इन संरचनाओं के माध्यम से ही मनुष्य विश्व से सम्बद्ध है। इसलिये इस विश्व में जो कुछ भी घटित हो रहा है, मनुष्य को इसका सामुख्य करना है और उसे

इस दायित्व का निर्वाह करना है कि इस विश्व में जो भी घटित हो वह उपयुक्त क्रम के अनुसार ही। बहुत लोग ऐसा मानते हैं कि इस प्रकार का दायित्व मनुष्य पर आरोपित किया गया है। मैं जन्म लेना नहीं चाहता, फिर भी इस विश्व में फेंक दिया गया। इसका यह अर्थ नहीं कि इस स्थिति में हमें निष्क्रिय हो जाना है। इस कथन का निहितार्थ यह है कि विश्व में मैं अपने आपको अकेला पाता हूँ और बिना किसी की सहायता के इस विश्व में हमें एक गहन दायित्व का निर्वहन करना है। इस दायित्व से पलायन का हमारे लिये कोई अवसर नहीं। मेरा जन्म शुद्ध तथ्यता (फैक्टीसिटी) नहीं क्योंकि पर्यवेक्षण मेरी परियोजनाओं के परिदृश्य में हुआ है। हम अपने जन्म से या तो लज्जित होते हैं या प्रसन्न। हम अपने जन्म को आश्चर्य के रूप में ग्रहण करते हुए इसकी अभिव्यक्ति आत्महत्या के द्वारा भी कर सकते हैं। जो इस बात का परिचायक होगा कि मेरा जीवन दुःखों से ओत-प्रोत है। इस प्रकार एक अर्थ में अपने जन्म का चयन हमने ही किया है। इस स्थिति में यह विश्व हमें या तो अवसर के रूप में दिखता है या अपनी नियति के रूप में जिसके माध्यम से इस विश्व के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह हमें करना है।

गहन उत्तरदायित्व की भावना मनुष्य के अन्दर दुश्चिंता उत्पन्न करता है। दुश्चिंता के क्षणों में ही हमें स्वतंत्रता का बोध होता है। ऐसे क्षणों में हमें यह अनुभूति होती है कि हमारे कार्यों का कोई पूर्वनिश्चित बाह्य या आंतरिक आधार नहीं। मनुष्य की स्वतंत्रता का यह प्रारंभिक बोध अति भयावह है। मनुष्य इस स्थिति को सहन नहीं कर पाता कि उसका कोई अतीत और भविष्य तथा आत्मा नहीं एवं उसकी योजनायें और चयन ही उसका जीवन है जिसके लिये वह स्वयं उत्तरदायी है। सार्त्र के अनुसार इस प्रकार की संभावनायें मनुष्य में दुश्चिंता का आविर्भाव करती हैं। यह हमारे सामान्य दैनिक जीवन का विषय नहीं। इस प्रकार की अनुभूति मनुष्य को विरले क्षणों में ही होती है। यही अनुभूतियां चेतना की संरचनात्मक लक्षण है, मानवीय वास्तविकता की अनिवार्य नियति है। मनुष्य की स्वतंत्रता को चेतना उन सारे बंधनों और रक्षा शक्तियों को तोड देती है जिनका उपयोग वह निर्णय लेने, योजना बनाने या उसके औचित्य स्थापन के लिये करता है। अपनी योजनाओं के निर्माणार्थ एवं रक्षार्थ व्यक्ति नितांत अकेला है, असह है। दुश्चिंता से उत्पन्न मानसिक क्लेश से मुक्त होने के लिये मनुष्य 'दुश्चिंता' से दूर जाना

चाहता है तथा अपने कार्यों, निर्णयों एवं चयनों के लिये किसी अन्य कारण के अन्वेषण की ओर सदैव उन्मुख रहता है। वह अपनी स्वतंत्रता एवं उत्तरदायित्व को सीमित करने वाले कारणों की तलाश करता रहता है। यह तलाश एक प्रकार की रक्षा प्रविधि है।

सार्त्र इस बात को स्वीकार करते हैं कि ऐसी अनेक बाते हैं जो मानवीय स्वतंत्रता को परिसीमित करती हैं। इन बातों को सार्त्र 'तथ्यता' (फैक्टीसिटी) कहते हैं जिनके अन्तर्गत पांच प्रकार के तथ्यों की चर्चा होती है, जो स्वतंत्रता के लिये अवरोधक है : (क) मेरा स्थान (ख) मेरा अतीत (ग) मेरा परिवेश (घ) मेरे सहयोगी बन्धु (च) मेरी मृत्यु।[६] सार्त्र के अनुसार निर्बाध स्वतंत्रता अर्थहीन सम्प्रत्यय है। स्वतंत्रता का अर्थ है चयन और चयन का अर्थ है। इच्छा और वास्तविकता, संकाय और उपलब्धि में भेद। स्वतंत्रता का अर्थ चयन और संकल्प की स्वतंत्रता है। स्वतंत्रता के अवरोधक तत्त्व मानवीय स्वतंत्रता के प्रमाण हैं। वस्तुतः मनुष्य की स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता की सीमाओं और अवरोधों को अर्थ देती है। अवरोध किसी के लिये अवरोध होता है। अवरोध इसलिये अवरोध है क्योंकि हमने ऐसा करने का निर्णय लिया है जिसे हम नहीं कर सकते। अवरोध की सार्थकता चयन के संदर्भ में ही है। अवरोध चयन के पूर्व उपस्थित नहीं होता बल्कि चयन के उपरान्त ही वह उपस्थित होता है। इस प्रकार मनुष्य की स्वतंत्रता ही अवरोधों का भी चयन करती है।

सार्त्र का मानवीय स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार : पक्ष - विपक्ष

सार्त्र ने मानवीय स्वतंत्रता सम्बन्धी जो विचार प्रस्तुत किये हैं वह विवाद का केन्द्र बन गया है। आलोचकों के लिये इसकी आलोचना उनका प्रिय विषय है। यह तो नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक आलोचनाएँ निराधार हैं, फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें कुछ आलोचनाएँ सार्त्र के प्रति असहानुभूति एवं पक्षपात से प्रभावित हैं। ऐसी बात नहीं कि सार्त्र इस सिद्धान्त की त्रुटियों से परिचित नहीं थे। तथ्य तो यह है कि कालान्तर में सार्त्र ने अपने विचार को परिवर्तित किया है और शायद आज के परिप्रेक्ष्य में सार्त्र इस विचार को खुले मन से स्वीकार करने को तत्पर नहीं होगें। ऐसा संकेत उन्होंने अपने बाद की कृतियों में दिया है।

विज्ञान और साधारण ज्ञान यह मानता है कि मानवीय स्वतंत्रता को सीमित करने वाले अनेक कारक हैं। हम भौतिक, जैविक, मनोवैज्ञानिक एवं

सामाजिक निर्धारकों द्वारा सीमित प्रतीत होते हैं। यदि मानवीय स्वतंत्रता, सार्त्र का विचार स्वीकार्य हो तो विज्ञान और साधारण ज्ञान को पूर्णतः असत्य होना चाहिए। इन सीमाओं को अस्वीकार करने के लिये सार्त्र के पास क्या कारण है ? सार्त्र ने 'तथ्यता' को मानवीय स्वतंत्रता को सीमित करने वाला माना है। सार्त्र दो तर्कों द्वारा यह दिखलाने का प्रयास करते हैं कि तथ्यता पूर्ण स्वतंत्रता को सीमित नहीं कर सकता। सार्त्र यह कहते हैं कि हम अपने चयन के आधार पर ही अवरोधों की स्थापना करते हैं। इसलिये किसी प्रकार की सीमा या अवरोध हमें मान्य नहीं। अपनी सीमा का चयन हम स्वयं करते हैं। यदि किसी युवती से विवाह करने से मैं ने इन्कार किया है तो उसका प्रेमी अवरोधक नहीं हो सकता। यदि युवती से विवाह करने का निर्णय मैं लेता हूँ तो वह प्रेमी अवरोधक बन सकता है। अपने दूसरे तर्क में सार्त्र कहते हैं कि चयन की स्वतंत्रता क्रिया की स्वतंत्रता से भिन्न है। यह तथ्य कि युवती से विवाह करना असंभव है उससे विवाह करने के चयन में अवरोधक नहीं, यदि मैं तथ्य से भिज्ञ नहीं। मैं उससे विवाह करने के चयन के लिये स्वतंत्र हूँ, पर उससे विवाह करने को स्वतंत्र नहीं। यहां यह स्पष्ट कर देना होगा कि स्वतंत्र होने का अर्थ इच्छित लक्ष को प्राप्त कर लेना नहीं। स्वतंत्रता का दार्शनिक और तकनीकी अर्थ सिर्फ चयन की स्वतंत्रता की बात करता है।

सार्त्र द्वारा प्रस्तुत प्रथम तर्क के विरुद्ध कहा जा सकता है कि युवती से विवाह करने के चयन में मैंने इस तथ्य का चयन नहीं किया कि उसका प्रेमी इसमें बाधक हो सकता है। इसका उत्तर देते हुए सार्त्र कहते हैं कि इस विश्व के तथ्य स्वयं ही हमारे चयन से उत्पन्न हैं। हममें से प्रत्येक विश्व को वह गुण प्रदान करते हैं जो उसमें विद्यमान हैं। सार्त्र का यह समाधान आत्म-घाती है। यदि सार्त्र का विचार मान्य हो तो यह विश्व उसके स्वच्छन्द चयन के अतिरिक्त और कुछ नहीं। सार्त्र के विचार में यह अन्तर्लीन है कि उनके द्वारा व्यक्त विचार न तो किसी अन्य विचार से उत्तम है और न निकृष्ट ही। ऐसी स्थिति में यदि कोई पूर्ण स्वतंत्रता का चयन नहीं करे तो सार्त्र को आपत्ति नहीं होना चाहिये। सार्त्र के द्वितीय तर्क के विरुद्ध कहा जा सकता है कि उनके द्वारा चर्चित चयन की स्वतंत्रता मात्र पर्याप्त नहीं। यदि हम चयन कर सकते हैं पर जो चयन करते हैं उसे प्राप्त करने में बाधा उत्पन्न की जाती है तो यहां क्रिया की स्वतंत्रता की चर्चा है जिसके आलोक में हम

पूर्णतः सीमित हैं।[७]

सार्त्र मानते हैं कि मानवीय वास्तविकता स्वतंत्रता है जिसका मनुष्य को प्राग्तात्त्विक बोध होता है। ऐसा मानकर सार्त्र अपने को सारतत्ववादी होने की आपत्ति से मुक्त नहीं कर सकते। प्लांटिंगा का ऐसा मानना है कि सार्त्र पूर्ण स्वतंत्रता की संगतपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करने में असफल रहे हैं।[८] सार्त्र की मान्यताओं के प्रति असहानुभूतिपूर्ण मनोवृत्ति का परिचय देते हुए इन्होंने कहा है 'ऐसा कहना गलत है कि अपने अवरोधों का चयन मैं स्वयं करता हूँ'। अतुलनीयता प्रदत्त है और विश्व इसी रूप में अस्तित्ववान् है।[९] प्लांटिंगा के विचारों का समर्थन करते हुए मेरी वारनाक कहते हैं कि सार्त्र के तर्क के बावजूद भी हम इसे अस्वीकार कर सकते हैं कि हम किसी भी स्तर पर विश्व के प्रति अपनी अनुभूति और भावनात्मक अनुक्रिया का चयन स्वयं करते हैं।[१०] वीलफ्रीड दिसान भी इन आलोचनाओं के प्रभाव में आकर यह कहते हैं कि पूर्ण स्वतंत्रता भ्रम मात्र है... सार्त्र इस बात को भूल जाते हैं कि स्वतंत्रता का प्रारम्भ शून्य से नहीं हो सकता।[११] सार्त्र का पूर्ण स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार आधारहीन नहीं है। सार्त्र इस बात को कभी भी अस्वीकार नहीं करते कि कुछ परिस्थितिजन्य सीमाओं के अन्तर्गत मात्र ही मानवीय स्वतंत्रता कार्य करती है। यदि आलोचकों के अनुरूप सार्त्र द्वारा पूर्ण स्वतंत्रता की व्याख्या स्वीकार्य होता तो 'तथ्यता और स्वतंत्रता' पर उनके द्वारा लिखित पूरा अध्याय ही बेकार नजर आता है। अपने स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार के स्थापना में सार्त्र तथ्यों की विसंगतता या कटु अस्तित्व को कभी विस्मृत नहीं करते जो कि मानवीय क्रियाओं की दिशा को प्रमाणित और निर्धारित करता है।

उपसंहार उपर्युक्त विमर्श यह स्पष्ट कर देता है कि सार्त्र द्वारा प्रस्तुत मानवीय स्वतंत्रता सम्बन्धी विचार अति विवाद का केन्द्र बना हुआ है। स्वतंत्रता सम्बन्धी सार्त्र के विचार किन्हीं-किन्हीं स्थलों पर अस्पष्ट हैं जो भ्रामकता का कारण बन जाते हैं। सार्त्र बार-बार यह कहते हैं कि मानव को अपनी स्वतंत्रता की चेतना है और इसे मानव को मूल्यपूर्ण रूप में स्वीकार करना चाहिये। परन्तु प्रामाणिकता और निष्कपटता को सार्त्र के दर्शन के आलोक में निरपेक्ष मूल्य नहीं प्रदान किया जा सकता।

सार्त्र व्यक्ति की निरपेक्ष स्वतंत्रता की बात कहते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति का चयन और क्रिया उसके अपने मनोवेगों से भी निर्धारित नहीं हो

सकता। पुनश्च सार्त्र की यह भी मान्यता है कि साध्य और साधन के चयन में स्वतंत्रता के लिये कोई स्थान नहीं। परन्तु इस प्रकार की स्वतंत्रता, स्वच्छंदता होगी जो हमें मान्य नहीं। हमें किसी बाह्य या आंतरिक निर्धारक शक्ति को स्वीकार करना होगा। सार्त्र कहते हैं कि निर्धारण की शक्ति व्यक्ति में ही है, पर इस सम्बन्ध में सार्त्र निश्चित रूप से कुछ कर नहीं पाते कि व्यक्ति अपने को किस रूप में निर्धारित करता है। सार्त्र की स्वतंत्रता सम्बन्धी अवधारणा स्पष्ट नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि सार्त्र स्वच्छंदता और आत्म-निर्धारण के बीच भ्रम की अवस्था से ग्रसित है। सार्त्र जैसे यथार्थवादी दार्शनिक से स्वतंत्रता सम्बन्धी इस प्रकार के अव्यावहारिक दृष्टिकोण और व्याख्या की अपेक्षा नहीं की जा सकती।

व्याख्यात्री, **डॉ. श्रीमती वीणा शरण**
स्नातकोत्तर दर्शनशास्त्र विभाग
गया कॉलेज, गया,म. वि. बोधगया

टिप्पणियाँ

१. जान मैक्केरी, एक्जिस्टेशियलिज्म, पृ. ६१
२. जे. पी. सार्त्र, एक्जिस्टेशियलिज्म ऐण्ड ह्यूमनिज्म, अनु. फिलिप मैगरियर मैरेट, मेथमून एण्ड क., लन्दन, १९५१, पृ. २८
३. जे. पी. सार्त्र, बीइंग एंड नथिंगनेस, अनु. हेगेल इ. बर्न्स, (पाकेट बुक्स, न्यूयार्क, १९५६), पृ. ६०
४. उपरोक्त, पृ. ५९६
५. उपरोक्त, पृ. ६२१-६२२
६. उपरोक्त, संक्षिप्त संस्करण, ४६५
७. जे. पी. सार्त्र, बीइंग एंड नथिंगनेस, न्यूयार्क, फिलासफिकल लाइब्रेरी, १९५६
८. एल्वीन प्लांटिंगा, एन एक्जिस्टेशियलिस्ट इथीक्स, रिव्यू ऑफ मेटाफिजिक्स में (१२, १९७८), पृ. १२६
९. उपरोक्त, पृ. २५४
१०. मेरी वारनाक, एक्जिस्टेशियलिज्म, आक्सफोर्ड युनिवरसिटी प्रेस, लंदन, १९७०, पृ. ५५
११. वीलफ्लीड दिसान, द ट्रेजिक फिनाले, पृ. १७०-१७१

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quaterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

पं. मधुसूदन ओझा और उनके द्वारा प्रतिपादित परमेश्वर का स्वरूप तथा महत्त्व : एक अध्ययन

पं. मधुसूदनजी ओझा संस्कृत के एक प्रगल्भ विद्वान् तथा सत्य के अनन्य पुजारी थे। बिहार प्रान्त में मिथिला के मुजफ्फरपुर जिले के गाढा नामक ग्राम में पंडित श्री वैद्यनाथ ओझा जी के घर वि. सं. १९२३ में श्रीकृष्ण जन्माष्टमी के दिन आपका जन्म हुआ। आपका कुल एक प्रसिद्ध विद्वान् और प्रतिष्ठित पुरुषों की परम्परा का है। आपका बाल्यकाल स्वदेश में पिता के पास ही लालन-पान व प्रारम्भिक शिक्षा में व्यतीत हुआ। आपकी विद्यापिपासा अति प्रबल थी, आप अपने अध्ययनार्थ काशी चले गये, वहां दरभंगा पाठशाला में स्वनाम धन्य म. म. स्वर्गीय श्री. शिवकुमार मिश्र जी के समीप विद्याध्ययन करने लगे और लगातार ८ वर्ष तक वहां ही पढते रहे। उत्कट परिश्रम तथा अद्भुत बुद्धि के कारण व्याकरण, न्याय, साहित्य, मीमांसा, वेदान्त आदि के ग्रन्थों का आपने गुरुमुख से न केवल अध्ययन ही कर लिया प्रत्युत उन पर पूर्ण अधिकार भी प्राप्त कर लिया। काशी में विद्याध्ययन पूर्ण कर पण्डितजी बूंदी, कोटा, झालरापाटन, रतलाम आदि के नरेशों से मिले और पूर्ण सम्मानित हुए। अन्त में जयपुर राज्य से विशेष अनुरोध होने पर वि. सं. १९४६ में जयपुर चले आये। जयपुर में आते ही पण्डित जी महाराजाज कालेज में संस्कृत प्रोफेसर नियुक्त हुए। बीच में आपने कुछ समय संस्कृत कालेज में वेदान्त के प्रधान अध्यापक का कार्य भी किया था। इस अरसे में कई घटना ऐसी हुई जिनसे आपके प्रखर पाण्डित्य की महिमा भूतपूर्व जयपुर नरेश स्व. महाराज माधवसिंह जी को अवगत हुई और गुणग्राहक महाराज ने इन्हें अपने आत्मिक परिजनों में नियुक्त कर वि. सं. १९५१ में निजी पुस्तक शाला का प्रबन्ध इनके अधीन कर दिया व मौजमन्दिर (धर्मशाला) का सभापति बना दिया और राज्य के सर्वप्रधान पण्डित मानकर परम आदर पूर्वक अपने पास रखा। आपके लगभग ५० वर्ष घोर तपस्या के रूप बीते, जिस तपस्या के फल-स्वरूप आपके लिखे हुए १०० से भी अधिक ग्रन्थ विद्यमान हैं, जो संस्कृत विद्या, सनातन धर्म और भारतवर्ष का वैज्ञानिक युग में मस्तक उंचा करने के लिये पर्याप्त साधन हैं। वि. सं. १९९६ भाद्रपद शुक्ला १५ को केवल दो

तीन दिन ही अस्वस्थ रहकर गुरु वार पण्डितजी का अचानक स्वर्गवास हो गया।

अब हम पं. मधुसूदनजी ओझा के द्वारा प्रतिपादित परमेश्वर का स्वरूप और महत्त्व के विषय में दृष्टिपात (वर्णन) करेंगे।

जिसमें अविद्या के द्वारा क्लेश, कर्म और कर्मों का विपाक फल ये तीनों अपना आशय नियत करें उसी को जीवन कहते हैं। किन्तु ईश्वर इन तीनों से अस्पृष्ट है अर्थात् क्लेश, कर्म और विपाक इन तीनों के आशय से और इन तीनों के द्वारभूत अविद्या से जिसका कदापि स्पर्श नहीं होता उसी पुरुष को ईश्वर कहते हैं, वह विद्या का विधि है और छः उर्मियों से रहित है। शोक, मोह, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासा इन छहों को उर्मि कहते हैं। जीव में ये छहों उर्मियां देखी जाती हैं किन्तु ईश्वर में इनका सर्वथा अभाव है। इनके अतिरिक्त ईश्वर में काम और संकल्प ये दोनों सत्य हैं अर्थात जिन भूत या विद्यमान पदार्थों की ईश्वर कामना करता है वे पदार्थ उसी क्षण उपस्थित हो जाते हैं और भविष्यत् के लिये जैसे करने का संकल्प करता है वह वैसा ही तत् क्षणात् हो जाता है। इन दोनों के अतिरिक्त जो तीसरा परमेश्वर है उसमें न ईश्वर की तरह विद्या है न जीव की तरह अविद्या है इन के अतिरिक्त उस परमेश्वर में न सम्भूति है न नाश है, न उसमें जीव की तरह उर्मि है और न ईश्वर की तरह संकल्प और काम है।

परमेश्वरस्वरूप निर्णय

अब यदि परमेश्वर के स्वरूप का हम विचार करते हैं तो हमको विश्वास होता है कि दिक् देश, काल और द्रव्य इन सबसे अनवच्छिन्न होने के कारण न उसकी नाभि हो सकती है और न उसके कहीं पीठ कल्पना की जा सकती है क्योंकि वह असीम है इसीलिये न परमेश्वर का कोई मुख हो सकता है, न उसकी दृष्टि हो सकती है, न उसका पांव हो सकता है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर में सब ओर मुख, दृष्टि और पाद कहे जा सकते हैं, किन्तु परमेश्वर में किसी ओर भी मुख, दृष्टि और पाद की कल्पना नहीं हो सकती, परन्तु इतना होने पर भी देखना, सुनना, चलना, फिरना इत्यादि जितनी शक्तियाँ जो जहां कुछ हैं, वे सब इसी सर्वत्र व्यापक परमेश्वर में कही जा सकती हैं। उसके अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। इसीलिये ऋषियों ने परमेश्वर का स्वरूप इस प्रकार कहा है -

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षुः स श्रृणोत्यकर्णः ।
सवेत्तिवेद्यं नच तस्यवेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम् ॥१॥
अपाणि पादोऽहमचिन्त्यशक्तिः पश्याम्यचक्षुः श्रृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपो, न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाहम् ॥२॥
वेदैरनेकैरहमेववेद्यो, वेदान्तकृद्वेद विदेव चाहम् ।
न पुण्यपापे मम नास्तिनाशो, न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥३॥
अणोरणीयान्अहमेवतद्वन् महानहंविश्वमहं विचित्रम् ।
पुरातनोऽहं पुरुषोऽहं ईशो, हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥४॥

इसी प्रकार अन्यान्य ऋषियों ने भी शान्त, क्षुब्ध, घोर परमेश्वर का स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि उसके वाक्, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन ये पांचों प्राण नहीं हैं । शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांचों भूतगण नहीं हैं । आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी इन पांचों महाभूतों से बना हुआ उसका शरीर नहीं है और उसमें भीतर-बाहर का, स्थूल-सूक्ष्म का, हस्व-दीर्घ का, मुख और पैरों का भेद नहीं है, न उसमें भार है, न परिमाण है, न कोई आकार है, न अन्धकार है, न छाया है, न उसमें शोणित है, न चर्म है, वह असंग है, अक्षर है, न अन्न है न अन्नाद, उसके शासन में सूर्य और चन्द्र, अग्नि, वायु, द्यौ और पृथिवी ये सब नियत व्यवस्था के अनुसार, भिन्न भिन्न अपने काम करने में कदापि त्रुटि नहीं करते, सब कुछ उसी से पकडा हुआ जहां का तहां स्थिर होकर इस संसार चक्र को चला रहा है । किन्तु वह परमेश्वर नहीं दीख सकता है न सुनने की वस्तु है न जानने और समझने की वस्तु है । परन्तु जो जहां कुछ दीखता है, सुना जाता है, जाना और समझा जाता है सभी जगह वही एक देखने वाला है, सुनने वाला है, जानने और समझने वाला है, उसके अतिरिक्त न कोई द्रष्टा है, न श्रोता है, न विज्ञाता है ।

(क) परमेश्वर में कामना का न होना

जीव और ईश्वर में कामना पाई जाती है जिसमें जीव की कामना अनित्य है, कभी होती है और कभी नहीं यहां तक कि जिस जीव को जिस वस्तु की एक समय कामना होती है उसी को उसी वस्तु की दूसरे समय में कामना नहीं रहती, परन्तु ईश्वर की कामना ऐसी नहीं है, उसकी कामना प्रत्येक वस्तु में एक रूप में सदा रहती है और जितनी कामनाएं ईश्वर में

उत्पन्न हुई वे सब इच्छा होते ही पूर्ण होती रहती हैं इसीलिये ईश्वर को सर्वकामनामय और आप्त काम कहते हैं, परन्तु परमेश्वर अकाम है कदाचित् भी कोई कामना उसमें उत्पन्न नहीं होती क्योंकि अप्राप्त वस्तुओं की कामना हुआ करती है, सो जो आत्मा परिच्छिन्न हो उसी में संभव है किन्तु इस जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो परमेश्वर में न हो वा परमेश्वर से बाहर हो इसीलिये उसको अकाम कहते हैं।

(ख) परमेश्वर में नभ्य आत्मा का न होना

शरीर के भिन्न होने से जीव भी भिन्न होते हैं। प्रत्येक जीव-(आत्मा) के शरीर में दो दो आत्मा होते हैं, एक नभ्य और दूसरा सर्व। इनमें नभ्य आत्मा वह है कि जो शरीर के केन्द्र में रहकर इस शरीर के धातु, रस आदि को निर्माण करता हुआ शरीर के अनुपयोगी पदार्थों को शरीर से बाहर निकाल कर फेंकता रहता है, उसी के कारण शरीर का कोई भी अंश सडने नहीं पाता और शरीर को हलका बनाता है परन्तु दूसरा सर्वआत्मा जीव का सम्पूर्ण चेतन शरीर है। इसी प्रकार ईश्वर भी अनन्त है उनका शरीर ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्ड के भेद से ही ईश्वर भिन्न भिन्न माने जाते हैं, प्रत्येक ईश्वर भी अनन्त है उनका शरीर ब्रह्माण्ड है, ब्रह्माण्ड के भेद से ही ईश्वर भिन्न-भिन्न माने जाते हैं प्रत्येक ईश्वर के भी ब्रह्माण्ड में दो दो आत्मा होते हैं। एक ब्रह्मा के केन्द्र में रहकर अपने से ही सब पदार्थों को उत्पन्न करता हुआ और उनकी चारों और फैलाता हुआ ब्रह्माण्ड की रचना करता है उस को नभ्य आत्मा कहते हैं ओर दूसरा सर्व आत्मा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को ही कहते हैं। इस प्रकार जीव और ईश्वर दोनों में दो-दो आत्माएँ पायी जाती हैं। किन्तु परमेश्वर में ऐसी दो आत्माएँ नहीं हैं वह एक ही है क्योंकि उसके शरीर को जगत् कहते हैं सो जगत् एक है और असीम है। असीम वस्तु को नाभि और परिधि दोनों ही नहीं कहीं जा सकती, इसीलिये उसमें नभ्य आत्मा का होना असम्भव है। उसका प्रत्येक बिन्दु ही नाभि है और प्रत्येक बिन्दु से अनन्तानन्त शक्तियां उत्पन्न होकर अपना अपना विकास करती हैं, जिससे इस जगत् का स्वरूप बनता बिगडता रहता है, इसीलिये इस सम्पूर्ण जगत् को ही विश्वात्मा भगवान परमेश्वर कहते हैं, जो असीम होने से किसी नियत स्थान पर नभ्यात्मा नहीं रखता उसका प्रत्येक बिन्दु ही नभ्य हो सकता है।

(ग) परमेश्वर में दैशिक संस्था न होना

जीव की शक्ति परिमित है इससे उसका शरीर भी परिमित ही उत्पन्न होता है, इसी प्रकार ईश्वर की शक्ति भी परिमित है, इसी से उनका ब्रह्माण्ड भी परिमित ही उत्पन्न होता है। यह ब्रह्माण्ड दो प्रकार का है, एक छोटा जो उपेश्वर का शरीर है अर्थात् यह सूर्य अपने प्रकाश मण्डल में जितने आकाश प्रदेश में व्याप्त होता है वही छोटा ब्रह्माण्ड है उसमें सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाम से त्रैलोक्य की संस्था नियत रहती है, किन्तु महाब्रह्माण्ड है कि जिसमें असंख्य ऐसे सूर्य होने के कारण त्रैलोक्य संस्था भी असंख्य होती है। जिस प्रकार हमारी पृथिवी या अन्यान्य ग्रह इस सूर्यके चारों ओर फिरते हैं उसी प्रकार वे सब सूर्य भी जिस महासूर्य के चारों ओर फिरते हैं वही सच्चिदानन्द घन हमारा ईश्वर है। उसकी सत्ता, चेतना और आनन्द की किरणें चारों और जितने आकाश प्रदेश में परिव्याप्त हैं वही महाब्रह्माण्ड है और वही ईश्वर का शरीर है यह महाब्रह्माण्ड बहुत बडा होने पर भी परिमित है, सीमाबद्ध है, उसकी सीमा से बाहर भी इसी प्रकार के अनन्तानन्त ईश्वर परमेश्वर इस अनन्त महा आकाश में इधर उधर अवश्य विद्यमान हैं, ऐसी सम्भावना की जा सकती है और वे सब परिमित हैं किन्तु उन सबका प्रथम आत्मा परमेश्वर है और वह एक है जितने जीव और जितने ईश्वर इस अनन्त आकाश मण्डल में कहीं हैं उन सबको यदि एक दृष्टि से देखकर ख्याल में लाया जाय तो वही परमेश्वर का रूप है। अर्थात् जो जहां कुछ है सो सब जगत् ही परमेश्वर का शरीर है। इस जगत् का आदि, अन्त होना असम्भव है इसीलिये वह असीम है। यदि किसी सीमा बद्ध आयतन को ही शरीर कहें तो परमेश्वर में देश की संस्था न होने के कारण उसको अशरीर ही कहना पडेगा। क्योंकि उसके शरीर से बाहर कुछ खाली जगह नहीं हैं।

(घ) परमेश्वर में कालिक संस्था का न होना

जीवआत्मा को सभी शक्तियां परतन्त्र से मिलती हैं अर्थात् ईश्वर से प्राप्त होती हैं और ईश्वर आत्मा की सभी शक्तियां भी परतन्त्र से मिलती हैं, अर्थात् परमेश्वर से प्राप्त होती हैं। इसीलिये वे भी नैमित्तिक और अनित्य हैं किन्तु परमेश्वर की सभी शक्तियां दूसरे किसी से प्राप्त नहीं होती हैं। वे स्वतन्त्रता से विद्यमान हैं क्योंकि परमेश्वर सर्वशक्तिधन है, उसकी निज की शक्तियां नित्यस्वयंभू हैं किन्तु उस परमेश्वर के जगत् में अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड

उत्पन्न होकर नष्ट होते रहते हैं और फिर उत्पन्न होते रहते हैं, इस प्रकार यह उत्पत्ति विनाश क्रम इस जगत् में यों ही अनादिकाल से होते चले आते हैं और आगे को भी इसी प्रकार अनन्तकाल में होते रहेंगे, जिस प्रकार से सृष्टि का विनाशक्रम हम आज देख रहे हैं, संभव है कि वह इसी प्रकार आगे को भी सर्वदा बना रहेगा। परमेश्वर की आत्मा में जो मन, प्राण, वाक् ये तीन धातु हैं उनसे यद्यापि पृथक् नाना प्रकार के भाव उत्पन्न होते रहते हैं और उन विकारों से फिर भी उनके अवान्तर अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो होकर नष्ट होते रहते हैं, तथापि उन सब विकारों में मन, प्राण, वाक्, इन तीनों का सम्बन्ध नित्य एकरूप से ही रहता है। सभी भाव वाङ्मय, प्राणमय, मनोमय कहे जा सकते हैं और अनादिकाल से अनन्तकाल तक इसी प्रकार रहेंगे क्योंकि इस असीम परमेश्वर में दैशिक सीमा के अनुसार कालिक सीमा भी नहीं है।

(ङ) सबका आत्मा होना

जिस प्रकार देह की आत्मा जीव है उसी प्रकार इस जीव की भी आत्मा ईश्वर है और उन ईश्वरों की भी आत्मा परमेश्वर है परन्तु परमेश्वर स्वरूपतः अंगी होने के कारण आत्मा है, न कि कारण होने से। जिस प्रकार कार्य की आत्मा कारण है उसी प्रकार अंगों की आत्मा अंगी है, ये सब परमेश्वर के अंग हैं। परमेश्वर उनका अंगी है इससे वह ईश्वरों की आत्मा है।

जिस प्रकार मैं स्वयम् एक आत्मा हूं उसी प्रकार मुझ में विद्यमान ईश्वर मेरी दूसरी आत्मा है और उस आत्मा में भी विद्यमान परमेश्वर मुझ में तीसरी आत्मा है। इसी प्रकार यह ईश्वर भी जो स्वयं एक आत्मा है उसमें विद्यमान परमेश्वर उस ईश्वर की आत्मा है वह तीसरा वह परमेश्वर स्वयं ही एक आत्मा है उसकी कोई दूसरी आत्मा नहीं हो सकती। आत्माओं का इस विभाग के अतिरिक्त प्रकारान्तर से भी विभाग किया जाता है उसके अनुसार हमारे जीव आत्मा में ५ आत्माएं हैं। इन आत्माओं की स्थिति शरीर में त्रिलोकी संस्था के कारण सम्पन्न होती है। इसीलिये ईश्वर में भी ये पांचों आत्माएं विद्यमान रहती हैं क्योंकि उनमें भी त्रिलोक संस्था है। जीव की पांचों आत्मा और ईश्वर की पांचों आत्मा परस्पर में अन्न, अन्नाद भाव से रहती हैं। ईश्वर की आत्माएं जीव की आत्माओं का रस सर्वथा चूसा करती हैं किन्तु जीवन की आत्मा भी ईश्वर की उन्हीं आत्माओं से रस लेकर अपनी इस कमी को पूरा करती है। इस प्रकार यद्यपि जीव ईश्वर दोनों में पांच पांच

आत्मा संभव होती हैं। किन्तु परमेश्वर में इन पांचों में से एक भी आत्मा नहीं है क्योंकि भूतों से उसका सम्पर्क नहीं। इसीलिये एक उसमें भूतात्मा नहीं है। परमेश्वर ने स्वयंभू सूत्ररूप होकर सबको अपने में बांध रक्खा है, किन्तु परमेश्वर किसी सूत्र से बंधा हुआ नहीं है। इसलिये उसमें दूसरी सूत्रात्मा नहीं है और जीव, ईश्वर का शरीररूपी क्षेत्र परिच्छिन्न होने के कारण क्षेत्र का अभिमानी क्षेत्रज्ञात्मा हो सकता है किन्तु परमेश्वर का शरीर अपरिच्छिन्न होने के कारण कोई नियत क्षेत्र नहीं हो सकता। इसलिये उसमें तीसरी क्षेत्रज्ञात्मा नहीं। और जीव ईश्वर में भिन्न भिन्न योनि का विभाग करने वाली महान् आत्मा होती है। परिच्छिन्न होने के कारण जीव ईश्वर में भिन्न-भिन्न प्रकार की योनियों का भेद होना सम्भव है। इसीसे भिन्न भिन्न योनि स्वरूप, भिन्न-भिन्न महान् आत्मा भी होती है किन्तु परमेश्वर अपरिच्छिन्न है। किसी प्रकार की योनि का भेद उसमें सम्भव नहीं, इसीलिये परमेश्वर में चौथी महान् आत्मा भी नहीं है। इन चारों आत्माओं के अतिरिक्त पांचवीं चिदात्मा जो ईश्वर या परमेश्वर से ही जीव और ईश्वरों में सम्प्रदाप्त होता है। किन्तु परमेश्वर स्वयं चिदात्मा है उसमें किसी दूसरे से चिदात्मा का आना सम्भव नहीं। इसीलिये उसमें यह आत्मा भी नहीं है।

अथवा प्रकारान्तर से परमेश्वर को यों देखिये कि ईश्वर या जीव में जितनी आत्माएँ हैं वे सब परमेश्वर से बाहर नहीं हो सकती क्योंकि परमेश्वर के बाहर कोई प्रदेश ही नहीं है। जहां किसी दूसरे का होना माना जावे इसीलिये ये अनन्त जीव ईश्वर की आत्माएं परमेश्वर की ही आत्माएं हो सकती हैं। इतना विशेष फिर भी है कि ईश्वर या जीव में पांच-पांच आत्मा होने के कारण परिमित आत्माएँ हैं किन्तु परमेश्वर में आत्माएँ अनन्त हैं इसीलिये परमेश्वर को सर्व-आत्मक और सर्व आत्मा दोनों कह सकते हैं। सब आत्माएं उसकी आत्माएँ हैं इसीलिये परमेश्वर को सर्व-आत्मक और सर्व आत्मा दोनों कह सकते हैं। सब आत्माएँ उसकी आत्माएँ हैं इसीलिये वह सर्व आत्मक है किन्तु जगत् जीव, ईश्वर इन की वही एक आत्मा है इसीलिये वह सर्व आत्मा भी है।

अणु से भी और महान् से भी महान् वह है। कृष्ण, शुक्ल, पीत, हरीत सब कुछ ही सत् और असत् है। तात्पर्य यह है कि इस विश्वभर में जितने विरोध भाव हैं वे सब इस परमेश्वर में आकर अविरुद्ध रूप से विद्यमान हैं।

एक दृष्टि से परमेश्वर को यों भी देख सकते हैं कि इस विश्व में जितने मन, प्राण, वाक् हैं वे सब उसके वास्तविक रूप हैं और वेद, यज्ञ, प्रजा ये तीनों ही उसके शरीर हैं और जीव ईश्वर ये सभी उसके वित्त हैं। इन तीनों के अतिरिक्त उस परमेश्वर की आत्मा अलक्ष्य अगोचर निरंजन, निराकार है वह अज्ञेय और अनिर्वचनीय है। इस प्रकार आत्मा, रूप, शरीर और वित्त इन चारों से चतुर्व्यूह वाला एक अद्वितीय व्यूहानुव्यूह परमेश्वर है।

इस परमेश्वर की न नाभि है, न संस्था है, न आदि है, न अन्त है, न इसका कोई दूसरा आधार है, अनन्त ईश्वर अनन्त जीव, इन सब में यह समान भाव से सर्वत्र व्याप्त है। इसकी मुख्यतया दो प्रकार से भावना की जाती है, एक शान्त और दूसरा समृद्ध, इनमें अव्याकृत रूप से यह शान्त है और एकाकार है और एक ही आत्मा है किन्तु समृद्ध भाव से यह अनन्ताकार है और सर्वात्मा है।

इस प्रकर पं. मधुसूदनजी ओझा ने परमेश्वर का स्वरूप विषयक स्वमत स्पष्ट रूप से व्यक्त किये हैं। जिससे यह स्पष्ट होता है कि परमेश्वर सबका कारण है और वह परमपूजनीय भी है।

संशोधक अधिकारी **डॉ. नरसिंह पण्डा**
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय कला केंद्र
वाराणसी -२२१००५

चरित्र निर्माण में शिक्षा का औचित्य-स्वामी दयानन्द का विचार

स्वामी दयानन्द का आविर्भाव जिस वातावरण में हुआ था, वह भारतीय इतिहास में संक्रांति काल कहा जाता है। उस काल में भारतीय जीवन गति शून्यता की स्थिति में अवस्थित था। पराधीनता की शृंखला में भारतीय जनमानस इतना बंध चुका था कि स्वाधीन चिन्तन के सभी द्वार उसके लिए बंद हो चुके थे। सम्पूर्ण भारत इस्लाम-धार्मियों के विलासपूर्ण शासनतंत्र से अभी-अभी मुक्त हुआ था किन्तु दूसरी ओर उससे भी अधिक हानिकारक विदेशी शासन तंत्र की जड़ें दृढ़ होती जा रही थीं।

इन दोनों शासन-तंत्रों के राजनीतिक परिवेश में यहाँ की जनता का प्रबुद्ध वर्ग असमंजस की स्थिति में था। वह यह विचार करने में असमर्थ था कि हमारी आदर्श चिन्तन धारा किस ओर प्रवाहित हो। तत्त्व मीमांसा, आचार-दर्शन, धर्म दर्शन, शिक्षा दर्शन और राजनीतिक दर्शन इन सभी क्षेत्रों में गतिशून्यता आ चुकी थी। न तो प्रबुद्ध जन मानस को इस्लाम धर्म की शिक्षा-पद्धति ही संतोष दे पा रही थी और न उभरती हुई पाश्चात्य चिन्तन धारा में ही वे अपनी जिज्ञासाओं का समाधान पा रहे थे। भारत की प्राचीन चिन्तनधारा जो वैदिक काल से चली आ रही थी, उसमें विभिन्न संस्कृतियों के घात-प्रतिघात तथा स्वयं दूषित आन्तरिक विकृति के कारण अनेक दोष उत्पन्न हो चुके थे। उसमें घोर रूढ़िवाद अवैज्ञानिक तथा अन्धविश्वास का वातावरण बढ़ा हुआ था। सत्य और असत्य के बीच कोई अन्तर प्राचीन मानसिकता से ग्रस्त लोगों में नहीं रह गया था।

इस स्थिति में पाश्चात्य देशवासी भारतीय जनमानस को अपनी ओर खींच ले जाना चाहता था। अंग्रेजों का यह षड्यंत्र बहुत गहराई में काम कर रहा था कि भेड़ों की तरह किसी भी दिशा में मोड़ा जा सकता है। यहाँ मैकाले के द्वारा प्रवर्तित शिक्षाविधि के प्रतिवेदन का एक अंश उदधृत किया जाता है कि उनकी नीति क्या थी -

''हिन्दू धर्म का इतना साहित्य भी नहीं है जो एक अलमारी में रख जा सके। भारतीय को सभ्य बनाने का दायित्व हम श्वेतांगों पर ही है। हमारी शिक्षा प्रणाली का एक परिणाम यह होगा कि भारतीय भले ही उपर से काले

रंग रहें किन्तु हृदय से वे हम श्वेतांगों के समान हो जायेंगे।''[१] मैकाले ने पुनः कहा था कि भारत में साहित्यिक एवं वैज्ञानिक ज्ञानकोश का अभाव है, तथा भारतीय भाषाएँ इतनी अविकसित और गँवार हैं, कि जबतक उन्हें बाह्य भंडार से सम्पन्न नहीं किया जायेगा, तब तक उनमें सुगमता से किसी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का अनुवाद नहीं हो सकेगा।[२]

यह बात अवश्य है कि अंग्रेजों ने पाश्चात्य शिक्षा के द्‌वार खोलकर भारतीयों को पाश्चात्य विचारकों और उनके चिन्तकों से परिचित होने का अवसर दिया, जिसमें बहुत शीघ्र भारतीय विचारधारा में आधुनिकता का निवेश हुआ किन्तु इसका एक दूसरा पक्ष भी अवश्य विचारणीय है कि भारतीय मानसिकता को अपने मूल से पृथक् करने का सारा श्रेय इसी शिक्षा पद्धति को है। यह तो स्वामी दयानन्द तथा अन्य विचारकों का उन्नीसवीं शताब्दी में अविर्भाव था जिसने उस विदेशी षड्‌यंत्र का रहस्योद्‌घाटन किया तथा भारतीय प्रगति की दिशा अपने प्राचीन वैदिक धर्म के उद्‌धार में निश्चित की, अन्यथा आज भारतीय सर्वथा अपनी संस्कृति के गौरवपूर्ण पृष्ठों से वंचित हो गए होते।

शिक्षा के विषय में दयानन्द का स्वतंत्र विचार था जिसे उन्होंने प्राचीन वैदिक शिक्षा-दर्शन के आधार पर अपनी विवेक-शक्ति से विकसित किया था। प्रचलित शिक्षा प्रणाली के स्थान पर उन्होंने गुरूकुल प्रणाली अथवा आश्रम प्रणाली को व्यवहार में लाने की अनुशंसा की उसी प्रकार राजनीति के क्षेत्र में उन्होंने चरित्र-निर्माण को औचित्य बतलाया। तात्कालिक राजनीतिक व्यवस्था से असंतुष्ट होकर उन्होंने प्रजा के चरित्र के बल पर स्वाधीन शासन व्यवस्था के प्रति आग्रह दिखाया।

सत्यार्थ प्रकाश के द्वितीय और तृतीय समुल्लासों में स्वामी दयानन्द ने अपने शिक्षा-दर्शन का सैद्धान्तिक और व्यावहारिक विवेचन किया है। भारतीय शिक्षा प्रणाली को वैदिक आदर्श में ढालने के लिए उन्होंने कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिए। धार्मिक एवं नैतिक शिक्षा, सदाचार, ब्रह्मचर्य, व्यक्तिगत, स्वच्छता, स्वास्थ्य रक्षा तथा वेदों के अध्ययन को उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र में आवश्यक बतलाया। शिक्षा के माध्यम के रूप में मातृभाषा अथवा पूरे देश की भाषा आर्य भाषा हिन्दी को उन्होंने अनिवार्य बतलाया।[३] शिक्षा-संस्थाओं को स्वामी दयानन्द ने बस्तियों के कोलाहल से दूर प्रकृति के खुले वातावरण

में खोले जाने की बात कही। इससे उनके अनुसार शिक्षा में स्थिरता प्राप्त होती है।

स्वामी दयानन्द के महान् शिक्षा सिद्धान्तों की अवहेलना नहीं की जा सकती। उन्होंने वास्तविक लोक कल्याणकारी के रूप में मानव-जीवन के सभी पक्षों को गहराई से समझा और शिक्षा को ही सामाजिक सुधार का बहुमूल्य और वास्तविक साधन माना। इसलिए सत्यार्थ प्रकाश में अन्य विषयों का विवेचन करने के पूर्व ही शिक्षा का विस्तारपूर्वक निरूपण किया।

उनके अनुसार शिक्षा का आरम्भ वस्तुतः गर्भाधान से ही हो जाता है। कारण यह है कि गर्भ में माता का चरित्र बालक के चरित्र से प्रभावित है। इसलिए बालक का विकास जो शिक्षा का फल है, गर्भ से ही आरम्भ हो जाता है।[१] इस दृष्टि से दयानन्द माता के भोजन का महत्त्व बालक के विकास में दिखाते हुए उसे सात्त्विक पदार्थों के सेवन का परामर्श देते हैं। जन्म के बाद तो माता ही बालक की प्रथम आचार्या होती है। इसलिए माता का शिक्षित होना भी बालक की शिक्षा के लिए अनिवार्य आवश्यकता है। दयानन्द कहते हैं कि माता ही बच्चों के शब्दोच्चारण पर ध्यान देती है, उसमें मधुर भाषण का गुण उत्पन्न करती है। उसे उचित सम्बोधन तथा सदाचरण के नियमों से अवगत भी माता ही कराती है, जिसके फलस्वरूप बालक, दूसरों की उपस्थिति में प्रशंसनीय आचरण कर सके।

बालक की प्रथम शिक्षा का संस्थान परिवार ही होता है। यह पाश्चात्य विचारकों का ही कहना है। एक शिक्षित परिवार में उत्पन्न बालक उत्तम शिक्षा का संस्कार प्राप्त करता है। स्वामी दयानन्द ने माता को प्रथम और पिता को द्वितीय शिक्षक कहा है।[२] माता अपने बालकों को पाँचवे वर्ष तक और पिता छठे वर्ष से आठवें वर्ष तक शिक्षा देते हैं। नवें वर्ष के आरभ्म में माता-पिता अपनी संतानों का उपनयन संस्कार कराकर गुरुकुल में भेज दें। इस प्रकार शिक्षा को फलवती बनाने में माता-पिता का अधिक योगदान है। स्वामी दयानन्द ने ऐसे परिवारों की भी घोर निन्दा की है जिनमें बच्चों को भूत-प्रेत, तंत्र-मंत्र, ज्योतिष आदि के कुसंस्कार उत्पन्न किये जाते हैं। समाज में व्यापक अंधविश्वास बाल्यावस्था से ही फैलता है। इसलिए श्रेष्ठ व्यक्तियों को आर्यजनों को चाहिए कि बालकों में इन अंधविश्वासों को पनपने न दें।

बाल्यावस्था में ही सत्य के प्रति निष्ठा उत्पन्न होती है। उसी समय अच्छे आचरण के बीज भी बोये जाते हैं। प्रायः अशिक्षित और कुसंस्कारी माता-पिता अपने बालकों को तथा बालिकाओं को दूषित संस्कार देकर आगे की शिक्षा प्रशिक्षण के लिए असमर्थ बना देते हैं। उसकी कटु आलोचना दयानन्द ने की।

गुरुकुल में बालक के जीवन का नया रूप निखरता है। दयानन्द के अनुसार इस जीवन का तेजोकण बनाने के लिए बालक को गायत्री-मंत्र अर्थ के साथ कण्ठस्थ कराना आवश्यक है।[६] गुरुकुल में चरित्रवान् तथा विद्वान अध्यापकों की नियुक्ति होनी चाहिए जिससे बालक चरित्र और ज्ञान दोनों की शिक्षा प्राप्त कर सके। सभी छात्रों को शारीरिक और मानसिक अनुशासन में रखकर सत्य का ज्ञान देना शिक्षक का कर्तव्य है। सादा जीवन और उच्च विचार रखने का अभ्यास छात्रों को अवश्य कराना चाहिए क्योंकि उनका उद्देश्य एक मात्र ज्ञान की उपलब्धि और उसका विकास करना है। यह उद्देश्य आलसी और विलासी जीवन बिताकर पूरा नहीं किया जा सकता।

आश्रय में शिक्षा प्राप्त करते हुए बालक-बालिकाओं को दैनिक संध्योपासना तथा देव यज्ञ करना अनिवार्य है। इनसे वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धा की भावना बनी रहती है। सन्ध्योपासना मन को केन्द्रित करती है। प्राणायाम का अभ्यास भी छात्र-जीवन का अनिवार्य अंग है।

शिक्षक अपने शिष्यों के मन में यह बात अवश्य बैठा दें कि सच्चे ज्ञान की उपलब्धि के लिए भौतिक धनसंचय और सुखोपभोग को छोड़ना अनिवार्य है। दयानन्द समाज के सभी वर्णों को शिक्षित करने का परामर्श देते हैं। सार्वजनिक तथा अनिवार्य शिक्षा से समाज में संस्कृति और सभ्यता पनपती है। ऐसी स्थिति में कोई किसी का शोषण नहीं करता और न सामाजिक बुराइयाँ पनपती हैं।''[७]

स्वामी दयानन्द विद्यार्थियों के शारीरिक और मानसिक संयम पर बल देते हुए कहते हैं कि भावी जीवन को तैयार करने के लिए तपस्वी, कठोर और संयत जीवन व्यतीत करना आवश्यक हैं। तभी व्यक्ति भावी जीवन के संघर्षें में विजयी हो सकता है। स्वामी दयानन्द के शैक्षणिक दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए श्री सत्यव्रत कहते हैं [८] ''बालकों को कठोर और तपस्वी जीवन व्यतीत करने योग्य होना चाहिए और वे स्कूलों के अतिरिक्त उसका प्रशिक्षण

और कहाँ पा सकते हैं ?..... यदि हमारे युवक जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अनुकूल अपने को ढाल नहीं सकते तो शिक्षा को ही दोषी ठहराया जायेगा . हमें विद्यार्थी को ऐसा प्रशिक्षण देना चाहिए कि वह जीवन के कठिनतम कष्टों को झेल सके..... वह ब्रह्मचारी बने..... ब्रह्मचारी तो जीवन के प्रशिक्षण में सच्चा सैनिक होता है। वह कठोर बिस्तर पर सोता है, सादा भोजन करता है, ऋतु के आघातों को झेलता है, जीवन में न्यूनतम आवश्यकताएँ रखता है, वह सभी एषणाओं का दमन करता है... और यह प्रशिक्षण उसे सर्वोत्तम आत्मनिर्भर और सेवक बनाकर सामाजिक संगठन का बहुत ही उपयोगीं अंग बना देता है।''

दयानन्द ने गुरुकुल अर्थात् शिक्षालय को ग्राम या नगर से दूर खोले जाने की अनुशंसा की है। सत्यार्थ प्रकाश में वे कहते हैं कि विद्या ग्रहण करने का स्थान एकान्त देश में होना चाहिए और बालकों एवं कन्याओं की पाठशालाओं में परस्पर चार मील का अन्तर हो।[९] स्त्री-शिक्षा का प्रतिपादन करने पर भी वे सह शिक्षा के आग्रही नहीं हैं। विद्यार्थी बस्ती के कोलाहल से दूर रहकर सांसारिक चिन्ताओं से रहित होकर केवल विद्या के अर्जन की चिन्ता रखें। समय-समय पर गुरु कुल के छात्र भ्रमण के लिए भी जायें किन्तु उस समय उनके साथ अध्यापक अवश्य रहें।[१०]

स्वामी जी ने अनिवार्य शिक्षा पर बल देते हुए कहा है कि इस प्रकार का राजनियम होना चाहिए कि पाँचवे या आठवे वर्ष के बाद किसी वर्ण का कोई व्यक्ति अपने लड़कों और लड़कियों को घर में न रख सके, उन्हें पाठशाला में अवश्य भेज दें। जो न भेजे, उसे दण्ड दिया जाये।[११]

ज्ञान की उपलब्धि के लिए निम्नलिखित पाँच परीक्षणों को स्वामी दयानन्द ने निर्धारित किया है।[१२] ये हैं वेद और ईश्वर का स्वरूप, प्रकृति के नियम, श्रेष्ठ पुरुषों के उपदेश और आचरण का ज्ञान, आत्मा की पवित्रता और आस्था एवं अष्ट विध प्रमाणों का ज्ञान।

इन पाँच परीक्षणों के आधार पर शिक्षक विद्यार्थी के ज्ञान का मूल्यांकन करें और विद्यार्थी को भी इन्हीं आदर्शों के आधार पर कोई बात स्वीकार या अस्वीकार करनी चाहिए। इन तथ्यों को ध्यान में न रखने से विद्यार्थी पूर्ण ज्ञानवान् नहीं बन सकते, केवल पुस्तकों को रट सकते हैं, दयानन्द ने विद्यार्थियों की मेधा के विकास के लिए उन परीक्षणों पर बल दिया। बिना सोचे-विचारे

किसी ग्रन्थ को पढ़ने या रटने का उन्होंने परामर्श नहीं दिया।

ज्ञानोपार्जन के समय किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न न हो, यह स्वामी जी के शिक्षा-दर्शन का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसलिए उन्होंने कई व्यावहारिक सुझाव दिये हैं जैसे-कुसंगति से बचना, बाल विवाह से बचना, ब्रह्मचर्य का पालन, राजा से बैर न करना, माता-पिता और विद्वान लोगों का आशीर्वाद प्राप्त करते रहना, आवश्यकता से अधिक न खाना, रात्रि जागरण न करना, पढ़ने में आलस्य न करना इत्यादि। स्वामी जी उन ब्राह्मणों का विरोध करते हैं जो अन्य वर्णों के लोगों को अशिक्षित देखना चाहते हैं। वे इसलिए समाज और सरकार के कर्तव्य को निर्देश करते हैं कि ऐसी बाधाओं और बाधकों को दूर करने के लिए ठोस कदम उठाये जायें।[१३] दयानन्द का विचार यह है कि ऐसा करने से ही सत्य और धर्म का वास्तविक ज्ञान पाया जा सकता है। और बिना किसी भेद-भाव के पूरा राष्ट्र शिक्षित हो सकता है।

स्वामी दयानन्द ने जो अध्ययन-सम्बन्धी योजना प्रस्तुत की वह केवल भारतवर्ष को ध्यान में रखकर ही दी गयी थी। इसलिए संस्कृत भाषा में निबद्ध ऋषियों के द्वारा दिये गए ज्ञान को ही उन्होंने मुख्य रूप से अध्ययन का विषय बताया। शिक्षा के कार्यक्रम में उन्होंने जो अवधि का निर्धारण किया [१४] जिसे विद्यार्थियों को ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। वह इस प्रकार है- वर्णमाला, संस्कृत व्याकरण, वैदिक शब्दकोष तथा निरुक्त, छन्दः शास्त्र, संस्कृत आर्ष ग्रन्थ, दर्शनशास्त्र, वेदाध्ययन, चार उपवेद, ज्योतिष तथा विज्ञान। दयानन्द फलित ज्योतिष का बहुत विरोध करते हैं क्योंकि इससे अकर्मण्यता और अन्ध विश्वास उत्पन्न होते हैं। यह शास्त्र छल-कपट फैलाता है।

इस प्रकार उपर्युक्त विषयों का अध्ययन २०-२१ वर्ष की अवधि में पूरा हो जाता है। जिस विषयों के अध्ययन की अनुशंसा दयानन्द ने की है वे छात्र को पूर्णतः सभय, सुसंस्कृत तथा राष्ट्रभक्त बना देते हैं। फिर भी इनका प्रयोग भारतीय संदर्भ में ही हो सकता है। यह दूसरी बात है कि विदेशों में बसे हुए भारतीय भी इस शिक्षा पद्धति को अपनाकर अपनी संतानों को आदर्श भारतीय के रूप में ढाल सकते हैं। किन्तु आधुनिक पाश्चात्य विषयों से छात्र को वंचित रखकर उसके भविष्य की कल्पना नहीं की जा सकती। दयानन्द के सिद्धान्तों के अनुसार बाद में जो शिक्षालय

खोले गये उनमें आधुनिक विषयों के प्रवेश को लेकर दो मत चल पड़े। एक मत के अनुसार आधुनिक विषयों के साथ ही दयानन्द की वैदिक पद्धति का महत्त्वपूर्ण अंश लेना संभव हुआ तो दूसरे मत के अनुसार दयानन्द की शिक्षा पद्धति पूर्णतः स्वीकार करके उसमें थोड़ा आधुनिक विषय भी रखना उचित माना गया। क्रमशः इन्हें डी. ए. वी. और गुरुकुल शिक्षा पद्धति कहते हैं।

जो कुछ भी हो, दयानन्द ने प्राचीन वैदिक ज्ञान को एक नयी दिशा दी, नये परिवेश में उसकी व्याख्या की तथा आधुनिक युग के साथ उसे जोड़ दिया। यह उनका महान् शिक्षा-दर्शन था। उन्होंने आधुनिक पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति में दुर्गुणों को नहीं देखा, अपितु मध्यकालीन शिक्षा-प्रणाली के द्वारा फैलाये गये अन्धविश्वास और पाखण्ड पर ही दृष्टि रखी थी, इसलिए प्राचीन वैदिक धर्म के पुनर्जागरण के क्रम में शिक्षा-दर्शन को भी तदनुरूप ही ढाला। यदि वे राजा राममोहन राय के समान अंग्रेजी शिक्षा-पद्धति में निविष्ट होते तो सम्भव था कि प्राचीन और आधुनिक विषयों में समन्वय का परामर्श देते। यह कार्य उनकी मृत्यु के बाद उनके अनुयायियों ने किया। दयानन्द ऐंग्लो वैदिक स्कूलों और कॉलेजों में यही प्रयोग चला।

स्त्री शिक्षा

ऊपर कई स्थानों पर यह संकेत किया गया है कि दयानन्द स्त्री शिक्षा के प्रबल पक्षधर थे। उन्होंने वेदों से प्रमाण देकर यह सिद्ध किया कि वेद में स्त्री शिक्षा समर्थित है। अथर्ववेद [१५] में कहा गया है कि ब्रह्मचर्य अर्थात् इस आश्रम में प्राप्त शिक्षा के द्वारा कन्या युवक पति की प्राप्ति करती है। तदनुसार कन्याओं को भी शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार है। गृहस्थ जीवन के सम्यक् संचालन के लिए स्त्री शिक्षा अनिवार्य है। दयानन्द ने स्त्रियों को विशेष रूप से गृह विज्ञान, चिकित्सा, गणित तथा व्यावहारिक कलाओं की शिक्षा लेने का परामर्श दिया है। वही माता प्रशंसनीय है जो अपने बालकों की शिक्षा पर समुचित ध्यान देती है। इसके लिए उसका स्वयं शिक्षित होना आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य को शिक्षा के लिए अनिवार्य समझने के कारण दयानन्द सह-शिक्षा का विरोध करते हैं। इसीलिये उन्होंने लड़कों और लड़कियों की पाठशालाओं के बीच कम से कम चार मील का अन्तर आवश्यक बतलाया

है ।[१६] लड़कों के विद्यालय में अध्यापक तथा कर्मचारी भी पुरुष ही रहें। इसी प्रकार लड़कियों के विद्यालय में सभी महिलाएँ ही रहें। दयानन्द इस विषय में इतने कठोरवादी है कि पूरे छात्र-जीवन में विपरीत लिंग वाले व्यक्ति के दर्शन को अनुचित बतलाते हैं। आधुनिक विचारक स्वामी जी के इस मत से सहज सहमत नहीं हो सकते क्योंकि यह मानव स्वभाव के विपरीत है। यहाँ तक कि वे माता-पिता के दर्शन भी अनावश्यक समझते हैं। वस्तुतः दयानन्द सह-शिक्षा को अतिवाद तक पहुँचा देते हैं।[१७]

स्वामी दयानन्द के शिक्षा-दर्शन का व्यावहारिक उपयोग उनके भक्तों ने पराधीन भारत में भी अनेक स्कूलों और कॉलेजों के अतिरिक्त गुरुकुलों की स्थापना करके किया। इसमें गुरु कुल कांगड़ी तथा डी. ए. वी. कॉलेज की पृथक् परम्पराएँ हैं। ये संस्थाएँ आज भी दयानन्द के शिक्षा-दर्शन को प्रचारित कर रही हैं।

डॉ. ब्रजेश्वर प्रसाद सिंह

रीडर एवं विभागाध्यक्ष
दर्शनशास्त्र विभाग
रामकृष्ण द्वारिका कॉलेज
पटना - २०

टिप्पणियाँ

१. सिद्धान्तालंकार दीनानाथ - आर्य समाज की उपलब्धियाँ, पृ. ५
२. जैहरी एवं पाठक - भारतीय शिक्षा का इतिहास, पृ. ९५
३. चौबे, सरयू प्रसाद - भारतीय शिक्षा दर्शन, १९७५, पृ. १०
४. सत्यार्थ प्रकाश - पृ.१४
५. वही, पृ.१८
६. यजुर्वेद ३६/३ ओऽम् भूर्भुवः स्वः। तत्सवितुर्वरेण्यम् भर्गो देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात् ॥
७. चौबे, सरयू प्रसाद- भारतीय शिक्षा दर्शन, पृ. १४
८. सत्यव्रत - फण्डामेंटल प्रिंसिपल्स ऑफ द गुरु कुल सिस्टम, पृ.६
९. सत्यार्थ प्रकाश, पृ. २०
१०. वही, पृ. २१
११. वही, पृ. २१

१२. चौबे, सरयू प्रसाद- भारतीय शिक्षा दर्शन, पृ. १५-१६
१३. वही, पृ. १८
१४. सत्यार्थ प्रकाश पृ. ३९-४२
१५. अर्थवेद ११/२४/१८ ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।
१६. सत्यार्थ प्रकाश, पृ. २०
१७. चौबे, सरयू प्रसाद- भारतीय शिक्षा दर्शन, पृ. १९

ग्रंथ समीक्षा

आचार्य नंदकिशोर, सभ्यता का विकल्प, वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, १९९५, पृ. ९६ मूल्य रू. १००/-

आज हमारा देश राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक अस्थिरता से ग्रस्त है। इन क्षेत्रों से नैतिकता मानो संन्यस्त हो चली गई है। अपने को महात्मा गांधीजी के अनुचर कहनेवाले भी महात्मा के सिद्धानों को ठुकरा रहे हैं। इस हालत में महात्मा गांधीजी के विचार समाज में नये सिरे से प्रस्तृत करने की जरूरत आ पडी है। इस को मद्दे नजर करते हुए नंदकिशोर आचार्य जी ने अपनी पुस्तक हमारे सामने प्रस्तुत की है।

डॉ. छगन मोहता-स्मृति-व्याख्यानमाला के व्याख्यानों को इस पुस्तकरूप से प्रकाशित किया है। जिन में चार लेख संग्रहीत हैं।

महात्मा गांधीजी का जीवन न केवल भारतीयों के आर्थिक, नैतिक तथा धार्मिक उत्थान के प्रयत्नों के लिए समर्पित था बल्कि समूची मानवजाति के उत्थान के लिए पथप्रदर्शन दर्शन एवं चिंतन प्रत्यक्ष कार्यरूप में प्रकट करनेवाला एक नमूना था। उन की राय में ऐसे समाज के निर्माण के लिए एक ऐसे मानवधर्म की स्थापना की जरूरत थी कि जिन का आधार प्रेम तथा अहिंसा हो। जिस समय वे भारत की आजादी के संग्राम के सेनानी बने उस समय यह देश विचार एवं आचारों में भ्रष्ट हुआ था। आधुनिकता का चोगा पहन कर यह देश युद्ध, शोषण तथा गरीबी जैसे दोषों से खोखला बन चुका था। उन की राय में इस अवस्था के लिए अंग्रेज राज भी जिम्मेदार था। इस स्थिति से सुधरने के लिए उन्होंने जो मार्ग सूचित किये उन की चर्चा लेखक अपने 'धर्म संस्थापनार्थाय' इस प्रथम लेख में प्रस्तुत करते हैं। यह धर्म किसी प्राचीन या ऐतिहासिक धर्म का रूप नहीं है। अगर मनुष्य के स्वभाव को बदलना है तो सत्य को ही ईश्वर के रूप में स्वीकारना होगा। उस की प्राप्ति का मार्ग है अहिंसा। धर्मसत्ता ही ईशसत्ता है और ईशसत्ता का मतलब है सत्य की सत्ता।

अपने द्वितीय लेख में लेखक विचार करते हैं अर्थशास्त्र का। आधुनिक अर्थशास्त्र में मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में स्वीकारा जाता है। गांधीजी की राय में यह दृष्टि अर्थशास्त्र और नैतिकता में दरार उत्पन्न कर देती है। वे मानते

हैं कि अर्थशास्त्र और नैतिकता में कोई भेद हो ही नहीं सकता। जिस अर्थशास्त्र से किसी व्यक्ति, समाज या देश की हानि हो तो वह अर्थशास्त्र पापपूर्ण है ऐसा वे कहते हैं। अतः वे मनुष्य को उपभोक्ता के रूप में स्वीकार न करते हुए एक नैतिक एवं चिंतनशील व्यक्ति समझकर अर्थशास्त्र की रचना करना चाहते हैं। आर्थिक समानता अहिंसक साधना की कुंजी है। अतः वे स्वदेशी पर जोर लगाने को कहते हैं। इस तरह अर्थशास्त्र अध्यात्मिकता के अधिष्ठान पर स्थापित हो सकता है। यही म. गांधीजी की मौलिक धारणा है जिस का विवेचन लेखक ने अपने द्वितीय अध्याय में किया है।

यही बात राजनीति में भी लागू है। सामर्थ्य का आधार लेकर शासनयंत्रणा और राजनीति चलाने से हिंसा पनपती है इस भूमिका के कारण म. गांधीजी नैतिकता के अधिष्ठान पर स्थापित राजनैतिक व्यवहार का प्रवर्तन चाहते हैं। इसी से सत्य, अहिंसा, प्रेम तथा ईश्वर आदि बातें प्राप्त होती हैं। इस तहर की राजनीति संपूर्ण समाज को धर्म से बाँध ले सकती है। अतः समाज को नैतिक बनाने के राजनीति के पक्ष को लेकर वे सत्याग्रह जैसे साधनों का उपयोगी करना चाहते हैं। अपने तीसरे लेख में लेखक ने इस बात को स्पष्ट किया है। परिशिष्टात्मक चतुर्थ लेख में इसी सूत्र को आगे चलाकर गांधीजी के सामाजिक विचार विशद किये हैं।

पुस्तक को पढने से लगता है कि सद्यःकालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं आर्थिक विचार संघर्षों के युग में यह पुस्तक न केवल प्रस्तुत ही है बल्कि नये युग की आहट को जगानेवाली भी है। इस पुस्तक का समाज के सभी अंगों से स्वागत होना जरूरी है। विचार, भाषा, प्रस्तुति एवं शैली इन सभी अंगो से एक उत्कृष्ट पुस्तक देने के लिए लेखक साधुवाद के अधिकारी हैं।

दर्शन विभाग **डॉ. लता छत्रे**
पुणे विद्यापीठ, पुणे -७

साहित्य में आधुनिकता की संकल्पना और भारतीय संदर्भ

इधर आधुनिकता पर विचार करना कुछ सामयिक फैशन के अनुकूल नहीं है, क्योंकि आधुनिकता के बाद उत्तर आधुनिकता पर समझे न समझे चर्चा करना साहित्यिक फैशन-सा बनने लगा है। हिन्दी में पचास-पचपन के आसपास नयी कविता, नयी कहानी के संदर्भ में आधुनिकता की काफी चर्चा हुई थी और योरोपीय साहित्यिक संदर्भों की छाया में विद्वत्तापूर्ण पुस्तकें और आलेख भी लिखे गये। कहीं आधुनिकता, आधुनिकतावाद इत्यादि शब्दों में चर्चा उलझ भी गयी। वैसे वैचारिक स्पष्टता अधिकतर अनपचे पश्चिमी साहित्यिक संदर्भों और ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्यों में धूमिल भी हुई। आधुनिकता विशिष्ट परिवेश में उत्पन्न मानसिकता का स्वरूप है या साहित्यिक मूल्य भी, इसको लेकर भी कुछ उलझन पैदा हुई। आधुनिकता के स्पर्श से थोड़ा बहुत प्रभावित साहित्य चर्चित भी हुआ। यह भुला दिया गया कि आधुनिकता का उद्भव एवं विकास पश्चिमी साहित्य की शक्तिशाली परंपरा, सांस्कृतिक स्थिति-गति तथा सामाजिक परिवेश (जिसमें वैज्ञानिक एवं तकनीकी विकास और अर्थव्यवस्था, उससे प्रभावित परिवार, व्यवस्था, मनुष्य के मन की विद्रोही स्वतंत्रता का उभार, बदले हुए मनुष्य/परिवार के रिश्ते, समाज की कुछ साक्षरता की समृद्धि इत्यादि कतिपय बातें शामिल थीं।) और समाज में उत्पन्न विविध शक्ति केन्द्रों के परिणामस्वरूप प्रतिभाशाली मनुष्यों में उत्पन्न मानसिक ऊर्जा का परिणाम था। परिणामतः भारतीय साहित्य का आधुनिकता के संदर्भ में गहराई से विश्लेषण कम हुआ। यह तुलनात्मक दृष्टि से कम देखा गया कि भारतीय संदर्भ में आधुनिकता को हम कितना स्वीकार कर पाये, कितना पचा पाये, उसके परिणामस्वरूप हमने कितना शक्तिशाली साहित्य रचा। हमारे सामने कोई अन्य विकल्प है अथवा नहीं।

यह अलग से रेखांकित करने की जरूरत नहीं है कि साहित्यिक सशक्त प्रवृत्ति किसी भी भाषा की देशीयता की ताकत पर पुष्ट होती है। इस देशीयता में संस्कृति, साहित्यिक परंपरा, सामाजिक अवस्था, पारिवारिक माहौल का स्वरूप, व्यक्ति को प्राप्त सुविधाएँ, वैचारिक पृष्ठभूमि और विशिष्ट देशीय मानसिकता की शक्तिशाली भित्ति शामिल है।

लगता है भारतीय साहित्य को आधुनिकता की एक मात्र कसौटी पर कसें, तो हाथ में गर्व करने लायक बहुत कम आता है। यह बात भी महत्त्वपूर्ण है कि साहित्य की श्रेष्ठता की कसौटी एक मात्र आधुनिकता नहीं है। फिर भी जिस कसौटी का हम आधा-अधूरा ही सही उपयोग करते आये हैं, उसका हमारे साहित्यिक संदर्भ में कितना उपयोग है ? अगर नहीं है तो क्यों नहीं है ? इस पर विचार करना बहुत जरूरी होगा। क्योंकि लगता है हमारे आधुनिक साहित्य को उथले धरातल पर स्पर्श कर आधुनिकता की लहर लौट गयी। वह एक सशक्त आंदोलन और उससे उत्पन्न प्रभावशाली प्रवृत्ति का रूप नहीं ले पायी।

आधुनिकता पश्चिमी साहित्य में एक विस्फोटक लहर के रूप में अवतरित हुई, यद्यपि उसके आकस्मिक स्फोट के लिए वर्षों से सांस्कृतिक सामाजिक परिवेश स्थिति पैदा कर रहा था। भारत में आधुनिकता पश्चिमी विचार और साहित्य के परिचय से आयी और कुछ समांतर स्थितियों ने उसकी सुगबुगाहट के लिए भूमि तैयार की। आकस्मिक विस्फोट में ऊर्जा होती है, अनुकरण में क्षीण जीवनोन्मेष। यह द्रष्टव्य है कि आधुनिकता का आरंभिक सशक्त विस्फोट गॉगिन, बैन गाफ, पिकॉसो जैसे महान चित्रकारों की कलाकृतियों में दिखा और बाद में साहित्य में। अनेक कलाओं में इंप्रेशनिज्म, एक्सप्रेसनिज्म, फ्यूचरिज्म, प्रतीकवाद, बिंबवाद, कोर्टीसिज्म, दादाइज्म, सररियालिज्म, क्यूविज्म, इत्यादि नये ऐंद्रिय प्रत्यय देनेवाले या अत्यंत अभिनव ढंग से संरचना करनेवाले कलारूप पैदा होने लगे। क्लासिकल परंपरा के स्थिर रूपों के प्रति विद्रोह प्रकट करने में कलाकारो में दुर्दम्य उत्साह उत्पन्न हुआ। व्यक्ति के अनुसार पृथक् शैलियों का प्रचुर वैभिन्य प्रकट होने लगा। इस वैभिन्य की गति इतनी तेज हुई कि संरचनागत या रूपगत किसी प्रकार की स्थिरता ही गायब हो गयी और स्थिरता, दीर्घकालिक उपस्थिति हेय मानी जाने लगी। परंपरा के प्रति, विरोध इतिहास के प्रति विरोध, बाह्य यथार्थ के परिनिश्चित आकारों के प्रति विरोध, वस्तुगत या शैल्पिक सोचों के प्रति विरोध करते हुए कलाकार केवल अपनी चेतना और चिति के प्रति सजग, ईमानदार और प्रतिबद्ध रहने की कोशिश करने लगा। मनुष्य के मन की आन्तरिक गुह्य चेतना को इतना महत्त्व आया कि उसके अबाध वर्चस्व के आगे जीवन-दृष्टि, मूल्य-विवेक, अवकाश और काल के बंधन, स्थिरता पर अधिष्ठित किसी भी

प्रकार की पहचान, भाषा का परंपरागत स्थिर रूप, वस्तु की प्रत्यक्षता, सब कुछ दोयम सिद्ध होने लगा। यहाँ तक कि अपनी आंतरिकता के सामने मानवीय गरिमा और मानव के प्रति 'कंसर्न' भी क्षीण होने लगा। नाटक हो, उपन्यास हो या काव्य किसी बाह्य वस्तु का प्रतिबिंब, आंशिक दर्शन, प्रतिनिधित्व करने वाला रूप न होकर कलाकार की अजस्र आंतरिक हलचल का पर्याय बना - शब्द, रंग, स्वर ये माध्यम केवल विवशता बाध्यता के कारण इस्तेमाल किए गये। अगर संभव होता तो किसी वस्तु का नामनिर्देश न करते हुए ही शून्य में अपनी आंतरिकता का नाट्य दर्शन ये कलाकार करते। कलाकार अपनी इस अन्तर्मुखी यात्रा में इतना आत्मकेन्द्रित हुआ कि सारे नाते-रिश्ते और मानवीय संबंध उसके लिए अपने 'स्व' से उद्भूत अर्थात् पूर्णतः बदले हुए लगने लगे। उसके लिए अपनी केन्द्रच्युत, असंतुलित, उखड़ी और आत्मस्थ चेतना महान् प्रश्न अवश्य बनी परंतु उसका बाह्य के संदर्भ में (परिवार, समाज, व्यवस्था, संस्कृति इत्यादि) संतुलन स्थापित करने की जरूरत उसने महसूस नहीं की। वह अपने ही अन्तर्मन में संगति और संतुलन की खोज करने लगा। अपनी वैयक्तिक कल्पनाशक्ति, प्रतिभा, ऊर्जा, चेतना उसकी दुनिया में सब कुछ बना। इस प्रयास में जो नयी तकनीकें आयीं, आन्तरिक तनाव, द्वन्द्व और वेदना पैदा हुई उसका रचयिता भी वही था और सहभोक्ता भी वही था, उसे संप्रेषण की जरूरत नहीं थी, सहृदय की आवश्यकता भी नहीं थी - वह स्वयं ही उसका भोक्ता था। एक प्रकार से अपनी ही बेचैनी में, अपनी ही दुखती नसों को कुतर कर खाने का यह प्रयास था।

कलाओं में अमूर्तन आया, शब्द और उसके परंपरागत अर्थ और भाषिक व्यवस्था के प्रति असंतोष पैदा हुआ, नये ढंग से संरचना का प्रबल आग्रह बढ़ा। इस प्रक्रिया में प्रयोग का जो आग्रह बढ़ा वह आन्तरिक जरूरत थी - दिखावा नहीं, चौकाने के लिए किया गया प्रयास नहीं। क्योंकि पाठक की या दर्शक की कोई अहमियत नहीं थी। कलाकार की आन्तरिक चेतना अकेली पड़ गयी थी और इस अकेलेपन में ही उसे सह्यता मिलने लगी थी। आत्म के अकेले पड़ने की प्रक्रिया में निर्वासन, निर्वासन में वेदना, वेदना में अंधकार, अंधकार में विलक्षण बेचैनी, बेचैनी में आत्महंता प्रवृत्तियों का प्रबल आकर्षण और आत्मविनाश के साथ सर्वविनाश की अमानवीयता का उत्तेजक विस्फोट था। इसमें बौद्धिकता, तर्क, प्रणाली, विवेक, सांस्कृतिक मानक, धर्म का

संवेदन सब कुछ बेमानी हो गया था।एक तरह से कला एक चेतना की अस्वस्थ, दिशाहीन, स्फोटक ऊर्जा के लिए जरूरी साधन बन गया था। इस पूरी प्रक्रिया में जो महान रचनाएं पैदा हुईं (मसलन चित्रकारों के शक्तिशाली चित्र, युलिसिस जैसा उपन्यास, वर्जीनिया वुल्फ, टी. एस. इलियट, थामस मन, जोसेफ, कोनरेड) उनके मूल में प्रचण्ड ऊर्जा है। इस ऊर्जा का आधार वैयक्तिक चेतना का अजस्र प्रवाह था।

विद्रोह (इतिहास परंपरा, यथा-तथ्यता, व्यवस्था, सबके प्रति) कालविद्धता, समसामयिकता, अन्तर्मुखता, अमूर्तता, आकस्मिकता, अनपेक्षितता और नवीनता से पाठक को झकझोरने की वृत्ति, सृजन के आभामंडित साहित्य से पृथक् अपने अस्तित्व में ही रस लेने की क्रीड़ा वृत्ति, कला के यथार्थवादी रूपों के प्रति घोर उपेक्षा भाव, साधारणीकरण की अवमानना, प्रतिष्ठित मानकों, स्थितियों, अवस्थाओं के विरोध में आत्मतत्त्व की खोज, जीवन से प्रभावित होने की अपेक्षा कला में ही जीवन निर्मित करने की महत्त्वाकांक्षा, मानवीय रिश्तों और मनुष्य के मानस के प्रति बदला हुआ रवैया, परिचित के प्रति अरुचि और अपरिचित का मोह, जीवन के निरावेग, प्रशांत और स्वस्थ रूपों की अपेक्षा तनाव, द्वन्द्व और क्राइसिस की खोज में अतिरिक्त उत्साह, जीवन के गहरे, अचीन्ह विद्रूप अपरूपों के प्रति उत्सुकता, अपनी कल्पना में ही यथार्थ को खोजने का प्रयास, अपनी घोर वैयक्तिकता को ही वस्तुनिष्ठता का रूप देने का आग्रह, भावना का बौद्धिकीकरण, मन के अतल में अवस्थित नर्क को खोजकर उसे प्रतिष्ठित करने का प्रयास, काल-तत्त्व के साथ खिलवाड, अपने मनोनिर्मित अवकाश को प्रतिभासित करने की आकांक्षा, कारण-कार्य संबंध के प्रति संदेह, तर्कातीत और रहस्यमय के प्रति आकर्षण - ये कुछ वैशिष्ट्य थे जो आधुनिकता से आविष्ट साहित्य में परिलक्षित हो रहे थे। इसका परिणाम भाषा के स्वीकृत व्याकरण सम्मत रूपों के विद्रोह में, भाषिक संरचना के नियमों की अस्वीकृति में, शब्दों के परिनिष्ठित रूपों और अर्थों के प्रति असंतोष में हुआ और भाषा रचनाकार के लिए एक अवरोधक के रूप में खड़ी रही और उसकी बँधी बँधायी रूढ़ियों पर लेखक टक्करें मारने लगा। उसने शब्दों और ध्वनियों के साथ क्रीड़ा खिलवाड़, तोड़-फोड़ करना शुरू किया। नये शब्द संयोजनों की खोज की। कवियों के लिए इनमें अपनी प्रयोगधर्मिता और कल्पनाशीलता को आजमाने की शक्तिशाली चुनौतियां

मिली। भाषा को अपनी वैयक्तिक संपदा के रूप में प्रस्तुत करने की आकांक्षा में उसे अपूर्व मुक्ति मिली। सृजन का सुख मिला, विद्रोह की सार्थकता दिखी। केवल नये बिम्बों और भाषा के प्रतीकात्मक उपयोजन से ही उसे संतुष्टि नहीं मिली, सभी प्रकार के पाठक के साथ समझोतों को तोड़ने में उसे सृजन का सुख मिलने लगा। अपनी एक सर्वथा नयी भाषा लाने की महत्त्वाकांक्षी उत्तेजना ने कवि को उकसाया। असल में भाषा को यथास्थिति के प्रति विद्रोह और उसको तोड़फोड़ कर नये रूपों में निर्मित करने की आकांक्षा के मूल में आधुनिक लेखक की केवल सृजेनच्छा की तीव्रता नहीं थी। कहीं गहरे धरातल पर अति वैयक्तिक, आत्मकेन्द्रित, अहंवादी व्यक्ति की सृष्टि के प्रति विध्वंसक रूझान थी, यह एक विकृत मानसिकता थी जो विकृत को, नरक को, जुगुप्सामय और यातनामय को स्वीकार कर उसमें रममाण होने की मरणेच्छा का विविध रूपी प्रकटीकरण था। अधिकांश पाठकों और विद्वानों ने इसको युगीन संवेदना के रूप में स्वीकार किया। कथात्मक रूपों का क्रम, घटनाओं पर बल, चरित्रों और घटनाओं की पारस्परिकता का कथा प्रवाह में उपयोजन यह सब भाषा, काल और मानसिकता के प्रति बदले हुए रवैये के परिणामस्वरूप उखड़ गया। प्रारंभ, मध्य, अंत की बद्धमूल संकल्पनाएं ध्वस्त हो गयीं। स्थिरता, व्यवस्था, विकास, क्रम, प्रवाह जैसा अवधारणाओं में सन्निहित धीमी गति के स्थान पर भंवर उद्वेलन, क्राइसिस आदि को स्थान मिला। वैसे कुल बुद्धिजीवी मानसिकता से ही स्थिर जीवन और उज्ज्वल भविष्य की समूची आस्थाएं तो खत्म हुई थीं - भयावह वर्तमानता और उसमें उपलब्ध क्षण ही अपना सत्य रहा। कभी वर्तमान क्षण का पीछे अतीत में जाकर स्मृतियों का वितान निर्मित करने में लेखकों को सुख मिलने लगा। कभी अतीत के मिथकों को वर्तमान के साथ जोड़कर मिथक को वर्तमान की प्रत्यक्षता का रूप देकर सृजन क्रीड़ा संपन्न हुई।

वैसे आधुनिकता का रूप सभी योरोपीय देशों में भी समान नहीं है। इस शब्द की व्याप्ति में परस्पर विरोधी अवधारणाएं भी शामिल थीं। 'यूलिसिस' जैसी रचना के साथ जोला और टॉलस्टाय के 'वॉर एण्ड पीस' को या इब्सन के नाटकों को भी आधुनिक मानने का आग्रह है। अमेरिका की आधुनिकता विषयक अवधारणाओं और जर्मनी की अवधारणाओं में भी काफी अंतर है। आधुनिकता के वैयक्तिक सौंदर्यशास्त्र और पतनशील प्रवृत्तियों के प्रति नाराज़गी

भी आधुनिक कहे जाने वाले लेखकों ने व्यक्त की है। आधुनिकता को रूसी मार्क्सवादियों ने अपने रंग में मिलाकर देखा। कुल मिलाकर आधुनिकता एक व्यामिश्र अवधारणा रही है, जिसमें अनेक विरोधी दृष्टियों, परिप्रेक्ष्यों, प्रवृत्तियों, कला रूपों और शैलियों का समावेशन है। उसमें रोमँटिसिज्म का घोर विरोध भी है और रोमॅंटिसिज्म के अतिवादी रूप अतिरेकपूर्ण अबौद्धिकता का समावेश भी। रोमँटिसिज्म और क्लासिसिज्म, घोर अनास्था और गहरी आस्था, विद्रोह और परंपरानिष्ठता, विज्ञान और टेक्नालॉजी का समर्थन और अस्वीकार, इत्यादि का समवेत समावेश आधुनिकता में हुआ है। जब कलाकार की आत्मचेतना का जैसा वैयक्तिक तथ्य ही आधुनिकता का प्रमुख आधार हो तब यह परस्पर विरोधी बातों का सम्मेलन स्वाभाविक ही था।

आधुनिकता ने कथा की संघटना और संरचना को तोड़-फोड़ दिया। किसी भी क्रमिक आख्यान और इतिवृत्तात्मक लेखन से आधुनिक मानस की चिति का संवाद नहीं हो सकता। मनुष्य के मन की गहराई, व्यामिश्रता और उसके प्रकट मन पर पड़ने वाले अन्तर्मन के दबाव का रूप, उसके स्वभाव की अस्थिरता, चरित्र की अनियमितता, संकल्प की दृढ़मूल यकीनी, विकल्प की अबौद्धिकता, इत्यादि सैंकड़ो तथ्य नये मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में परिवर्तित हुए। आधुनिक लेखक के सामने मनुष्य का यह अवचेतन द्वारा अनुशासित मन, एक स्वतंत्र, स्वायत्त विश्व बनकर सामने आया। अन्तर्मुखी लेखक अपनी ही चेतना को कुछ तटस्थ होकर निहारने लगा और उसकी अप्रतिमता, अनोखापन, अद्वितीयता उसके सामने चुनौती के रूप में खड़ी रही। उसने पाठक से सवांद की कल्पना छोड़ दी। संप्रेषण की अपेक्षा आत्म-प्रकाशन की आंतरिक ज़रूरत से वह अकेले ही अकेले अपने अनुभव संसार का निर्माता और भोक्ता बनने के लिए बाध्य हुआ। परिणाम में वह औरों से अधिक कटता गया और अकेला पड़ता गया। इसी में अपने अकेलेपन के संसार के प्रति उसमें अस्मिता जागी, अहंकार जागा और दूसरों से दूर होता गया। इस अस्मिता में उसने अपने अनुभव संसार को नये बिम्ब दिये जो कल्पनाप्रसूत थे, नये प्रतीक दिये जो उसके अपने थे, वैयक्तिक थे, भाषा के संयोजन में नये तरीके अपनाये, चेतना प्रवाह या पूर्वदीप्ति प्रणाली की अहमियत समझी, शब्द भी तोड़मोड़ कर नये बनाए - शब्दों के बीच की अर्थपूर्ण मूकता को अधिक सजगता के साथ उपयोजित किया, शब्द की ध्वनियों से काम

लिया। अब भाषा अभिव्यक्ति का साधन या माध्यम नहीं भाषा ही दर्शनीय वस्तु बनी। वस्तु की अपेक्षा वस्तु का चिंतन एवं चिन्तन प्रक्रिया को यथावत् प्रस्तुत करने की आकांक्षा बलवती हुई, जीवन के प्रारूपों पर रूप चेतना हावी होने लगी। अपनी ही चिति का संसार उसे इतना सम्मोहित करने लगा कि चरित्र, घटनाएं, प्रसंग, अनुभव इसके मन से ही पैदा होने लगे। तभी मार्शल प्रूस्त जैसा लेखक अपनी स्मृतियों को लेकर अनेक खंडों में उपन्यास लिखने का सफल प्रयास कर सका। यूलिसिस जैसे महान् उपन्यास में, लेखक का अपना अन्तर्मन ही रंगमंच बना। तभी तो अपनी रचना प्रक्रिया को ही औपन्यासिक रूप दिया जाने लगा। उपन्यास के बारे में उपन्यास लिखा गया। यह बात दूसरी है कि महान् लेखक की आन्तरिकता में से, जो बाहर का यथार्थ झलका वह महत्त्वपूर्ण बना कभी रोज़मर्रा की जिन्दगी को मनोवैज्ञानिक परिभाषा में देखने की प्रवृत्ति बढ़ी। सौंदर्यवादी आत्मचेतना के अनुकूल और बाह्य यथार्थ एवं इतिहास के प्रति अवहेलना के भाव ने शैली, तकनीक, रूपायन इत्यादि में मानवीय तत्त्व के तिरोहित होने की स्थिति पैदा कर दी। अमूर्तन की प्रवृत्ति बढ़ी।

समाज से कटे, अकेलेपन का दर्दनाक अनुभव करनेवाले कलाकार, अपनी कल्पना में जो दुनिया देख रहे थे, उसमें विनाश की लहरों का मृत्यु-संगीत उन्हें सम्मोहित-सा करता था। दुःस्वप्न, दिक्-भ्रम, धुरी-च्युत उखड़ेपन की पीड़ा,व्यर्थता-बोध, असंगति वेदना इत्यादि का गाढ़ा काला रंग अधिक गाढ़ा बनता गया। अनुभव संसार के प्रति समरसता का रिश्ता लगभग समाप्त होकर व्यंग्य (सटायर और आयरनी) का रिश्ता लगभग कायम हो गया। भावुकता का विलोपन हुआ। क्योंकि वस्तु के साथ साहित्यकार का रिश्ता सदा के लिए तिरछा (Oblique) बना। सामान्यतः 1870 से 1930 के बीच साहित्य एवं चित्रकला में आधुनिकता का स्वर बढ़ता गया। उसके विविध रूप योरोपीय देशों में प्रकट होने लगे। और जैसा कि हर प्रवृत्ति के बारे में होता है, लोकरुचि के दबाव में आधुनिकता की ऊँचाई पर चढ़नेवाला उत्थान भी धीरे धीरे खत्म होने लगा। मार्क्सवादी विचारधारा या लोकतंत्र की अवधारणाओं ने एकान्तिकता की ओर गतिमान धारा को रोक दिया। यद्यपि आधुनिकता के इतने रूप, चेहरे, पहचानें, प्रेरणाएं हैं कि परस्पर विरोधी दावे भी किये जाते रहे। लेकिन इस प्रचंड प्रवृत्ति ने साहित्य एवं कला के सामने

अभूतपूर्व प्रश्न उत्पन्न किये, उत्तर भी ढूँढ़ने का प्रयास किया, कुछ स्थायी प्रभाव भी कुल कलानुभव पर अंकित हुआ। जीवन, मनुष्य का स्वभाव, इतिहास, विज्ञान, तकनीकी विकास, कला रूपों का स्वरूप, साहित्य का प्रयोजन, कलाकार का व्यक्तित्व, कला की सार्थकता के आयाम, काल तत्त्व का इकहरा रूप इत्यादि की ओर देखने की दृष्टि में प्रश्नाकुलता, संशय, अनेकान्तता (Ambiguity) आधुनिकता ने उत्पन्न की। इन सबको विलक्षण सजगतापूर्वक चेतना की समस्त शक्ति के साथ देखने की, गुनने की जरूरत को प्रतिस्थापित किया। कलाओं और साहित्यों के मूल में किसी एक तत्त्व को देखने और आरोपित करने के स्थान पर अनेकता और व्यामिश्रता के साथ जीना सिखाया। इस उभार में अनेक वैश्विक स्तर के लेखक पैदा हुए, जिन्होंने कालजयी कृतियां दी। आधुनिकता की अजस्र विश्वव्यापी प्रवृत्ति ने महान् रचना बनाने की कुछ संभावनाएं निर्मित की। आधुनिकता के श्रेष्ठ या अच्छे साहित्य का मूल्य मानना आधुनिकता के पूर्व विनिर्मित रचनाओं का अवमूल्यन होगा और आधुनिकता के लहर के सिमटने पर महान् रचनाओं का निर्माण होना, असंभव स्वीकार करना होगा।

व्यक्ति की चिति या चेतना के समाज से अलग होकर स्वायत्त स्वतंत्र और प्रभावपूर्ण होने की स्थिति में आधुनिकता पैदा होती है। यहां अनेक सांस्कृतिक, सामाजिक, साहित्यिक कारक सक्रिय रहते हैं। असल में व्यक्ति की चेतना का अपरिसीम महत्त्व, उसी समाज में स्वीकार हो सकता है, जिसमें व्यक्ति और समाज के संबंधों में एक ओर दूरी भी पैदा हुई हो और उस दूरी को स्वीकार करने की सांस्कृतिक क्षमता भी समूचे समाज में उत्पन्न हुई हो। धार्मिक मूलतत्त्ववाद जहां प्रबल हो या धार्मिक कर्मकांड ने जहां व्यक्ति को लगभग पूर्णतः बांध रखा हो, वहां व्यक्ति की चेतना शक्तिशाली रूप में प्रकट नहीं हो सकती। इसीलिए भारतीय समाज में विशेषतः हिन्दू धर्म के कर्मकांड, जाति व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था से दबे मनुष्य का व्यक्तित्व ही इतना समृद्ध, वैविध्यपूर्ण, व्यामिश्र नहीं बन सकता, जितना एक व्यक्ति की कलात्मक ऊर्जा की मुक्त अभिव्यक्ति के लिए जरूरी है। हमारे यहां जो कलाएं विकसित हुई हैं, वे अनामिक भी रही हैं, उनमें व्यक्ति से अधिक पूरी पीढ़ियों की परंपरागत कारीगरी का उपयोजना हुआ है। हमारे यहाँ नाटकों के चरित्र भी व्यक्ति के रूप में नहीं, वर्गीकृत सांचों के रूप में निर्मित हुए हैं। आधुनिकता

जिस व्यक्तिवाद की भित्ति पर विकसित हुई है, उसके लिए हमारी समाज व्यवस्था विशेष उपयोगी प्रायः नहीं रही। भारतीय समाज व्यवस्था में घर अत्यधिक महत्त्वपूर्ण घटक रहा है और गृहस्थ एक आदर्श पुरुष। घर और गृहस्थ, रिश्तों में बंधी इकाइयां हैं। घर अगर विशिष्ट जाति या वर्ण के शिकंजों, आचरण के नियमों में बंधा है, तो गृहस्थ का आचरण-धर्म भी सुनिश्चित है। यहां व्यक्ति को अपनी वैयक्तिक रुचियों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों का विचार नहीं करना होता, घर की प्रतिष्ठा या खानदान का विचार करना होता है। परिणामतः हमारे संवेदन, अभिवृत्तियां, कर्ममार्ग विशिष्ट आचरण धर्म से अनुशासित रहते हैं। इसमें व्यक्ति का महत्त्व नहीं होता पारिवारिक सदस्य का होता है, व्यक्ति की वैयक्तिक चेतना का महत्त्व नहीं होता। परिवार के कर्तव्यों और रिश्तों में आबद्ध सदस्य का आचरण जाति और वर्ण का सुनिश्चित कर्म, इनके बीच सुरेखित रास्ते पर चलनेवाला व्यक्ति सामान्यतः अपनी खास वैयक्तिकता, प्राइवेसी या सींक्रसी जैसी बातों के प्रति विशेष सजग नहीं होता और इनके लिए विशेष खबरदार होकर लडने की जरुरत उसे नहीं होती। हमेशा परिवार के प्रति एवं रिश्तेदारों के प्रति समर्पित व्यक्ति, अपनी आत्मकथा लिखते समय भी ऐसी घटनाओं प्रसंगों का 'सत्य' सामने लाने से हिचकेगा, जिनका प्रभाव उसके परिवार के सदस्यों पर अवांछित रूप में पड़ेगा - इसीलिए भारतीय समाज में लिखी गयी लगभग सभी आत्मकथाओं में, बहुत कुछ छिपाया भी जाता है। ऐसी स्थिति में लोक या समाज के प्रति बिरादरी का भाव तो पैदा हो सकता है लेकिन व्यक्ति की अपरिसीम महत्ता पर आधारित चिति का विकास नहीं हो सकता, उसमें ऊर्जा पैदा नहीं हो सकती। हमारे यहाँ व्यक्ति समस्त एतादृश्यत्व के प्रति विद्रोह की भूमिका में कम रहता है। और प्रकृति के साथ तो भारतीय मानस अत्यधिक संवाद की स्थिति में रहता है, इतना ही नहीं प्रकृति उनके लिए देवी है, माँ है, सहचरी है, सौंदर्य का अक्षय स्रोत है। विद्रोह की भावना मनुष्य को अन्तर्मुखी करती है, यह अन्तर्मुख होकर अपने मानस की गहराइयों की खोज के लिए विवश करती है - आधुनिकता का यह रूप हमारे समाज में विकसित होना मुश्किल है।

हमारे यहाँ चेतना की अबाध अभिव्यक्ति को कभी महत्त्व नहीं दिया गया। हमारे सामने योग का आदर्श है, जिसमें भटकने वाली चेतना को केन्द्रित किया जाता है और मन की अबाध गति को शून्यवत् करने का प्रयास

किया जाता है। वैसे भी मन को कभी सर्वोपरि मानकर महत्त्व नहीं दिया गया। स्थितप्रज्ञ के आदर्श में मानवीय संवेदनाओं, अभिवृत्तियों को केन्द्रित करने में सार्थकता मानी जाती है। परिणामतः चेतना की क्रीड़ा, उस क्रीड़ा में उत्पन्न कल्पना लोक की विविधरंगी दुनिया में, भारतीय मानस रुचि नहीं लेता।

भारतीय मानस, अनेकता में एकता का खोजी मानस है। समस्त ब्रह्मांड के मूल में अवस्थित एक ब्रह्म या ईश्वर की कल्पना, हमारी इस मानसिकता के लिए अनुकूल पड़ती है। विविध रसों में हम किसी एक रस को मूलभूत मानते हैं, जैसा कि शैव दर्शन में शांतरस को सभी रसों का स्रोत माना गया है। हमारा वर्गीकरण भी एक से अनेकता की ओर अभिमुख होता है। आयुर्वेद में हर व्यक्ति का शरीर अलग नहीं माना जाता, समस्त शारीरिक रोगों को वात, पित्त, कफ से जोड़ा गया है। हमारे यहां ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक तत्त्व की तीन अवस्थाएं हैं और उनको देवता माना गया है और सबकी परिणति महेश के द्वारा विनाश में दिखायी जाकर भी विनाश नये निर्माण के लिए आवश्यक प्रलय माना गया है। विनाश या मृत्यु को अंतिम सत्य न मानने का परिणाम, अंतिम डिस्ट्रक्शन के भय को क्षीण कर देता है। हमारे यहां महेश देवता है, विनाशकारी राक्षस-तत्त्व नहीं (अतः घोर ट्रेजेडी की हमारे यहां उपस्थिति या परिकल्पना, कम है) आधुनिकता जिस आस्था को नकार देती है (जिस 'डिस्ट्रक्शन' को युगीन संवेदना मानकर गौरवान्वित करती है), वह आस्था हमारे जीवन-व्यापार का सक्रिय भाग है।

हमारी साहित्यिक परंपराओं में इस संकल्पना का सर्वोपरि महत्त्व था। उसका संबंध मन की विश्रांतावस्था से है। समस्त भौतिक तनावों, द्वन्द्वों के उपरान्त मन की प्रशांत अवस्था में ही सर्जना को मूल्यवान माना गया है। वाल्मीकि ने क्रौंच का वध देखा परंतु उससे उत्पन्न शोक, श्लोक में परिणत होने के लिए मन की विश्रान्त अवस्था को ही आवश्यक समझा गया है और सहृदय की मानसिकता भी द्वन्द्वहीन = विश्रांतावस्था में परिणत होती है। यह आदर्श आधुनिकता के सभी वैशिष्ट्यों से विपरीत है। वक्रोक्ति, अलंकार और रीति की भाषिक, भंगिमाओं का सौंदर्य शब्द की अपर्याप्तता के कारण नहीं, तोड-फोड़ की बेचैनी के परिणास्वरूप नहीं - क्रीड़ा के परिणामस्वरूप उत्पन्न किया जाता है। व्यंजना की सार्थकता शब्द को अर्थहीन

करने से नहीं, शब्दों की अभिधा शक्ति को सम्मानपूर्वक नमन करते हुए उसके परे जाने में निहित है। भाषा के प्रति यहां सदैव प्रणतिभाव ही रहा है। भाषा के शुद्ध उपयोग में ही मंत्रशक्ति का अर्विभाव देखा गया है। हमारे यहां जो भी प्रयोग हुए हैं, परंपरा के प्रति सर्वथा विद्रोह भाव से नहीं, परंपरा की तोड़-फोड़ करके नहीं, परंपरा के साथ क्रीड़ात्मक रिश्ता रखकर। (जात, ईश्वर, स्वर्ग-नरक, जीवन का उद्देश्य सबके प्रति विरोध करने वाले भगवान बुद्ध भी भारतीय परंपरा में ही शामिल हुए और विद्रोही कबीर भी)।

भारतीय कला चिन्तन में सम्प्रेषण को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। संप्रेषण के लिए साधारणीकरण भी आवश्यक समझा गया। साधारणीकरण में श्रोता या दर्शक और कलावस्तु में विरोध की कल्पना भी नहीं की जा सकती। आधुनिकता का महल आत्माभिव्यक्ति पर खड़ा है और आत्माभिव्यक्ति के मूल में अपनी अलग पहचान, अपने विशिष्ट और नये कलाव्यक्ति की अस्मिता सक्रिय रही है। श्रोता की प्रत्यक्ष उपस्थिति मौखिक परंपरा में तो प्राणभूत वैशिष्ट्य रहा है और यह मौखिक परंपरा तभी संभव है जब श्रोता और वक्ता के बीच संपूर्ण संवाद है। आधुनिकता इस संवाद की ज़रा भी परवाह नहीं करती, क्योंकि वह लिखित परंपरा की मुख्यतः उपज है। आधुनिकता का अस्तित्व ही कलाकार के पृथक, वैशिष्टचवान, सामान्य साधारण और लोक से अलग अपनी पहचान पर सप्राण होता है। हमारी समस्त भारतीय साहित्यिक परंपरा में ऐसी स्थितियों की परिकल्पना नहीं है। हमारी गीति परंपरा भी पूर्णतः परंपरानुमोदित है - वैयक्तिक राग गीति में सार्वजनीन होता है। हमारी शिल्पकला, वास्तुकला, चित्रकला अधिकांश रूप में निर्वैयक्तिक और अनामिक भी रही है। वैयक्तिक तत्त्व क्षीण होने के कारण भारतीय कलाओं/साहित्यों में क्राइसिस, जो कि आधुनिकता का एक महत्त्वपूर्ण वैशिष्ट्य है, को कभी महत्त्व नहीं मिला। हमारी मौखिक परंपराओं के कारण ही इतिवृत्तात्मक कथनशैली, वर्णनपरकता, दृष्टांत, उपमा, रूपक जैसे अलंकारों का प्राचुर्य, व्यास शैली का प्रचलन (सूत्र शैली, समास शैली केवल विद्वानों के लिए दर्शन और ज्ञान-विज्ञान में महत्त्वपूर्ण रही) इत्यादि का प्रायः प्रमुख प्रभाव रहा। आधुनिक रचनाकार, इनको बहुत हेय मानता है।

भारतीय साहित्य की परंपरा कालविद्ध कलाकार की नहीं है। आधुनिक साहित्य की प्रेरणा ही काल की मार से बेचैन, घायल, लहूहान कलाकार की

विवशतापूर्ण अभिव्यक्ति में है। एक तो भारतीय कलाकार की काल चेतना में, इतिहास मिथक के रूप में अवतरित होता है और मिथक कालातीत की ओर अभिमुख होता है। भारतीय बौद्धिक काल को सनातन मानता है, जबकि आधुनिक कलाकार की काल-चेतना में निरंतर संकोच होता गया है। शती, अर्धशती, चतुर्थ शती, दशक जैसी संकल्पनाएं लगातार यहाँ आती रही हैं। आधुनिकता अपनी अंतिम अवस्था में भले ही इतिहास के प्रति बगावत की भूमिका में उतर आती हो, कालबोध से उसका पीछा प्रायः नहीं छूटा। कालबिद्धता से मतलब कलाकार का अपने वर्तमान समय की समस्याओं, संकटो एवं चरम भीषण अवस्थाओं के भान से है, अपने वर्तमान की समग्र प्रतीति के साथ उसके लिए कारण बनी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के यथासंभव समग्र बोध से है। इस अर्थ में भारतीय साहित्यिक परंपरा कालविद्ध नहीं है। भारतीय कलाकार, काल पर आक्रमण करने की भूमिका में भी कभी नहीं रहा। इसीलिए काल के साथ खिलवाड़ करने की आकांक्षा भी उसकी नहीं रही। परिणामतः स्मृत्यावलोकन का प्रदीर्घ प्रयास, फंतासी का प्रचुर उपयोग, चेतना प्रवाह का प्रयोग, शब्द की पर्याप्तता के बोध से तोड़फोड़ की प्रवृत्ति उसकी कभी नहीं रही। इसका एक अन्य कारण भारतीय कलाकार का एकान्त में लोक से अपने को पृथक मानकर अपनी अस्मिता का रोमंथन करते रहने में कभी रुचि न रखना भी है।

भारतीय साहित्य में साहित्य की जो अभिजात परंपरा थी, उसका लक्ष्य अध्यात्मिकता की ओर मुड़ा था तो लौकिक कलाओं का मनोरंजन की ओर। साहित्य जीवन के प्रत्यक्ष अनुभवों के माध्यम से जीवन की समस्याओं से जूझता है, इसमें पाठक को सहभागी करता है, उसको झकझोरता है, बेचैन करता है, ऐहिक धरातल पर मनुष्य के विभिन्न रूपों से साक्षात्कृत करता है, यह आधुनिक साहित्य के चिन्तन के मूल में विद्यमान अवधारणा भारतीय साहित्य में विरल रूप में विद्यमान रही। अपनी चेतना की आवेगमय अभिव्यक्ति में पाठक को घेरने का लक्ष्य तो कभी नहीं रहा। फिर अपनी दुर्दान्त चेतना के आवेग में मानवीयता विहीन या अमानवीयता की सीमातक जाने की आधुनिक साहित्य के क्राइसिस की चरम अवस्था, भारतीय साहित्यकारों के लिए कल्पनातीत था। वैसे भारतीय साहित्यकार सामान्यतः एक भावुक व्यक्ति है। जन्म, विवाह, मृत्यु, सेक्स इत्यादि प्रसंगों में निर्वैयक्तिक होना भारतीय

लेखक के लिए असंभव था। मनुष्य और जीवन एक ही समय ध्वंस और उत्सव के रूप ग्रहण कर सकते हैं, हास्य और ट्रॅजिक स्थितियों का चित्रण एक साथ सार्थक ढंग से किया जा सकता है, यह भारतीय रसवादी परंपरा में दीक्षित लेखक के लिए कल्पनातीत बात है। क्योंकि चिरंतनता में आस्था रखनेवाले व्यक्ति के लिए, विश्व का विनाश भी हो सकता है, यह सोचना भी असंभव था। महाभारत में पांडव महाप्रस्थान में एक एक करके मर अवश्य जाते हैं, परंतु मरकर स्वर्ग के द्वार और अधिक अच्छा श्रेष्ठ जीवन, उनके लिए सुरक्षित था। इसीलिए महाभारत का शांत रस विश्रान्तवस्था में परिणत हुआ।

अब तक हमने देखा कि भारतीय संदर्भ में (दर्शन, सांस्कृतिक और सामाजिक स्थितियां और साहित्यिक परंपरा) आधुनिकता की जो लहर आयी, वह लगभग हमारी मानसिकता के विपरीत थी। उन्नीसवी सदी के अंत में लगभग सभी भाषाओं में जो लिखित-मुद्रित साहित्य पैदा हुआ वह मनोरंजन-परक था क्योंकि पश्चिमी साहित्य का वही साहित्य यहां पढ़ा गया, जो केवल मनोरंजन के लिए लिखा गया था - साहित्यिक समृद्ध परंपरा में जो नहीं गिना जाता था। बाद में गंभीर रूप में हमारे साहित्यकारों ने पश्चिमी आधुनिक साहित्य को स्वीकारा और लगभग सभी विधाओं पर उसका प्रभाव पड़ा। पहली बार नाटकों, उपन्यासों, कहानियों में समकालीन जीवन की समस्याओं का चित्रण होने लगा। साहित्य में नैतिक तत्त्व कुछ अध्यात्मिक मूल्यों तक सीमित न रहकर ऐहिक जीवन से संबद्ध नैतिक प्रश्न उठाये जाने लगे। यह प्रयास किया गया कि साहित्य जीवन के समानान्तर हो, जीवन का प्रतिबिंब हो। यथार्थवाद की मूल्य के रूप में प्रतिष्ठा होने लगी। रसात्मकता का निकष इस साहित्य के मूल्यांकन के लिए अपर्याप्त सिद्ध होने लगा। जीवन का विद्रूप साहित्य में पैर फैलाने लगा। मनुष्य का इकहरा रूप सरलीकरण लगने लगा, मनुष्य और मनुष्य के बीच के रिश्तों पर पुनर्विचार होने लगा और साँचे में ढले रिश्तों के संबंध नाकामी होने लगे। साहित्यकार मनुष्य के व्यामिश्र मन की खोज करने लगे और उन्हें उसकी अलग गहराइयों ने चमत्कृत कर दिया। नयी ऐहिक जीवन संबद्ध उदार मानवतावादी विचारधारा ने धार्मिक विषमता पर प्रश्न चिह्न लगाया और आर्थिक विषमता की अमानवीयता सामने आयी। नारी के प्रति दृष्टिकोण बदला। समता, स्वतंत्रता, बंधुत्व के मूल्यों को लगभग स्वीकार किया गया। स्त्री-पुरुष के बीच की अमानुष विषमता पर

तीखी नज़र गयी। और पुरुष अपनी ओर अपराध भाव से देखने लगा। नारी-पुरुष रिश्ता और नारी में उदित अस्मिता ने, साहित्य का स्वरूप ही बदल दिया। स्त्री-पुरुषों के बीच समानता के स्तर पर प्रेम और प्रणय (केवल शृंगार नहीं) की भावनाएं साहित्य में प्रतिबिंबित होने लगी और प्रणय के अनेक आदर्श रूप साहित्य में झलकने लगे। जीवन से संबद्ध अनेक प्रवृत्तियों ने - राष्ट्रीयता, समाज-सुधार, धर्म की आलोचना, रूढ़ियों की अमानवीयता, स्वातंत्र्य की आकांक्षा, उद्योगों और तकनीकी विकास के कारण उत्पन्न होनेवाली समस्याएं, समाज के विविध स्तरों में होने वाले परिवर्तन, बदलती आकांक्षाएं, दलित वर्ग का उत्थान - ये सारी बातें साहित्य में आने लगीं। यह साहित्य की कालबिद्धता का परिणाम था और उसके पार्श्व में पाश्चात्य विचारधारा का प्रभाव था। धीरे-धीरे आधुनिकता साहित्य में सिमटकर उपयुक्त विभिन्न प्रवृत्तियों की पश्चिमी छाया भी हमारे साहित्य पर पड़ी।

यह साफ कहना होगा कि पश्चिमी आधुनिक विचारों के जीवन विषयक सोच और जीवन मूल्यों के लिए जिस अनुपात में हमारा समाज, हमारी व्यवस्था, हमारा आर्थिक-सामाजिक ढाँचा बदला, उस अनुपात में हमारे लेखकों ने भी ग्रहण किया और कुछ अच्छी रचनाएं प्रस्तुत की। असल में आधुनिकता का समग्र बोध भारतीय मानस के लिए विलक्षण क्रांति या आमूल-चूल बदलाव का प्रेरक था और उसमें उखड़ जाना संभव था। हमारी मानसिकता के पूर्णतः विपरीत प्रवृत्ति के साथ संबंध होना एक बड़ी फिसलत थी। सौभाग्य से हिन्दी के लिए प्रेमचंद जैसा शक्तिशाली लेखक मिला और हिन्दी साहित्य ने जीवन से जुड़ाव का रास्ता नहीं छोड़ा (जैनेद्र, अज्ञेय भी इसके अपवाद नहीं हैं।) उसी अनुपात में आधुनिक दृष्टियों, मूल्यों, विचारसारणियों, जीवन प्रणालियों को स्वीकार किया, जिस अनुपात में भारतीय जीवन प्रत्यक्ष रूप से बदल रहा था। लेकिन जहां अतिवाद हुआ, पश्चिमी प्रयोग को सब कुछ मानकर अन्ध अनुकरण हुआ, वहां हमारा साहित्य भी मात खा गया। आधुनिकता का अतिरेकी रूप, जिसका प्रस्तुत लेख में विवेचन किया गया है। मन या चिति को स्वायत्त मानकर, शून्य में कल्पना के पंखों पर बैठकर उड़ान भरना और भाषा को अतिवाद की सीमा तक तोड़फोड़ की दिशा में ले जाना, अपनी अस्मिता की पहचान के आगे सब कुछ को ठुकराना, साहित्य में संप्रेषण, संवाद, तादात्म्यता की परवाह न करना, दुनिया का नरक, अंधेरा, विद्रूप

देखकर उसे ही सब कुछ समझना, निहिलिज्म (इ.) को सौभाग्य से क्षीण समर्थन मिला, बौद्धिकता के आवेश में ही वह रहा। सृजन के स्तर तक नहीं उतरा। क्योंकि भारतीय मानस की भी अपनी दृढ़ पृष्ठभूमि थी, आधार भित्ति थी और विरोधी हवा को सहने की क्षमता उनमें थी। भारतीय साहित्य में जो महान रचनाएं हुई हैं - और हुई हैं - वे आधुनिकता का स्वस्थ रूप और संस्कार ग्रहण कर हुई, उसके अतिरेकी रूप को टाल कर ही हुई हैं। और इस अतिरेकी रूप को टालने में और एक संतुलन को बनाये रखने में, भारतीय परंपरा का सजग भान भी एक महत्त्वपूर्ण कारण रहा। यह सही है हम कोई 'युलिसिस' जैसा प्रयोगधर्मी शक्तिशाली उपन्यास नहीं दे पाये, परंतु भारतीय परंपरा में रहकर सृजन कार्य करनेवाले भारतीय साहित्यकारों की उपलब्धियां भी नगण्य नहीं हैं। १९३० के बाद पश्चिम में एक छोर को नये आधुनिकता के प्रभाव ने पुनः समाज और लोकजीवन से नाता जोड़ा, चेतना की सीमाओं को पहचाना, बाह्य और आन्तरिकता के बीच के अन्तर को कम किया, दोनों को समन्विति में देखने की उपयुक्तता समझी, भाषा की तोड़फोड़ से अधिक, उसके साथ क्रीड़ा की वृत्ति को वरीयता मिली। यह भी अनुभव किया गया कि लेखक और पाठक के बीच समझौता या संवाद बेहद जरूरी है (इसमें मुद्रित साहित्य के अर्थशास्त्र ने भी अपनी अहमियत दिखायी होगी।) यह बात दूसरी है कि इस संवाद के लिए लेखक कितनी फिक्र करे, झुके और पाठक कितना अपने को प्रबुद्ध बनाये। यह भी सिद्ध हुआ कि आधुनिकता के एक छोर से नये रूप से कुछ रचनाएं लिखी भी जाती हैं तो कचरा भी कम नहीं पैदा होता। यह भी स्पष्ट है कि आधुनिकता एक मात्र कसौटी नहीं है (असल में वह कसौटी है ही नहीं, अनुभव को समझाने की, स्वरूप को जानने की एक अवधारणा है।) क्योंकि आधुनिकता के आविर्भाव के पहले भी श्रेष्ठ साहित्य लिखा जा चुका है और इसका प्रवाह क्षीण होने पर भी जो लिखा जा रहा है, उसमें अच्छी और श्रेष्ठ रचनाएं लिखी जा रही हैं। भारतीय परिवेश में आधुनिकता की उत्साह से चर्चा तो हुई, परंतु जो अच्छा साहित्य लिखा गया वह आधुनिकता की चकाचौंध से प्रभावित होकर नहीं लिखा गया। वैसे भारतीय अच्छी और श्रेष्ठ रचनाओं का अध्ययन किया जाय तो पता चलेगा कि केवल आधुनिक बनकर किसी रचनाकार ने अच्छी रचना नहीं की। (हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त, निराला, पंत, प्रसाद, दिनकर, अज्ञेय, धर्मवीर

भारती, जैनेंद्र कुमार, फणीश्वरनाथ रेणु, अमृतलाल नागर इ.) भारतीय लेखकों ने परंपरा से अपने को जोड़कर रखा। कुछ लेखकों ने अपने भटकाव को समझकर पुनः अपने को संतुलित किया। मराठी के शीर्षस्थ नये कवि मर्ढेकर और हिन्दी के शीर्षस्थ कवि अज्ञेय दोनों में आधुनिकता और भारतीय परंपरा का एक सुष्ठु समन्वय मिलता है। भारतीय लेखकों ने हमारे काव्यशास्त्र की सीमाएं समझकर आवश्यक ग्रहण और त्याग की स्वस्थ परंपरा को कभी नहीं छोड़ा।

डॉ. चंद्रकांत बांदिवडेकर

७, शाकुन्तल,
साहित्य सहवास,
कलानगर, बांद्रा,
मुंबई

वेदान्त के प्रमुख सम्प्रदायों में आत्मा का स्वरूप

अद्वैत वेदान्त में आत्मा का स्वरूप :

परब्रह्म चिदानन्द स्वरूप है। जो देहाभिमानी अहंप्रत्ययगम्य है वह प्रकृत आत्मा नहीं है, वह अविद्या कल्पित अर्थात् अविद्या में प्रतिबिम्बित चैतन्य है, जिसे जीव कहते हैं।[१] सर्वव्यापी परमात्मा शरीर-मन-बुद्धि के संघात में व्याप्त होकर उनसे स्वभावतः तादात्म्य कर लेता है। इससे बुद्धि में अहंकार की प्रतीति होती है और इस अवस्था में वह जीव कहलाता है। शंकराचार्य ने जीव की परिभाषा इस प्रकार से दी है ...

''जीवो बुद्ध्याद्युपाधिपरिच्छेदाभिमानी''

अर्थात् जीव बुद्धि आदि की उपाधियों से परिच्छिन्न होने का अभिमानी है। अद्वैत वेदान्त के अनुसार अहं प्रत्यय का आधार कोई स्वयं नित्य पदार्थ है जो तीनों अवस्थाओं का साक्षी होकर भी पंचकोशातीत है।

''अस्ति कश्चित् स्वयं नित्यमहं प्रत्ययलम्बनः।
अवस्थात्रयसाक्षी सन्पंचकोषविलक्षणः ॥[२]

आत्मा उपाधियों से परिच्छिन्न है। आत्मा की पारमार्थिक सत्ता है। वेदान्त दर्शन के अनुसार आत्मा के अस्तित्व का निराकरण नहीं किया जा सकता, जो निराकरण करनेवाला है, वह आत्मा ही है। अतः सभी आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान रखते हैं। कोई भी यह नहीं कहता कि 'मैं नहीं हूँ'।[३]

आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व को ही अद्वैत वेदान्त में परमतत्त्व माना गया है। आत्मा अजर, अमर, अमृत और अभय है। यह जड़ जगत् से नितान्त भिन्न चेतन तत्त्व है। इस चेतन का अचेतन से सम्बन्ध तो मात्र भ्रम या अध्यास है। जिस प्रकार हम भ्रम की अवस्था में रस्सी को साँप समझ लेते हैं, उसी प्रकार हम अध्यास के कारण मन, बुद्धि, अहंकार आदि को चेतन आत्मा समझ लेते हैं। जिस प्रकार हमारी सभी स्थूल व सूक्ष्म इन्द्रियाँ अनात्म हैं, उसी प्रकार सम्पूर्ण संसार ही अनात्म है। इस भौतिक संसार से अध्यात्मिक आत्म का कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा सर्वथा असांसारिक, अध्यात्मिक, विभु, व्यापक, अजन्मा, अविकारी, नित्य, ज्योतिस्वरूप, शाश्वत तत्त्व है। वह कर्म तथा कर्म बन्धनों से सर्वथा मुक्त है। यह जन्म तथा मृत्यु से परे है। अतः नित्य तथा निर्विकारी तत्त्व माना गया है। यह ज्ञान का विषय नहीं,

---

[१]परामर्श (हिंदी) खण्ड १८, अंक ४, सितंबर १९९७

बल्कि ज्ञान ही है। आत्मा स्वतः सिद्ध है। शंकराचार्य का कथन है कि आत्मा स्वयं सिद्ध है, अर्थात् आत्मा की सिद्धि के लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती। आत्मा के प्रकाश से ही सभी वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं। आत्मा को प्रकाशित करने की आवश्यकता नहीं। जिस प्रकार दीपक तो स्वयं प्रकाश है, जो स्वयं प्रकाश एवं प्रकाशवान् है, तो उसे प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। अद्वैत वेदान्त में आत्मा के इस स्वयं प्रकाश का एक विशेष अर्थ होता है। 'आत्मा स्वयं प्रकाश है' इसका यह अर्थ है कि आत्मा सभी प्रमाणों का आधार है। अर्थात् इसका यह तात्पर्य है कि आत्मा को माने बिना प्रमाणादि व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकते। अतः प्रमाण का व्यवहार करने से पूर्व हमें शुद्ध चेतन आत्मा को स्वीकार करना ही होगा। यह सर्वाधार चैतन्य है। शुद्ध चैतन्य होने से आत्मा प्रमाता है। प्रमाता को माने बिना प्रमाण के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। अतः प्रमाता की सत्ता तो प्रमाणव्यवहार की पूर्वमान्यता है। यदि प्रमाता का अस्तित्व प्रमाण से पूर्व है तो इसके लिये किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं। अतः इस दृष्टि से उपनिषद् में कहा गया है कि जिससे सब कुछ जाना जाता है, उसे किससे जाना जाये।

"येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्।"[४]

शंकराचार्य के अनुसार आत्मा की सत्ता स्वीकार किये बिना किसी प्रकार का अनुभव सम्भव नहीं हो सकता। अगर कोई व्यक्ति आत्मा का निषेध करे तो उसे पहले आत्मा की सत्ता स्वीकार करनी होगी। निषेध या निराकरण भी तो भाव का ही सम्भव होता है। अतः निराकरण से भी निराकर्त्ता (आत्मा) की सत्ता है।

"य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्"[५]

'मैं नहीं हूँ' यह कहने से भी मैं की सत्ता सिद्ध ही है। यदि मैं नहीं तो किसके अस्तित्व का निषेध होगा ? अतः आत्मा स्वयं सिद्ध, स्वयं प्रकाश, सर्वाधार है। श्रुतियों में आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिये आत्मा की चार अवस्थायें बतायी हैं ..

१. **जाग्रत अवस्था** - इसमें चेतना का विषय ब्राह्य होता है।

२. **स्वप्नावस्था** - इसमें चेतना का विषय आन्तरिक होता है।

३. **सुषुप्तावस्था** - इसमें चेतना का विषय आन्तरिक होता है। अतः यह आनन्द की अवस्था है।

४. **तुरीय अवस्था** - यह अवस्था शुद्ध चेतना की अवस्था है जिसमें कोई भी विषय नहीं होता। अतः इससे सिद्ध होता है कि सभी अवस्थाओं में चेतना है। अतः चैतन्य ही आत्मा का स्वरूप कहलाता है।

आत्मा और ब्रह्म में सम्बन्ध :

अद्वैतवाद में बताया है कि आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत् है। इससे यह तात्पर्य है कि आत्मा में क्षयादि दोष नहीं होते। शाश्वत् होने के कारण ही आत्मा को पुराण भी कहा गया है। अर्थात् प्राचीन होकर भी नवीन है। आत्मा अपरिवर्तनीय है, क्योंकि इसमें परिवर्तन का कोई स्थान नहीं है। यह शाश्वत् है, इसलिये यह सदा विद्यमान रहती है। इसका अन्यथा भाव सम्भव नहीं है।[६] संक्षेप में यह कहा गया है कि आत्मा देह नहीं देव है, जड़ नहीं चेतन है, दृष्य नहीं द्रष्टा है, परिच्छिन्न नहीं अपरिच्छिन्न है। शंकराचार्य कहते हैं कि परब्रह्म के विभु होने से तद्व्यपदेश आत्मा भी विभु है। तात्पर्य यह है कि आत्मा सर्वव्यापक है। अतः यह आत्मा ही ब्रह्म है, हमारा ऐसा विश्वास है कि हमारे अन्दर एक ऐसी सत्ता है जो सुख-दुःख, पाप-पुण्य, गुण-अगुण से परे है और वह आत्मा है। आत्मा न जन्म लेती है, न मरती है। आत्मा परमात्मा का ही अंश है। आत्मा, परमात्मा का काल्पनिक रूप नहीं है, अपितु वास्तविक रूप है। आत्मा ब्रह्म का ही सीमित व्यक्त रूप है। आत्मा ब्रह्म से निकली है, ब्रह्म से निकलने के रूप में उतनी नहीं है, जितनी कि उसके अंश रूप में है। आत्मा ब्रह्म के ही समान है, क्योंकि कारण और कार्य मूलतः एक ही हैं, जिस प्रकार कि 'मैं ब्रह्म हूँ' 'वह तू है' आदि वाक्यों से व्यक्त होता है।[७]

शंकराचार्य की दृष्टि से एकमात्र तत्त्व है। जो तत्त्व अन्दर है वही बाहर भी है। आत्मा नित्य चैतन्य है, जो संसार के व्यावहारिक जगत् का आधार है। आत्मा को ही निर्विशेष ब्रह्म समझो, वही निरतिशय भूमाख्य आत्मा है।[८] आत्मा ही परमात्मा है। आत्मा से परे कुछ भी नहीं है। वही सबका अन्त है, वही परम लक्ष्य है।[९]

उपनिषदों में इस प्रकार के अनेक स्थान हैं, जहाँ आत्मा व ब्रह्म के स्पष्टतः अभेद का प्रतिपादन किया गया है। 'अयामात्मा ब्रह्म' [१०]'अहं ब्रह्मस्मि'[११] 'तत्त्वर्मासि'[१२] 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'[१३] आदि समस्त स्थल आत्मा और ब्रह्म के अभेद का उद्घोष करते हैं। शंकराचार्य अपने अद्वैत

वेदान्त में आत्मा के परिणाम पर विचार करते हुए कहते हैं कि आत्मा अणु से भी अणुतार आदि सूक्ष्म पदार्थों से भी सूक्ष्मतर और महान् से भी महानतर अर्थात् पृथ्वी आदि महत्परिणाम वाले पदार्थों से भी महत्तर है।

विशिष्टाद्वैतवाद में आत्मा का स्वरूप :

रामानुजाचार्य के अनुसार चित्, अचित् और ईश्वर - ये तीन तत्त्व हैं। इसमें चित् का अर्थ है - चेतन जीव। या चित् तत्त्व ही जीवात्मा है। यह चिद्रूप जीव चेतना से मुक्त नित्य, अखण्ड, अव्यक्त, अविकार्य, ज्ञानाश्रय और स्वयं प्रकाश-अणुपरिणामी तथा यथार्थ रूप है। यह शरीर इन्द्रिय प्राण और मन से भिन्न है। यह सबका ज्ञाता कर्त्ता और भोक्ता है।[१४] रामानुजाचार्य के अनुसार आत्मा ही जीवात्मा है। अविद्या की उपाधि से संयुक्त आत्मा ही जीवात्मा है। वाचस्पति मिश्र का कहना है कि आत्मा और जीवात्मा में कोई अन्तर नहीं है। ऋग्वेद के अनुसार - मनुष्य के अन्दर एक अजन्मा नित्य अमरतत्त्व है जो शरीर, जीवन, मन और बुद्धि से भिन्न है। देह इन्द्रियाँ आदि आत्मा नहीं हैं, अपितु उसकी उपाधियाँ हैं, उसकी बाह्य अभिव्यक्तियाँ हैं।[१५]

आत्मा का ज्ञातृत्व :

रामानुजाचार्य के अनुसार आत्मा एक नित्य चेतन द्रव्य है। ज्ञान ही इसका स्वरूप है। इसी कारण इसको ज्ञाता कहते हैं। प्रश्न उठता है कि ज्ञान और आत्मा में क्या सम्बन्ध है। शंकराचार्य के अनुसार चैतन्य या ज्ञान ही गुण-गुणी, धर्म-धर्मी सम्बन्ध है। चैतन्य या ज्ञान आत्मा का गुण है, धर्म है, आत्मा ही ज्ञान का आश्रय है। रामानुज के अनुसार ज्ञान ही आत्मा का स्वभाग या स्वरूप है।[१६] ज्ञान के कारण ही जीव ज्ञाता, कर्त्ता और भोक्ता कहलाता है। बन्धन तथा मुक्ति दोनों ही अवस्थाओं में जीव का ज्ञातृत्व बना रहता है।

आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व :

जीवात्मा के ज्ञातृत्व के साथ आत्मा का कर्तृत्व और भोक्तृत्व भी स्वयं सिद्ध है, क्योंकि कर्तृत्व और भोक्तृत्व ज्ञान की अवस्था विशेष ही हैं। जीव स्वाभाविक रूप से कर्त्ता एवं भोक्ता है। रामानुज आत्मा को वास्तविक रूप में कर्त्ता और भोक्ता स्वीकार करते हैं।

आत्मा का अंशत्व :

अभिन्नता की दृष्टि से देखने पर जीव ब्रह्म का अंश है। जीव को ब्रह्म का अंश कहा गया है। अतः इसको स्पष्ट करते हुए रामानुज कहते हैं कि जिस

प्रकार देह-देही का अंश है, उसी प्रकार जीव का अंश है--

"यथादेहिनो देवमनुष्या दिदेहांशः तद्वत्" [१७]

आत्मा के प्रकार :

रामानुजाचार्य के अनुसार अवस्थाओं की भिन्नता के आधार पर आत्मा की तीन श्रेणियाँ बतायी गयी हैं [१८], १. नित्य, २. मुक्त तथा ३. बद्ध।

नित्य जीव :

ये कभी संसार में नहीं आते तथा इनका जो ज्ञान है वह कभी भी समाप्त नहीं होता। ये आत्माएँ सदैव बैकुण्ठ में निवास करती हैं। इन्हें भगवान् का परिकर कहा जाता है। विवेक सेन, गरुड आदि इनके उदाहरण हैं। ये जन्म, मृत्यु तथा कर्म के बन्धन से हमेशा मुक्त रहती हैं और आनन्द का उपभोग करती हैं। ऐसे जीवों के ज्ञान में संकोच का अवसर नहीं आता। [१९]

मुक्त जीव :

मुक्त जीव अर्थात् वे आत्मायें जो प्रकृति और कर्म के बन्धनों से अपने ज्ञान, कर्म, भक्ति के द्वारा मोक्ष को प्राप्त करते हैं। 'तत्त्वमसि' जो वाक्य है, इसके द्वारा जब जीव और ब्रह्म के ऐक्य का ज्ञान हो जाता है तथा ब्रह्म के साथ तादात्म्य हो जाता है तब जीव 'मैं ब्रह्म हूँ' का अनुभव करता है और तब वह मुक्त जीव कहलाता है।

बद्ध जीव :

ये सांसारिक जीव हैं, जो सभी प्रकार के शरीरों में निवास करते हैं। बद्ध जीवों के चार वर्ण हैं - देव, मानव, पशु तथा स्थावर। यद्यपि सभी जीवों में कोई तात्त्विक भेद नहीं होता, तथापि शरीर भेद से उनमें भेद दिखाई पड़ता है। कुछ विशिष्टाद्वैतवादी विद्वान् जीवों को एक भेद नित्य बद्ध भी मानते हैं। नित्य बद्ध वे जीव हैं जो सदा संसार चक्र में फँसे रहते हैं। [२०]

जीवात्मा तथा ब्रह्म में सम्बन्ध :

रामानुजाचार्य के अनुसार जीव और ईश्वर का स्वरूप तो चेतन ही है। दोनों का लक्षण चैतन्य है। लेकिन दोनों की चेतना या ज्ञान एक समान नहीं है। जीव अल्पज्ञ है तथा ईश्वर सर्वज्ञ है। अतः दोनों का स्वरूप-ज्ञान होते हुए भी अल्पज्ञ और सर्वज्ञ का भेद बना ही रहता है। जीव का जो ज्ञान है वह कभी ईश्वर के समान नहीं होता। जीव में अज्ञान है। वह माया के कारण सीमित होता है। अज्ञान से आवृत होने के कारण वह अल्पज्ञ है। ईश्वर

में अज्ञान की उपाधि नहीं रहती है, अतः वह सर्वज्ञ है। चेतना जीवात्मा और परमात्मा का समान लक्षण है। विशिष्टद्वैतवाद के अनुसार जीवात्मा पूर्ण रूप से ईश्वर पर आश्रित है। यह ईश्वर का शरीर है तथा आत्मा है। यह धार्य है तथा ईश्वर कर्त्ता है, यह नियाम्य है तथा ईश्वर नियन्ता है, यह शेष है तथा ईश्वर शेषी है। यह अंश है तथा ईश्वर अंशी है तथा पूर्ण है।

रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म की ही तरह नित्य है। जिस प्रकार से आग और हवा ब्रह्म की सृष्टि हैं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म की सृष्टि नहीं है। वे ब्रह्म से इस प्रकार उत्पन्न होते हैं जिस प्रकार आग से चिन्गारियाँ।

''द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोस्त्वेकः पिप्पलं खादति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥''[२१]

श्रीभाष्य में रामानुज ने जीव और परमात्मा में भेद की चर्चा की है। उपनिषदों के कुछ सूत्रों की व्याख्या करते हुए रामानुज कहते हैं कि शरीर रूप वृक्ष में दो पक्षी हैं, वे पक्षी शोमन पक्षों से युक्त हैं। उनमें एक पक्षी अपने कर्म से जन्य फल भोग रहा है, दूसरा पक्षी कर्म फल को भोगने वाला नहीं है, कर्म फल को भोगे बिना प्रकाशमान वेदान्ती लोग इन पक्षियों को इस प्रकार कहते हैं - जीवात्मा पक्षी शरीर पाकर शरीर द्वारा कर्म फल भोग रहा है, दूसरा परमात्मा पक्षी जीवात्मा रूपी पक्षी को उसके कर्मानुसार शरीर देकर उस शरीर द्वारा कर्म भोग कर उसे दे रहा है। दोनों पक्षी हृदय गुहा में बस रहे हैं। जीवात्मा रूपी पक्षी अज्ञ है, परमात्मा रूपी पक्षी सर्वज्ञ है, अतः स्वतन्त्र है। अतः जीव तथा ईश्वर में पूर्ण रूप से तादात्म्य नहीं है। रामानुज कहते हैं कि तादात्म्य का अर्थ ऐक्य नहीं है। यह असाधारण अपृथकता को सूचित करता है, उनका कहना है कि जीव चाहे जितना भी विकास कर ले ईश्वर उससे उच्च ही रहेगा। जीवात्मा ईश्वर का एक विशेषण मात्र है, वह कभी ईश्वर नहीं बन सकता।

जीवात्मा सर्वोपरी ब्रह्म के एक रूप द्वारा यथार्थ, अद्भुत, नित्य बुद्धि, सम्पन्न और आत्म चेतना से युक्त, अखण्ड, अपरिवर्तनशील, अदृश्य और आणविक है। वह ज्ञाता है, कर्त्ता है और भोक्ता भी है। अणु होते हुए भी आत्मा दीपक के प्रकाश की तरह सारे शरीर में चेतना बनाये रखती है।

''नानात्मनो व्यवस्थातः[२२]

रामानुज के अनुसार चेतना ही नहीं, आनन्द भी आत्मा का स्वाभाविक लक्षण है।[२३]

द्वैतवाद में आत्मा का स्वरूपः

आचार्य मध्व के अनुसार जीवों की उत्पत्ति ईश्वर से हुई है। जीवों का नाश नहीं होता। जीवात्मा ब्रह्म के प्रतिबिम्ब के सदृश्य है। अतः वे तब तक स्थिर रहते हैं, जब तक वे ब्रह्म स्थित हैं और इसलिये वे नित्य हैं। जिन उपाधियों के द्वारा ये प्रतिबिम्ब सम्भव होते हैं वे जीवों की उपाधियाँ दो प्रकार की होती हैं - १. बाह्य उपाधि तथा २. स्वरूप उपाधि। बाह्य उपाधि का नाश होता है, लेकिन स्वरूप उपाधि का नाश नहीं होता। इस प्रकार जीवात्मा की ब्रह्म के साथ एकता भी है तथा भिन्नता भी। जीव अपने अस्तित्व के लिये ईश्वर पर निर्भर है तथा स्वरूप में वह ईश्वर के समान है।

मध्वाचार्य द्वारा स्वीकृत स्वरूप नश्वर होता तब तो अनित्यता का प्रश्न उठ सकता था, लेकिन जब दोनों ही अविनश्वर हैं तब जीवात्मा की नित्यता के विषय में कोई सन्देह नहीं रहता।[२४] मध्वमत के अनुसार जीव कर्तृत्व, भोक्तृत्व दोनों मिथ्या नहीं हैं। जीवात्मा का ज्ञातृत्व भी इसी प्रकार ईश्वर के अनन्त ज्ञान से भिन्न तथा निश्चित है। ज्ञान का आश्रय होने के कारण जीवात्मा को, इस मत में अज्ञान का आश्रय माना गया है।[२५] जीव अत्यन्त सत्तावान है, इसकी नित्यता श्रुति-प्रतिपाद्य है--

''नित्यो नित्यानामिति जीवस्य नित्यत्वमुक्तम्।''[२६]

वह आनन्दात्मक है। मुक्त अवस्था में आनन्द-बाहुल्य के कारण ही वह ईश्वर के समान हो जाता है। द्वैतवाद में जीव की साकारता पर बहुत बल दिया गया है। आकार के बिना किसी वस्तु की कल्पना नहीं की जा सकती। जिस प्रकार अणु का आकार होता है, उसी प्रकार जीवात्मा का भी आकार होता है। अणु के आकार की स्थिति जिस प्रकार से अनादि है, उसी प्रकार जीवात्मा का आकार भी अनादि है। जीव के स्वरूप की साकारता तो है ही।[२७] आत्म प्रकाशी तत्त्व कोई न कोई आकार अवश्य लिये होता है, जैसे - दीपक की ज्योति। उसी प्रकार जीव की आत्म प्रकाशता के लिये आकार का होना अपरिहार्य है।

द्वैतवाद के अनुसार अनुभव का आधार जीवात्मा है। एक जीव का अनुभव दूसरे जीव के अनुभव से भिन्न होता है। मध्वाचार्य ने जीवों को तीन भागों में वर्गीकृत किया है-- १. मुक्ति योग्य, २. तमोयोग्य, ३. नित्य संसारी

मुक्ति योग्य पुनः पाँच प्रकार के हैं : 'देव' जैसे - ब्रह्मा, वायु आदि;

'ऋषि' जैसे - नारदादि; 'पितृ' जैसे - विश्वामित्र आदि; 'चक्रवर्ती' जैसे - रघु, अंबरीष आदि तथा 'मनुष्योत्तम'। इन जीवों में अनेक तारतम्य हैं।

तमोयोग्य पुनः दो प्रकार के हैं : 'चतुर्गुणोपासक' और 'एकगुणोपासक' जो सत्, चित्, आनन्द और आत्मारूप में ईश्वर की उपासना करते हैं वे तो 'चतुर्गुणोपासक हैं और जो केवल आत्मा को ही परम देव भगवान् समझ कर उपासना करते हैं वे 'एकगुणोपासक' हैं।

नित्य संसारी : ये जीवात्माएँ सदैव सुख-दुःख भोगती हैं। ये हमेशा स्वर्ग-नरक तथा पृथ्वी पर घूमते हैं।

मुक्त जीवात्मा में भी आनन्दानुभूति के तारतम्य हैं -

'मुक्तां प्राप्य परं विष्णुं तद्देहं संश्रिता अदि तारतम्येन तिष्ठन्ति गुणैरानन्दपूर्वकैः ॥'

आत्मा तथा ब्रह्म का सम्बन्ध :

मध्वाचार्य के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक-दूसरे के पर्याय हैं, जीव आदि के लिये आत्म शब्द का प्रयोग लाक्षणिक है, चेतन होने के आधार पर आत्मा और ब्रह्म में समानता है। जीव और ब्रह्म का सर्वथा द्वैत है। चैतन्य के आधार पर दोनों एक ही जाति के हैं। लय का अर्थ द्वैतनाश न होकर द्वैत प्रतीति का अभाव है - जैसे, जलराशि में जलबिन्दु का पार्थक्य नहीं होता। आत्मा ही स्वतन्त्र है, जबकि जीव परतन्त्र है तथा जीव कर्त्ता भी नहीं है। आत्मा के वशीभूत होकर वह अपने कर्तृत्व का आरोप कर लेता है।

१. न च भेदे विकल्पो युज्यते।

२. न चानिर्वचनीये किंचिन्मानम्।

३. न च कयापि युक्त्या मानेन वा भेद निराकरणं भवति।

भेद में विकल्प अयुक्त है, अनिर्वचनीय में कोई प्रमाण नहीं और किसी युक्ति या प्रमाण से भेद का निराकरण सम्भव नहीं। 'आत्मज्ञान का अर्थ आत्मविषयक ज्ञान' ही है। अतः आत्मा जीव के ज्ञान का विषय होता है। विषय हुये बिना आत्मज्ञान नहीं हो सकता। ज्ञान क्रिया का कर्म होने पर आत्मा का ज्ञान हो सकता है, आत्मा दृश्य न हो तो आत्मज्ञान सम्भव नहीं, जिसे तदाकार होना कहा जाता है वह एकत्व न होकर ज्ञान का विषय होना ही है।

द्वैतवाद के अनुसार जीव पूर्णतः ब्रह्माधीन ही निरूपित किया गया है।

आत्मा और ब्रह्म भिन्न होते हैं, वे सर्वथा विलक्षण हैं। इतना होने पर भी तथा सबका प्रेरक होने पर भी मन्द बुद्धि वाले जीवों को वह परमेश्वर सूक्ष्म वाला होने के कारण भेद रूप से प्रतीत होता है। वस्तुतः जीवात्मा और ब्रह्म इन दोनों की विलक्षणता को जानकर ही अर्थात् जीव, अल्पज्ञ और अल्प शक्तिमान है तथा ईश्वर, सर्वज्ञ तथा सर्वशक्तिमान है। इत्यादि रूप से अलग-अलग लक्षणों को जानकर ही जीव की मुक्ति होती है। ऋग्वेद में तो यही कहा है कि 'जीवात्मा' तथा 'ईश्वर' रूपी दो पक्षी हैं तथा दोनों ही मित्र हैं। इस शरीर रूपी वृक्ष के हृदय रूपी घोंसले में एक साथ मिलकर बैठे हैं। वह इस शरीर रूपी वृक्ष में सुख-दुःख रूपी फलों का सेवन न करता हुआ भी स्वतः सर्वथा प्रकाशवान बना रहता है। अतः आत्मा और ईश्वर में यही महान् भेद है।

शुद्धाद्वैतवाद में आत्मा का स्वरूप :

शुद्धाद्वैतवाद के अनुसार परब्रह्म ही अपने चित् अंश को लेकर जीवरूप में प्रकट होता है। जीव ब्रह्म के ही समान नित्य है। ज्ञाता, ज्ञानरूप तथा अनुरूप है। जीव के अनेक प्रकार हैं जो शुद्ध, मुक्त तथा संसारी हैं। वल्लभाचार्य कहते हैं कि जीवात्मा ब्रह्म की लीला है, जो कि ब्रह्म की एक से अनेक होने की इच्छा स्वरूप प्रकट होती है। श्रुति भी कहती है कि 'स एकाकी न रमते' अर्थात् उसे अकेले अच्छा नहीं लगा, अतः उसने सोचा 'एकोऽहम् बहुस्याम्' अर्थात् मैं एक हूँ अनेक हो जाऊँ तब 'तदात्मानम् स्वयम् कुरुत' अर्थात् उसने स्वयं को किया और इस प्रकार वह जीव रूप में अनेक हुआ।

शुद्धाद्वैत वेदान्त में आत्मा का स्वरूप किंचित् भिन्नता के साथ निरूपित हुआ है, जीवात्मा तुरीय है, जिसको शरीर, प्राण और इन्द्रियान्तःकरण का संघात उपलब्ध है और ये सब भगवान् की विभूतियाँ हैं।[२८] परम आत्मा आनन्दमय है जो अविकारी रहकर ही आनन्द प्रचुर रहता है, यह उसका स्वभाव है। प्राचुर्यमति प्राप्नोति (इत्यात्मा)[२९] अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ है, यही जीवात्मा और परमात्मा में अन्तर है। पुरुषोत्तम स्वामी ने 'आत्मन्' शब्द की व्युत्पत्ति दी है ---

''देहेन्द्रियादिकं सर्वं पयर्थमतति व्याप्नोति अधिष्ठिष्ठीति इत्यामा''

अर्थात् देहादि का अधिष्ठाता आत्मा है। इस आत्मा के तीन लक्षण हैं- १. अनादि, निर्गुण तथा प्रकृति-नियामक होते हुये 'अहं' प्रत्यय से ज्ञेय होता है; २. स्वयं प्रकाशत्व उसका स्वरूप लक्षण तथा ३. विश्वगत गुण-दोष से

असम्बद्ध होकर भी संसर्ग रखता है (यह मुक्ति के उपर्युक्त है)। आत्मा अक्रिय है, परन्तु क्रियाभिमानवश वह कर्त्ता और कर्म बनता है।[३०] जीवात्मा विश्व सम्बन्धों में संसारी होता है, परन्तु भगवान् प्रभु हैं और मैं उनका दास हूँ, यह ममताहंता शुद्ध ज्ञान है।[३१]

अतः वल्लभाचार्य के दर्शन में जीव को अणुरूप में प्रस्तुत किया है और इसीलिये वल्लभ ने अपने ब्रह्मसूत्र का नाम भी अणुभाष्य रखा है। शुद्धाद्वैत वेदान्त में जीवात्मा की तीन अवस्थाओं को बतलाया गया है।

१. शुद्ध जीव, २. संसारी जीव, ३. मुक्त जीव[३२]

१. शुद्ध जीव : शुद्ध जीव निर्गमन के पूर्व की अवस्था है। इससे आनन्दांश का तिरोधान नहीं हुआ है। वस्तुतः यह ब्रह्म की अवस्था है। यहाँ आनन्दात्मक ऐश्वर्य आदि गुण बने रहते हैं। शुद्ध जीवों को संसारी जीवों की तरह दुःख नहीं भोगने पड़ते।

२. संसारी जीव : संसारी जीव वे होते हैं जो अविद्या के जाल में जकड़े होने के कारण जन्म और मरण का अनुभव करते हैं, क्योंकि वे स्थूल और सूक्ष्म शरीर धारण किये होते हैं। आनन्द के अंश का तिरोधान होने के कारण इनमें अविद्या का समावेश हो जाता है। उस समय 'मैं' और 'मेरे' की मिथ्या कल्पना करता हुआ जीव सांसारिक मोह माया में फँसकर अपने को दीन-हीन एवं पराधीन मानकर, अनेक दुःख भी उठाता है।

३. मुक्त जीव : जो संसारी जीवात्मायें हैं, उन पर जब भगवान् की कृपा होती है, तब वह भगवान् की शरण में जाता है और भगवद्कृपा से पुनः आनन्द प्राप्त करता है। अविद्या का बन्धन हर जाता है।

आत्मा और ब्रह्म में सम्बन्ध :

आत्मा शब्द यहाँ ब्रह्मवादी है। वस्तुतः जीव के लिये जो आत्मा शब्द का प्रयोग होता है वह ब्रह्म सम्बन्ध से ही होता है। अर्थात् जीव ब्रह्म का अंश है, इस सम्बन्ध से ही जीव को आत्मा कहा जाता है। 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्यों से जो जीव का ब्रह्मत्व ज्ञात होता है उसमें अधिकार में ही शास्त्र प्रवृत्ति होती है - इस नियम के अनुसार अपने में ही ब्रह्मावगति दिखलाई गई है।

वल्लभाचार्य के अनुसार जीव या आत्मा भगवान् की ही एक अवस्था है। सांसारिक दशा में भी जीव ब्रह्म ही है, इसलिये जीवोपक्रम औपचारिक

मात्र है। ज्ञान की दशा ही मोक्ष है एवं उसके बाद कोई भी कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। जीवोपक्रम भगवान् की ही अवस्था विशेष है जो जीव नाम से कही गई है।[३३]

शुद्धाद्वैतवाद में कहा गया है कि आत्मा और ब्रह्म का सम्बन्ध अंश और अंशी का है। मुण्डक उपनिषद् में कहा गया है कि --

यथा सुदिप्तात् पावकादि विस्फुलिंगाः,
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधा सौम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ॥[३४]

अर्थात् जिस प्रकार अत्यधिक तेज अग्नि से उसी के रूप वाली अनेकों चिन्गारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार उस अक्षर ब्रह्म से अनेकों भाव प्रकट होते हैं और उसी में लीन हो जाते हैं। जड़, जीव और अन्तर्यामी का ब्रह्म से क्रमशः निस्सरण होता है, जिस प्रकार अग्नि से चिन्गारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार जीवात्मा का ब्रह्म से उद्गम मान्य है।[३५]

द्वैताद्वैतवाद में आत्मा का स्वरूप :

द्वैताद्वैतवाद के अनुसार जीव-जगत् ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। ब्रह्म सर्व शक्तिमान है तथा ब्रह्म ही अपने को जीव-जगत् के रूप में अपने को प्रकाशित करता है। लेकिन इसके बाद भी जीव-जगत् के मध्य में ब्रह्म सीमित नहीं होता। निम्बार्क दर्शन के अनुसार - 'देहेन्द्रिय मनोबुद्धि प्राणादि जड वर्ग-भिन्न, ज्ञान स्वरूप ज्ञातृत्वादि-धर्मों का आश्रय जीव है।'[३६]

निम्बार्काचार्य ने चित्-अचित् तथा ईश्वर तीन पदार्थ माने हैं। चित् जीवात्मा है, यह ज्ञान स्वरूप तथा ज्ञानाश्रय है जैसे सूर्य प्रकाश स्वरूप है और प्रकाश का आश्रय है। वह ज्ञाता है, वह अणु परिमाण है। वह संख्या में अनन्त है। जीवात्मा का ज्ञातृत्व नित्य ही है, वैसे ही उसका कर्तृत्व नित्य है। जीव दो प्रकार के हैं - बद्ध और मुक्त। बद्ध जीव दो प्रकार के हैं -बुमुक्षु और मुमुक्षु। बुमुक्षु विषय - भोग के इच्छुक हैं। मुमुक्षु मुक्ति के इच्छुक हैं। मुमुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं - भगवद् भावापन्न तथा निज-स्वरूपापन्न। बुमुक्षु जीव भी दो प्रकार के होते हैं - भाविश्रयस्क और नित्य संसारी।

भाविश्रयस्क वे हैं जो भविष्य में आनन्द पाते हैं और नित्य संसारी वे

हैं जो नित्य सुख-दुःख भोगते हैं।

निम्बार्काचार्य के अनुसार आत्मा सर्वोपरी है, उसे सभी प्रकार के दोषों से रहित माना है। वह सभी प्रकार के औदार्य गुणों का आधार है तथा दिव्य शरीर ग्रहण किये हुये हैं, सौन्दर्य तथा कोमलता और माधुर्य से तथा कान्ति से पूर्ण है।[३७] जीवात्मा द्रष्टा, भोक्ता और श्रोता सभी है। यह अपने ज्ञान, कर्म, मोक्ष तथा बन्धन सबके निमित्त 'ईश्वर' पर निर्भर है।

आत्मा तथा ब्रह्म का सम्बन्ध :

मनुष्य के अनुभवों की सत्ता तथा उनका क्रम भगवान् द्वारा नियमित है, उसी के अन्तर्गत है। जीव इस प्रकार एक दृष्टि से ब्रह्म से भिन्न है तथा दूसरी दृष्टि से उसके अंश मात्र हैं। निम्बार्क प्रणाली को एक प्रकार का भेदाभेद वाद या द्वैताद्वैतवाद माना गया है। किन्तु यहाँ बल केवल एकत्व पर ही नहीं दिया गया है, बल्कि भिन्नता या भेद पर भी दिया गया है। जैसे कि अंश पूर्ण से भिन्न नहीं हो सकता, उसी प्रकार जीव भी कभी ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता। किन्तु बन्धन की अवस्था में जीव ईश्वर से इस एकता को भूल सकते हैं और स्वयं को कर्म और अनुभव में स्वतन्त्र लगते हैं। जब प्रेम से त्याग उत्पन्न होता है तब जीव जो स्वयं ब्रह्म से पूर्णतया नियंत्रित और नियमित है तथा वह उसका अंश है, ऐसा अनुभव करता है, जीव की जब मुक्त अवस्था होती है, तो वह अपने को भगवान् से एकरूप अनुभव करता है। और वह उसकी शक्ति अंशरूप में वास करती है।[३८] अंश होने के कारण वह ब्रह्म से भिन्न अभिन्न दोनों है। इस प्रकार भेदाभेदवादी जीवात्मा एवं ब्रह्म में भेदाभेद सम्बन्ध मानते हैं।

द्वैताद्वैतवाद के अनुसार परमात्मा आनन्दमय है तथा जीव आनन्द हेतु है। परमात्मा भूमा है। अमृत और निरतिशय सुखरूप है तथा अपनी महिमा में प्रतिष्ठित रहता है। अतः परम ज्ञेय तत्त्व है - भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य। परमात्मा निर्लेप है, भोक्ता नहीं,किन्तु जीवात्मा भोक्ता है।

निम्बार्क कहते हैं कि ये सभी जीवात्माएँ अंशी परमात्मा के अंश हैं, ये अंश परमात्मा से भिन्न हैं। जीव और ब्रह्म का अभेद भी कहा गया है। इसलिये भेदाभेद रूप से अंशत्व का ही प्रतिपादन किया गया है। अर्थात् दोनों में अत्यन्त भिन्नता अभिन्नता नहीं है।[३९]

अतः वेदान्त दर्शक के अनुसार मनुष्य का सच्चा लक्ष्य उस आत्मा को

जानना है जिसका न आदि, न अन्त है और जो आत्मा है जिसे हम नहीं जानते। उसी प्रकार मनुष्य का सच्चा लक्ष्य परमात्मा को जानना या परमात्मा को प्राप्त करना है।

बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा है कि --

''पूर्णमिदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते॥''

अर्थात् आत्मा पूर्ण है और ब्रह्म भी पूर्ण है, ब्रह्म की पूर्णता से आत्मा की पूर्णता निकालने पर जो कुछ बचता है वह पूर्ण है। इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि आत्मा ब्रह्म में कोई भेद नहीं है।

शंकर का मत है कि चैतन्य स्वयं प्रकाश है, वह कदापि अन्य चैतन्य का विषय नहीं बनता, किसी अन्य ज्ञान से उसका ग्रहण नहीं होता। जिस प्रकार ज्योति को प्रकट करने के लिये ज्योति की आवश्यकता नहीं होती। रामानुज इस मत का खण्डन करते हैं, जब आत्मा किसी वस्तु को प्रकाशित करती है तब उसका चैतन्य स्वयं प्रकाश कहलाता है। लेकिन आत्मा स्वयं अपने पिछले चैतन्य को विषय बनाकर तथा दूसरे चैतन्य को भी विषय बनाकर ग्रहण करता है। रामानुज की जीवात्मा एक शाश्वत् रूप में रहने वाली सत्ता है और वह नित्य है, किन्तु शंकर का मत है कि शाश्वत रूप में रहने वाली सत्ता केवल आत्मा ही है।

अद्वैत सिद्धान्त के समर्थक 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' 'सर्वंखल्विदं ब्रह्म' आदि वाक्य आचार्य मध्व की अद्भुत कल्पना के अनुसार द्वैत सिद्धान्त के ही समर्थक हैं। 'मध्व' तत्त्वमसि से 'जीव एव ब्रह्म' के ऐक्य को स्वीकार न करके यह अर्थ लगाते हैं कि जीवात्मा एवं परमात्मा की मूलभूत विशेषताओं में साम्य है। मध्व ने 'अयमात्मा ब्रह्म' के अर्थ में कहा है कि यह जीवात्मा वर्धनशील है कि जो व्याप्त है वह ब्रह्म है। 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म' एवं 'सर्व खल्विदं ब्रह्म' वाक्य भी मध्व की दृष्टि में क्रमशः ब्रह्म की अद्वितीयता एवं व्यापकता के द्योतक हैं, न कि जगत् और ब्रह्म के अभेद के द्योतक।

वल्लभदर्शन का जीव सम्बन्धी मत सबसे अधिक शंकर के मत से विरोध रखता है। शंकर की तरह वल्लभ यह नहीं मानते कि जीव ब्रह्म ही है, क्योंकि यहाँ जीव केवल अंशी ब्रह्म का अंश मात्र है। जीव और ब्रह्म में यह

अन्तर है कि जीव की शक्ति अपनी सत्ता के अनुसार सीमित है, जबकि ब्रह्म की शक्तियाँ असीम और अनन्त हैं।

निम्बार्क के अनुसार 'तत्त्वमसि' द्वारा जीव ब्रह्म में एकान्त अभेद की सिद्धि नहीं होती, किन्तु जीव ब्रह्माधीन एवं ब्रह्म आश्रित है। इस अर्थ में जीव ब्रह्माभिन्न कहा गया है, न कि एकत्व सिद्धि के लिये। संसार में अविद्या से ग्रसित अनेक जीवात्मायें हैं। यह शंकर एवं निम्बार्क दोनों को ही मान्य हैं। शंकर के अनुसार अविद्या से जीव का स्वरूप आवृत होता है। निम्बार्क के अनुसार गुण आवृत होता है।

ए- १६, न्यू कॉलोनी, **डॉ. कु. कविता शुक्ला**
छतरपुर (म. प्र.)
पिन - ४७१००१

टिप्पणियाँ

१. **सिद्धान्त लेश संग्रह**, पृ. ८२
२. **विवेक चूड़ामणि**, शंकराचार्य - १२७.
३. **माण्डूक्य कारिका शांकरभाष्य** - ४.६०.६२
४. **बृहदारण्यकोपनिषद्**
५. **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य** - २/३/७.
६. **क. उप. भा.** - २/१८.
७. **श्रीमद् भगवद्गीता** - डॉ. राधाकृष्णन् में वर्णित के आधार पर, पृ. ४९.
८. **केन. शांकरभाष्य** - २.४
९. **ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य** (चतुःसूत्री) श्री रमाकान्त त्रिपाठी, पृ. ७२.
१०. **बृहदारण्यकोपनिषद्** - २/५/१९.
११. **वही** - १/४/१०
१२. **छान्दोग्योपनिषद्** - ६/८/८ -१६.
१३. **मुण्डक.** - ३/२/९.
१४. डॉ. राधाकृष्णन् : **भारतीय दर्शन**, पृ. ६९२.
१५. डॉ. राधाकृष्णन् : **उपनिषद् की भूमिका**, पृ. ७४.

१६. ज्ञातृत्वमेव जीवात्मा स्वरूपम् - **श्रीभाष्य** - २/३/३.
१७. **श्रीभाष्य** - २/३/४५.
१८. **तत्त्वत्रय**, पृ. ४८; **यतीन्द्रमतदीपिका**, पृ. १०७.
१९. **तत्त्वमुक्ता कलाप** - २/२७-२८.
२०. **तत्त्वमुक्ता कलाप** - २/२७-२८.
२१. **मु. उप.** - ३/३/१.
२२. **श्रीभाष्य** - १/१/१/.
२३. **रा. भा. गीता** - २-५९ (आत्मस्वरूप विषयेभ्य पर सुखतर)
२४. **तत्त्वप्रकाशिक**, पृ. ११९.
२५. डॉ. के. नारायण : **एन आउट लाइन ऑफ मध्व फिलासफी**, पृ. १४६.
२६. **ब्रह्मसूत्र मध्वभाष्य**, पृ. ८३
२७. **वादिराजतीर्थ**, पृ. २६.
२८. **अणुभाष्य** - १/१/१.
२९. **वही**. - १/१/१२.
३०. **सुबोधिनी** - १०/४/२२.
३१. **वादावलि**, पृ. २५.
३२. डॉ. लक्ष्मी शंकर निगम, श्रीमती शोभा निगम : **श्रीमद् वल्लभाचार्य उनका शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग**, पृ. ४३.
३३. श्री. वल्लभ-**वेदान्त (अणुभाष्य) से जगद्गुरु श्री. वल्लभाचार्य**, पृ. २३२.
३४. **मुण्डक उपनिषद्** २.१.१.
३५. **शुद्धाद्वैत मार्तण्ड** - ९
३६. **परपक्ष गिरीवज्र**, पृ. ७५५, कलकत्ता संस्करण।
३७. **दशश्लोकी** - ४.
३८. **परपक्ष गिरिवज्र** पृ. ५९
३९. **श्री. मध्व : ब्रह्मसूत्र** - २/३/४२.

श्रद्धाञ्जलि

परामर्श (हिन्दी) के परिवार से जुडे और दार्शनिक चिंतन की गतिविधियों में प्रतिष्ठाप्राप्त चिन्तनशील व्यक्तिमत्व के प्राध्यापक डॉ. आर. सुंदरराजन के अनपेक्षित एवं अकाल निधन से पत्रिका का परिवार शोक-संतप्त अवस्था में उन की स्मृति में अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

परामर्श (हिन्दी) के परिवार से जुडे एक और मनीषी, अमलनेर निवासी, दर्शन के प्राध्यापक एवं दार्शनिक-चिंतन व्यापार में अपनी विशेषता से ज्ञात डॉ. भा. ज. कविमंडन के अकाल तथा अनपेक्षित निधन से शोकाकुल हुआ पत्रिका का परिवार उन की स्मृति में अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

– प्रधान संपादक

मीमांसा का नैतिक तथा सामाजिक अवदान

मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास-हेतु प्रतिपादित वे नियम जिनसे सम्पूर्ण समाज सुव्यवस्था, शान्ति तथा विकास को प्राप्त कर सके, उन नियमों तथा सिद्धान्तों को ही सामाजिक दर्शन के सिद्धान्त कहा जा सकता है। उन व्यक्तिपरक सिद्धान्तों को जिनसे सारा समाज तथा राष्ट्र प्रभावित हो, उन्हें नैतिक सिद्धान्तों की अभिधा से भी मण्डित किया जा सकता है। इन समाज, राष्ट्र तथा समष्टि को प्रभावित करने वाले नियमों के अनुरूप आचरण का नाम ही नीति है। मानव के आदर्शभूत व्यवहार का अनुसन्धान ही नीतिशास्त्र का प्रयोजन है।[१] मानव जीवन में सदाचार, करूणा, परोपकार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, पवित्रता आदि के व्यवहार को जीवन का आदर्श माना गया है। मानव तथा सम्पूर्ण मानव समाज की स्थिति का अवलम्बन होने से इन्हें धर्म शब्द से भी अभिहित किया गया है।[२]

भारतीय दर्शन की आस्तिक तथा नास्तिक उभयविध विचारधाराओं में नास्तिकों में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शन के अनेक सिद्धान्त नैतिक आदर्शों पर आधारित आचरण की ओर व्यक्ति तथा समाज को प्रेरित करते रहे हैं। इसी प्रकार सांख्य एवं योग की अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदि के आचरण की शिक्षा विशुद्ध नैतिक आदर्शवाद पर टिकी हुई है।[३] ब्रह्मसूत्रों पर अपने शाङ्करभाष्य में भगवत्पाद जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने 'वेद आचारहीन को पवित्र नहीं करते'[४] इस उक्ति को उद्धृत कर नैतिक आदर्शों के अवलम्बन को धर्म की नींव के रूप में स्थापित कर दिया है।

मीमांसा का नैतिक अवदान-

महर्षि जैमिनि द्वारा प्रवर्तित मीमांसा शास्त्र वैदिक वाक्यों के विश्लेषण से न केवल कर्मकाण्ड की गुत्थियों को सुलझाकर उनकी सङ्गति प्रदान करता है, अपितु अपने द्वारा प्रवर्तित न्यायों तथा तर्कों के आधार पर व्यक्ति तथा समाज से सम्बद्ध नैतिक प्रश्नों के समाधान की दिशा भी प्रदर्शित करता है।

भाष्यकार शबरस्वामी ने यद्यपि यज्ञीय कर्मकाण्ड के आचरण को ही धर्म माना है, तथापि तड़ागादि के निर्माणादि कार्य, जिनसे व्यक्ति तथा समाज का हित होता हो, उनकी भी समीचीनता स्वीकार की है।[५]

यज्ञ का नैतिक पक्ष -

यद्यपि मीमांसा का प्रधान लक्ष्य यागरूप धर्म का प्रतिपादन है [६] तथापि इस यज्ञानुष्ठान के लक्ष्य को व्यक्तिगत नैतिकता से पृथक् नहीं रखा गया है, अपितु नैतिक शुद्धता इस धर्मानुष्ठान का अनिवार्य अङ्ग है। मीमांसा के इस प्रधान प्रतिपाद्य 'याग' का अर्थ है त्याग। 'देवता के उद्देश्य से हवि के त्याग को ही याग कहा गया है।[७] जीवन में कर्तव्य भावना से बिना किसी फलाकाङ्क्षा के त्याग को प्रतिष्ठित करना ही भर्तृमित्रादि प्राचीन मीमांसकों ने याग का उद्देश्य प्रतिपादित किया है।[८] भगवद्गीता में इसे ही सात्त्विक याग की मान्यता प्रदान की गई है।[९] कहीं कहीं 'अग्निषामीयं पशुमालभेत' [१०] जैसे वाक्यों द्वारा विहित हिंसा से सामान्य अहिंसा के नैतिक सिद्धान्त की उपेक्षा प्रतीत होती है, परन्तु ऐसे नियमों को केवल अपवाद के रूप में स्वीकार किया गया है। जैमिनि सूत्र के अनुसार मांस का पाक निषिद्ध है।[११] महाभारत में यहाँ तक कहा गया है कि - 'सुरा, मद्य, मछली, पशुओं का मांस तथा यज्ञ में द्विजाति आदि मनुष्यों का बलिदान धूर्तों द्वारा प्रवर्तित हुआ है। वेदों में मांस का विधान नहीं है।[१२] वास्तविकता कुछ भी हो, इसमें कोई सन्देह नहीं कि सर्व सामान्य अवस्था में मीमांसा 'मा हिंस्यात् सर्वाभूतानि' [१३] इस वाक्य के आधार पर अहिंसा के नैतिक नियम का ही समर्थन करती है।

अहिंसा के प्रतिपादनार्थ धर्मलक्षण में अर्थशब्द का संयोजन -

मीमांसा की दृष्टि में अविहित हिंसा अनर्थ का ही साधन है। इसी दृष्टिकोण को आचार्य जैमिनि ने अपने धर्मलक्षण के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। जैमिनि के अनुसार विधि द्वारा विहित जो (कर्म) अर्थरूप हों, उन्हें धर्म माना गया है।[१४] इसलिए शत्रुमारणरूपी हिंसा के माध्यम से अनर्थभूत 'श्येन याग' [१५] विधिविहित होने पर भी धर्म की परिधि में समाविष्ट नहीं हो पाया है।

द्रव्यार्जन के नियम द्वारा नैतिक जीवन का प्रतिपादन -

धर्मशास्त्र द्वारा ब्राह्मणादि वर्णों के लिए द्रव्यार्जन के नियम सुनिश्चित किये गये हैं। ब्राह्मण के लिए अध्यापन, याजन तथा प्रतिग्रह, ये तीन अर्थार्जन के साधन बतलाये गये हैं।[१६]

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि द्रव्यार्जन हेतु प्रतिपादित इन नियमों का समन्वय यज्ञ में माना जाय या व्यक्ति में ? द्रव्यार्जन के इन नियमों को क्रत्वर्थ

मानने पर अर्थात् इनका समन्वय यज्ञ के साथ करने पर धर्म तथा नीति-पूर्वक अर्जित धन से धर्माचरण करने तथा उत्कोच, तस्करी आदि अनैतिक साधनों से अर्जित धन से सुख-सुविधामय जीवनयापन करने लगने पर भी ऐसे व्यक्ति में धर्म की स्थिति अबाधित माननी होगी, परन्तु मीमांसा इसे अनैतिक आचरण मानती है, अतः इसके निराकरणार्थ द्रव्यार्जन के नियमों को क्रत्वर्थ के स्थान पर पुरुषार्थ मानती है तथा धर्माभिलाषी के लिए सम्पूर्ण जीवन में नैतिक आचरण की अनिवार्यता का प्रतिपादन करती है।

इस सन्दर्भ में मीमांसा-सम्मत निर्णय यह है कि द्रव्यार्जन का समन्वय याग से करने पर समस्त द्रव्य याग के लिए ही होगा, फलतः व्यक्ति के साथ उसका समन्वय नहीं हो सकेगा तथा ऐसी स्थिति में द्रव्याभाव में यजमान का जब जीवन ही नहीं रहेगा, तब यज्ञ भी कैसे हो सकेंगे ? इन्हें पुरुषार्थ मानने पर जैसे द्रव्य से सांसारिक सुख सिद्ध होते हैं, वैसे ही यज्ञ के माध्यम से पारलौकिक सुखों की सिद्धि मानने में भी कोई अनौचित्य नहीं होगा। इसके अतिरिक्त क्रतु भी पुरुष के लिए होने से एक पुरुषार्थ है, अतः द्रव्यार्जन के नियमों को पुरुषार्थ मानने पर भी इनका क्रतु के साथ एक परम्परा-सम्बन्ध बन ही जाएगा [१७], अतः इन नियमों को पुरुष के साथ समन्वित मानकर मीमांसा ने जीवन में कदाचरण रहित नैतिक आचरण का प्रतिपादन किया है।

जीवन में नैतिकता की स्थापना हेतु सदाचार का प्रामाण्य -

जीवन में नैतिक आदर्शों की स्थापना हेतु महर्षि जैमिनि ने 'अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीरयेत्'[१८] इस सूत्र द्वारा धर्मज्ञान में आचार या सदाचार का प्रामाण्य प्रतिपादित किया है। स्मृतिकार मनु ने भी वेद, स्मृति, शील, आचार तथा शिष्टजनों की आत्मतुष्टि को धर्म-ज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण साधन निरूपित किया है।[१९] मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने नैतिकेता को ही मनु द्वारा प्रतिपादित 'शील' शब्द के अर्थ के रूप में 'शीलं ब्रह्मण्यतादिकम्' कहकर प्रकाशित किया है।[२०]

सूत्र तथा भाष्यार्थ को अनेक युक्तियों द्वारा स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करने वाले मीमांसा दर्शन के आधार स्तम्भ आचार्य कुमारिल भट्ट ने जीवन में नैतिक आदर्शों के महत्त्व को प्रकाशित करने के उद्देश्य से अपने 'तन्त्रवार्त्तिक के प्रथम अध्याय के तृतीय पाद में 'स्मृत्याचार प्रामाण्याधिकरण' की रचना की है।

शिष्ट, सज्जनों के आचरण का ही नाम सदाचार होने के कारण शिष्ट के रूप में प्रसिद्ध विशिष्ट व्यक्ति प्रजापति, इन्द्रादि के आचरण पर परस्त्रीगमनादि के आरोप लगाकार शिष्टव्यवहार की नैतिकता पर जब पूर्व पक्ष ने प्रश्नचिन्ह लगा दिया तब 'यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरो जनः' इस न्याय से जन-सामान्य में अनैतिक आचरण की प्रवृत्ति को रोकने तथा नैतिक सदाचार का दृढ़तापूर्वक समर्थन करने के उद्देश्य से ही भट्टपाद ने उक्त सन्दर्भों की प्रकारान्तर से व्याख्या प्रस्तुत की है। यथा -

'प्रजापति अपनी पुत्री पर ही आसक्त हो गये थे'। इस प्रसङ्ग का व्याख्यान करते हुए आचार्य कहते हैं कि 'प्रजा का पालन करने के कारण प्रजापति है सूर्य, यह सूर्य प्रातः उषा को लाता है, अतः उषा को इसकी पुत्री कहा गया है। उषा के पश्चात् आने वाले सूर्य की किरणें उषा पर पड़ती है[२१] इसी तथ्य को स्त्री-पुरुष के प्रेम के प्रतीक से समझाया गया है।

इन्द्र को जो अहल्या का जार कहा जाता है उसका अर्थ भी यही है कि 'परम ऐश्वर्यबोधक' 'इदि' धातु से (इदि परमेश्वर्ये) निष्पन्न 'इन्द्र' शब्द का अर्थ भी सूर्य है। 'अहनि लीयते इति' इस व्युत्पत्ति से अहल्या शब्द का अर्थ है - 'रात्रि'। 'जरति इति जारः' इस व्युत्पत्ति से जार शब्द का अर्थ है 'विनाशक', अतः सूर्य रात्रि का विनाशक है, यही अहल्या जार शब्द का अर्थ है।[२२]

इस प्रकार शिष्टाचरणों पर प्राप्त अनुपपत्तियों के निवारणार्थ की गई अनेक युक्ति-कल्पनाएँ जीवन में सदाचार तथा नैतिकता के महत्त्व के सम्बन्ध में कुमारिल भट्ट की भावना को पूर्ण रूप से अभिव्यक्त कर देती हैं।

मीमांसा का सामाजिक अवदान -

व्यक्ति के पारलौकिक सुख के साधनभूत 'यज्ञ' के कर्मकाण्ड की विवेचना के साथ ही मीमांसा ने अपने न्यायों के माध्यम से समाज के साथ सम्बद्ध अनेक नैतिक प्रश्नों के समाधान की दिशा प्रदर्शित कर सामाजिक धरातल पर भी अपनी विशिष्ट उपयोगिता सिद्ध कर दी है। सामाजिक दृष्टिकोण से विचार करने पर विशेषतः समाज के कमजोर वर्ग के प्रति मीमांसा का दृष्टिकोण अत्यन्त उदारता से परिपूर्ण परिलक्षित होता है। महिलाओं तथा चतुर्थ वर्ण में समाविष्ट शूद्रों से सम्बद्ध प्रकरणों में मीमांसा के न्याय धर्मशास्त्र की तुलना में अत्यन्त उदारता तथा सहृदयता का परिचय देते हैं।

महिलाओं के लिए यागाधिकार -

मीमांसा ने नारी को यागाधिकार देकर भी अपने सर्वमङ्गलकारी स्वरूप को अभिव्यक्त किया है। धर्मशास्त्रों में स्त्री तथा शूद्रों के लिए वेदाध्ययन का निषेध होने से [२३]यागाधिकार भी निषिद्ध है। मीमांसा ने इस सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण अपनाते हुए पति के साथ पत्नी के यागाधिकार को स्वीकार कर लिया है।[२४] यज्ञ के सम्पादनार्थ वेदज्ञान, आधानसिद्ध अग्नि तथा सामर्थ्य ये तीनों अनिवार्य हैं। यद्यपि पत्नी को वेदज्ञान नहीं है, तथापि पति के ज्ञान से क्रतु का अनुष्ठान सिद्ध हो जाने से पत्नी का भी ज्ञान मान लिया गया है।[२५]

सम्पत्ति का अधिकार -

याज्ञवल्क्य आदि महिला को स्वतंत्र नहीं मानते [२६] अतः उस पर पति के पूर्ण स्वत्व का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु सूत्रकार जैमिनि पत्नी को पति की सम्पत्ति नहीं मानते। उनका स्पष्ट प्रतिपादन है कि विश्वजित् याग में यजमान अपने सर्वस्व का दान करता है, परन्तु पत्नी तथा पुत्रादि का दान नहीं कर सकता। पत्नी पर पति का स्वत्व जैमिनि को मान्य नहीं है।[२७] इसी प्रकार धर्मशास्त्रकार मनु ने स्त्रियों के लिए निजी सम्पत्ति का विरोध किया है [२८] परन्तु जैमिनि ने स्त्रियों के लिए भी उनकी अपनी सम्पत्ति के अधिकार को मान्यता प्रदान की है।[२९]तात्कालिक समाज में प्रचलित महिलाओं के क्रय विक्रय पर भी जैमिनि ने विरोध प्रकट किया है।[३०]

शूद्रों के लिए भी यागाधिकार का प्रतिपादन -

यद्यपि शूद्रों के लिए वेदाध्ययन तथा आधानसिद्ध अग्नि विहित नहीं है, तथापि 'वर्षासुरथकारोऽग्नीनादधीते'[३१] तथा 'निषादस्थपति याजयेत्'[३२] जैसे वाक्यों के आधार पर प्राचीन मीमांसक बादरि ने शूद्रों का यज्ञकर्म में अधिकार स्वीकार किया है।[३३] जैमिनि ने निषाद कुल-प्रसूत राजा (निषादस्थपति) को रौद्रयाग में अधिकार प्रदान किया है।[३४] सूत्रकार के अनुरूप बोधायन ने भी रथकार जाति के शूद्र का अग्न्याधान तक यागाधिकार स्वीकार किया है।[३५] अग्न्याधान का अर्थ है अग्नि का संस्कार। आधार से संस्कृत अग्नि आगे की याग-क्रियाकलाप में उपयोगी होती है, परन्तु उक्त रथकार तथा निषादस्थापित का वेदाध्ययन में अधिकार न होने से अग्न्याधान के बाद में होने वाली याज्ञिक क्रियाओं में उसे अधिकार नहीं दिया गया है।

यद्यपि अग्न्याधान के पश्चाद्वर्ती क्रियाओं में इनका अधिकार नहीं

है, तथापि इनके लिए विहित अग्न्याधान को भी निरर्थक नहीं माना गया है। मीमांसा का इस सन्दर्भ में यह प्रतिपादन है कि यह अग्न्याधान स्वयं एक प्रधान कर्म है, फलतः केवल इसके करने मात्र से भी रथकारादि को स्वर्गरूप फल की निष्पत्ति हो जाती है।[३६]

भूमि पर कृषक के अधिकार का प्रतिपाद-

महिलाओं तथा अन्त्यजों के साथ ही मीमांसा का कृषक वर्ग के प्रति भी उदारवादी दृष्टिकोण परिलक्षित होता है। तात्कालिक सामन्तवादी परिस्थितियों में भी मीमांसा भूमि पर राजा के निरङ्कुश आधिपत्य को स्वीकार नहीं करती। जिस प्रकार कोई व्यक्ति अपनी सम्पत्ति विक्रय कर सकता है, दान या पुरस्कार में किसी को भी दे सकता है, उस प्रकार भूमि का विक्रय करने, उसे दान या पुरस्कार में किसी को देने के राजा के अधिकार को जैमिनि मान्य नहीं करते।[३७] व्यवहार-मयुखकार का भी कहना है कि राजा को केवल प्रजा से कर लेने का अधिकार है।[३८] मीमांसा के सूत्र ६.७.२[३९] के आधार पर इन्होने भी भूमि पर किसान के ही अधिकार पर प्रतिपादन किया है।[४०]

लौकिक व्यवहार में म्लेच्छाचार का भी प्रामाण्य-

समाज के सभी वर्गों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण होने के कारण मीमांसा दर्शन के प्रवर्त्तक आचार्य कुमारिल भट्ट ने लौकिक सदाचार के विषय में म्लेच्छव्यवहार के भी प्रामाण्य का प्रतिपादन किया है। उनका कहना है कि 'यद्यपि अदृष्टार्थक क्रियाओं में म्लेच्छाचार दुर्बल कहा जाता है, तथापि लौकिक व्यवहार में शिष्ट तथा म्लेच्छ, आर्यों से अधिक निपुण है, अतः इन विषयों मे म्लेच्छाचार का प्रामाण्य अधिक मानना सर्वथा उपयुक्त है।[४१]

उक्त विवेचित समस्त प्रसङ्गों की विवेचना के आधार पर यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाता है कि मीमांसा केवल वैदिक वाक्यों का विश्लेषण ही नहीं करती, अपितु तर्कों तथा सिद्धान्तों के आधार पर समाज में नैतिकता, सदाचार तथा समानता के सिद्धान्तों को स्थापित करती है। शताब्दियों पूर्व विद्यमान मीमांसा का दृष्टिकोण पक्षपात रहित, उदार, बहुजनहिताय, समाजवादी होने के साथ वर्तमान परिवेश में भी पूर्णरूप से प्रासङ्गिक है।

सोमनाथ नेने
उपाचार्य संस्कृत अध्ययनशाला,
विक्रम विश्वविद्यालय,
उज्जैन

टिप्पणियाँ

१. **पाश्चात्यं नीतिशास्त्रम्**, पृ. २ पङ्क्ति २४, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय १९६३
२. ''धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ।। **मनुस्मृति** २.९२
३. ''अहिंसासत्यमास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहायमाः'' **पातञ्जल योगसूत्र** २.३०
४. ''आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः'' **ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य** ३.१.१०.
५. ''प्रपातस्तडागादीनि च परोपकाराय, न धर्माय ।'' **शाबरभाष्य** १.३.२
६. धर्माख्यं विषयं वक्तुं मीमांसायाः प्रयोजनम् ।'' **श्लोक वार्त्तिक**, प्र. सू. वा. १
७. ''देवतोद्देश्येन द्रव्यत्यागस्य यागशब्दार्थत्वात्'' **मीमांसा परिभाषा** पृ. ८८, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९८७
८. भर्तृमित्र शबर के पश्चात् तथा कुमारिल के पूर्ववर्ती विद्वान हैं। इन्होने नित्य निषिद्ध कर्मों का कोई फल नहीं है, यह विचार स्थापित किया है । द्रष्टव्य **श्लो. वा.** प्रास्ताविकम् १३, तारा पब्लिकेशन्स, वाराणसी १९७८
९. अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
यष्टव्यमेवेतिमनः समाधाय स सात्त्विकः ।। **भगवद्गीता**, अ.१७ श्लो.११
१०. **तै. सं.** ६.१.११
११. मांसपाकप्रतिषेधः, **जैमिनिसूत्र** १२,२,२
१२. ''सुरा मत्स्याः पशोर्मांसं द्विजातीनां बलिस्तथा ।
धूर्तैः प्रवर्तितं यज्ञे नैतद् वेदेषु कथ्यते ।। **महाभारत** शान्तिपर्व, उद्धृत पातञ्जलयोगप्रदीप, पृ. ९, गीताप्रेस, गोरखपुर, सं. २०५१
१३. **सांख्यतत्त्वकौमुदी**, पृ. २५, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, १९८४
१४. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः **जैमिनि सूत्र** १.१.२
१५. ''श्येनेनाभिचरन् यजेत'' **आप. श्रौ.** २२.४.१३.
१६. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।

दानं प्रतिग्रहश्चैषट्कर्माण्यग्राजन्मनः ।। **मनुस्मृति** १०, ७५
षण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका ।
याजनाध्यापने चैव विशुद्धाच्च प्रतिग्रहः ।। **मनुस्मृति**, १०.७६.

१७. ''किञ्च क्रत्वर्थत्वे जीवनाभावात्क्रतुरेव ने सिद्धयेत् पुरुषार्थत्वे तु ऐहिकप्रीतिकारिभोजनादिवत् क्रतोरामुष्मिकप्रीतिकारितया पुरुषार्थेष्वन्तर्भावात्क्रत्वर्थत्वमप्यार्थिकं सिध्यति । उपायनियमस्तु उपायान्तरेषु प्रत्यवायविवक्षयोपपद्यत इतिद्रव्यार्जनं पुरुषार्थम्'' **भाट्टचिन्तामणि**, तर्कपाद, पृ. ०३ पं. सूर्यनारायण शुक्ल कृत टिप्पणी, पृ. ०३ पङ्क्ति २५, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, १९३३

१८. ''अपि वा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीरयेत्'' **जैमिनि** १.३.७.

१९. वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशील चे तद्विदाम् ।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ।। **मनुस्मृति**, २.६

२०. मन्वर्थमुक्तावली, मनुस्मृति २.०६

२१. प्रजापतिस्तावत्..... दुपचारः । **तन्त्रवार्त्तिक**, पृ. २०० पङ्क्ति १०-१२, अजितासहित, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृतविद्यापीठम्, प्रयाग, १९८८

२२. एवं समस्त तेजाः..... न तु परस्त्री व्यभिचारात् ।'' वही, पृ. २००-२०१

२३. ''न स्त्रीशूद्रौ वेदमधीयेताम्''
उद्धृत मीमांसा न्यायप्रकाश की हिन्दी व्याख्या, पृ. १८७, श्रीलाल बहादुर शास्त्रि केन्द्रीय-संस्कृत विद्यापीठम्, नई दिल्ली १९८३

२४. ''जातिं तु बादरायणोऽविशेषात् तस्मात् स्त्र्यपि प्रतीयेत जात्यर्थस्याविशिष्टत्वात्'' **जैमिनि सूत्र** ६.१.८

२५. सहाधिकारत्वे च यजमानविद्ययैव पत्न्या अपि कार्यसिद्धेर्न ज्ञानं विना तस्या अधिकारानुपपत्तिः ।'' **मी. न्या. प्रकाश**, पृ. १८८

२६. ''न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति'' **मनुस्मृति** ९.०३

२७. ''विश्वजिता यजेत'' उद्धृत **मी. न्या. प्र.**, पृ. १०३

२८. ''स्वदाने सर्वमविशेषात्'' **जैमिनि सूत्र** ६.७.१

२९. "स्त्रीपुत्रभृत्यानां स्वस्वामिकं न किमपि धनं भवति।", **मनुस्मृति** अ. ८, श्लो. सं. ४१६
३०. "स्ववत्तामपि दर्शयति" **जैमिनि सूत्र** ६.१.१६
३१. द्रव्यसंयुक्तं क्रयविक्रयाभ्याम् अद्रव्यत्वं स्त्रीणां द्रव्यैः समानयोगित्वात्" **जैमिनि सूत्र** ६.१.१०
३२. वर्षासुरथकारोऽग्नीनादधीते" **आप. श्री**. ५.३.१९
३३. **पू. मी.** ६.१.१३ "निषादस्थपत्यधिकरणे" वास्तुमयं रौद्रं चरुं निर्वपेत् इति प्रकृत्य श्रूयते" एतया निषादस्थपतिं याजयेत्" इति।
३४. निमित्तार्थेन बादरिः, तस्मात् सर्वाधिकारः स्यात्" **जैमिनि सूत्र** ६.१.२७
३५. स्थपतिर्निषादः स्यात् शब्दसामर्थ्यात्" **जैमिनि सूत्र** ६.१.५१
३६. **बोधायन धर्मसूत्र** १.९.०६
३७. किंतु तदाधानं लौकिकाग्निगुणकं विश्वजिन्न्यायेन स्वर्गफलकञ्च स्वतन्त्रमेव प्रधानकर्म विधीयते "। **मी. न्या. प्र**. पृ. १८६
३८. न भूमिः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वात्" जैमिनि सूत्र ६.७.३
३९. सम्पूर्णपृथ्वीमण्डलस्य तत्तद्ग्रामक्षेत्रादौ स्वत्वं तु तत्तद् भौमिकादीनामेव राज्ञो तु करग्रहणमात्रम्" **व्यवहार मयुख** पृ. ५६-५७, गुजरात, प्रिन्टिंग प्रेस १९२३
४०. यस्य वा प्रभुः स्यादितरस्याऽशक्यत्वात्" **जैमिनि सूत्र** ६.७.०२
४१. सन्दर्भ ३९, द्रष्टव्य
४२. "आश्रयाणां च दौर्बल्यं धर्मं प्रति निरूपितम्।
दृष्टार्थव्यवहारेषु कृष्यादाविव तुल्यताम्॥
तस्माद्यथैव सैवादौ गृहादिषु च कौशलम्।
म्लेच्छानामधिकं तद्वदभिधेयार्थनिर्णये॥
तन्त्रवार्तिक २३४ अजिता, प्रथम भाग, गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठम्, प्रयाग १९८८.

तंत्र का स्वरूप एवं प्रयोजन : काश्मीर शैवदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

'त्रिक' दर्शन या 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन, जिसे काश्मीर शैव दर्शन भी कहा जाता है। तन्त्र-परम्परा का प्रधान दर्शन है। तन्त्रों के विषय में अनेक भ्रांतियाँ हैं, ऐसा विश्वास किया जाता है कि तन्त्रों का मुख्य प्रयोग भूत-प्रेत आदि आत्माओं को बुलाने के लिए अथवा रहस्यात्मक शक्तियों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है। लेकिन यह तन्त्रों के विषय में सतही दृष्टि है। तंत्र का शाब्दिक अर्थ है व्यवस्था। तांत्रिक दर्शन जीवन तथा परमतत्त्व के विषय में एक विशेष दृष्टि का प्रतिपादन करता है। तंत्रों में नैतिकता (धर्म) के साथ अर्थ एवं काम आदि मूल्यों को समन्वय करने का प्रयास किया गया है। तंत्र काश्मीर शैव दर्शन के स्रोत हैं, किन्तु काश्मीर शैव दार्शनिक तंत्रों के साथ-साथ वेदों को भी मान्यता प्रदान करते हैं, क्योंकि वे तन्त्र को वेद का पूरक मानते हैं; जो बात वेद में बीज रूप में कही गयी है, उसे तन्त्र पूर्ण रूप से प्रकाशित करते हैं। उदाहरण के लिए क्रिया का सिद्धान्त वेदों में भी मूल रूप से है, किन्तु उसे तंत्र ही व्याख्यापित करता है।

तंत्र दर्शन के अनेक सम्प्रदाय और उपसम्प्रदाय हैं, जिन्हें मुख्यतः तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम, शैव-शक्ति तंत्र; द्वितीय, बौद्ध तंत्र और तृतीय, वैष्णव तंत्र।

बौद्ध परम्परा में जो तंत्र का प्रादुर्भाव हुआ उसके विषय में एक प्रश्न विचारणीय है। बुद्ध की शिक्षा का सार सांसारिक मूल्यों का परित्याग था, यहाँ तक कि इन्होंने ज्योतिष इत्यादि के अध्ययन को भी मना किया था। लेकिन महायान के उत्तर भाग में वज्रयान सम्प्रदाय में जिस प्रकार काम इत्यादि पंचमकारों की मान्यता दी गयी है, वह भगवान बुद्ध के मूलदेशना के अनुकूल नहीं प्रतीत होता है। बौद्ध दर्शन में वज्रयान के रूप में जो तांत्रिक साधना का प्रवेश हुआ उसकी दो व्याख्याएँ की जा सकती हैं। एक तो यह कि बुद्ध के अतिमार्गी त्यागपरक जीवन दर्शन की प्रतिक्रिया स्वरूप एवं अतिवादी त्याग दर्शन को संतुलित करने के हेतु वज्रयान आया। दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि बुद्ध ने अधिकारी भेद से शिक्षा दी। वज्रयान की शिक्षा काफी उच्च विकसित अधिकारी के लिए है। अतः सामान्यजन के लिए उसे नहीं

बताया। स्वयं वज्रयान परम्परा वालों को भी यही मान्यता है।

सभी तंत्रों में चेतना की कल्पना द्विविध रूपों में की गयी है - ज्ञान (प्रकाश) और स्वातंत्र्य (शक्ति या विमर्श)। प्रकाश का प्रतीक पुरुष है, तथा स्वातंत्र्य अथवा क्रिया का प्रतीक स्त्री है या शक्ति है जिसे विभिन्न तांत्रिक सम्प्रदायों के अनुसार पृथक्-पृथक् नाम दिये गये हैं। तंत्र के महत्त्व को हम विशेष रूप से तब समझ सकते हैं जब उसे हम सांख्य परम्परा के साथ रखकर विचार करें। भारतवर्ष में प्राचीन काल से ही दर्शन एवं अध्यात्मिक साधना सम्बन्धी दो परम्परायें रही हैं - एक सांख्य परम्परा जो निवृत्तिपरक (निषेधात्मक) है। दूसरी तंत्र परम्परा प्रवृत्तिपरक (सकारात्मक) है। सांख्य परम्परा में पातंजल योग, अद्वैत वेदान्त, जैन एवं बौद्ध दर्शन आयेंगे। अद्वैत वेदान्त एवं सांख्य दर्शन के अनुसार परमतत्त्व चैतन्य का स्वरूप निर्दिष्ट है। चैतन्य तत्त्व (जिसे ब्रह्म, पुरुष, शिव, आत्मा आदि शब्दों से प्रकाशित किया गया है) केवल ज्ञान रूप है क्रिया रूप नहीं है। वह केवल प्रकाश है, विमर्श नहीं है; केवल शिव है, शक्ति नहीं है। किन्तु तांत्रिक दर्शन में परमतत्त्व चैतन्य शक्ति रूप है, उसमें ज्ञान एवं क्रिया दोनों हैं, इसीलिए उसे शिव-शक्तिरूप, ज्ञान क्रिया रूप या प्रकाश-विमर्श रूप माना गया है। ज्ञान का प्रतीक पुरुष या शिव है और क्रिया का प्रतीक स्त्री है। इसीलिए परमतत्त्व को अर्द्धनारीश्वर प्रतीक से प्रकाशित किया गया है, जिसमें वस्तुतः एक ही व्यक्ति नर और नारी दोनों हैं।[१]

सांख्यपरक (निवृत्तिपरक) परम्परा में परमलक्ष्य की प्राप्ति के लिए जगत् एवं जागतिक मूल्यों का निषेध किया गया है, जिससे उनका जीवन दर्शन संन्यासपरक है। किन्तु तांत्रिक परम्परा में जगत् को परमतत्त्व शिव की ही अभिव्यक्ति माना जाता है। फलतः वह परमतत्त्व की प्राप्ति में बाधक नहीं है। तंत्र में जागतिक मूल्यों को स्वीकार करने एवं उनका उपयोग करने की जो विधा दी गयी है उसकी विशेषता यह है कि ज़गत् एवं जागतिक मूल्यों को परमलक्ष्य की प्राप्ति में साधक बना देती है। उदाहरण के लिए, निवृत्तिपरक परम्परा में काम के सर्वथा त्याग का विधान है क्योंकि उसे मोक्ष की प्राप्ति (आत्मप्राप्ति) में बाधक माना गया है। किन्तु तंत्र-परम्परा में काम को ग्रहण कर उसे उदात्त बना देने का योग प्रस्तुत किया गया है, जिससे स्वयं काम मोक्ष का साधक बन जाता है। कुलार्णव तंत्र में कहा गया है कि कौल मार्ग

(तंत्र मार्ग) में भोग भी योग बन जाता है, साधारणतया पाप समझा जाने वाला कामाचार सुकृत हो जाता है एवं सामान्यतया बन्धनकारी समझा जाने वाला संसार ही मोक्ष का रास्ता बन जाता है।[२]

वैष्णव तंत्रों में केवल पंचममकार मैथुन को ही मान्यता दी गयी है। जबकि शैव तंत्रों में मैथुन के अतिरिक्त मद्य, मांस, मौन तथा मुद्रा को भी स्थान दिया गया है।

इसका कारण वैष्णव तंत्र में अहिंसा की प्रमुखता रही है। वे सात्त्विक तथा तामसिक भोजन में भेद करते हैं। वैष्णव तंत्र में इस प्रकार का प्रतिबन्ध अहंकार को दूर करने के लिए उतना सबल मार्ग प्रस्तुत नहीं करता है जितना शैवशाक्त तंत्र करते हैं। तंत्र पंचमकारों का सेवन करते समय उनके प्रति दृष्टिकोण के परिवर्तन पर बल देते हैं। उच्च साधक को जगत् के पदार्थों में भेद नहीं देखना चाहिए, इस दृष्टि से किसी विशेष भोजन के लिए विशेष आग्रह इष्ट नहीं है। लेकिन तंत्रों में प्रारम्भिक साधकों के लिए पंचमकारों की अनुमति नहीं दी गई है। जिस प्रकार भौतिक पदार्थों में विद्युत शक्ति छिपी होती है और विद्युत को ग्रहण करने के लिए किसी का भी उपादान रूप से ग्रहण किया जा सकता है, उसी प्रकार एक ही शक्ति उपदेय और अनुपादेय (स्थूल दृष्टि से) दोनों प्रकार के तत्त्वों में छिपी हुई है। अतः शक्ति के अनुभव की दृष्टि से दोनों का ग्रहण समान रूप से श्रेयस्कर है तथा ग्रहण का भेद अधिकारी भेद के कारण होता है।

तंत्रों ने सांसारिक मूल्यों एवं विकारों दोनों का उपयोग तत्त्व के साक्षात्कार के लिए किया, यह तंत्रों की अपनी विशेषता है। यह मान्य तथ्य है कि जो पदार्थ जहाँ प्राकृतिक रूप से उपलब्ध हैं, वहाँ उन्हीं के उपयोगों से वस्तुओं का निर्माण करने में आसानी होती है। इसी प्रकार काम तत्त्व सभी मानव या मानेवतर प्राणियों में भी प्रमुख घटक के रूप में वर्तमान होता है। अतः इसके संशोधन एवं शुद्धीकरण से परमार्थ का साक्षात्कार कराने वाला मार्ग सुलभता की दृष्टि से सभी मानव मात्र के लिए अनुकूल होगा। इसीलिए अन्त में सम्प्रदायों की साधना में भले ही उनका उत्स निवृत्तिवादी परम्परा में क्यों न हो अन्ततोगत्वा उनमें कामतत्त्व के उदात्तीकरण को स्वीकृति प्रदान की गयी है। काश्मीर शैव दर्शन में पंचमकारों की महत्ता को स्वीकार करने में यह प्रमुख आधार रहा है।

शैव-शाक्त परम्परा अन्य परम्पराओं से अधिक परिपूर्ण है। इसके मुख्यतः दो कारण हैं। प्रथम, शैव परम्परा में ही तंत्रों के विभिन्न तत्त्वों का और उपतत्त्वों का सम्पूर्ण विवेचन किया गया है। द्वितीय, शैव परम्परा में ही चेतना के क्रियात्मक पहलू का पूर्ण दार्शनिक स्वरूप प्रकाशित हुआ है। स्पन्द की अवधारणा को इसी में स्पष्ट किया गया है। तांत्रिक दर्शन का चरमोत्कर्ष तंत्र के 'त्रिक' सम्प्रदाय अथवा 'प्रत्यभिज्ञा' दर्शन में दिखाई पड़ता है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य अभिनवगुप्त ने इस दर्शन के समस्त पहलुओं का अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'तंत्रालोक' में विधिवत् विश्लेषण किया है।

अद्वैत-वेदान्त वे सिद्धान्त को सामान्य रूप से निम्नांकित सूत्र के माध्यम से उल्लेख किया जाता है - 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापरः'', अर्थात् ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है तथा जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है। ब्रह्म निर्धर्मक होने के कारण निष्क्रिय होता है तथा जगत् भ्रम के रूप में प्रतीत होता है। अतः ब्रह्मवादी के लिए जगत् में परिचालित मूल्यों का परित्याग करके ब्रह्म साक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना पड़ता है। ब्रह्म का साक्षात्कार मात्र ज्ञान से ही सम्भव होता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में जगत् ब्रह्म की स्वतंत्रता की अभिव्यक्ति मात्र है। सृष्टि नटराज का नृत्य है। अतः काश्मीर शैव दर्शन में चेतना को विमर्श रूप मानने के कारण सांसारिकता को भी परमार्थ को प्राप्त करने के लिए साधन बनाया जा सकता है तथा परमार्थ को जानने से सांसारिक मूल्यों अर्थात् अर्थ एवं काम को भी प्राप्त करने वाली बाधाएँ भी दूर होती हैं।

काश्मीर शैव दर्शन में यद्यपि 'अहं' 'इदं' दोनों की मान्यता ही है, लेकिन परमार्थतः 'अहं' की ही प्रधानता है। इसका यह मत योगाचार विज्ञानवाद के पर्याप्त नजदीक है। वहाँ तीन प्रकार की मान्यता, परिकल्पित, परतंत्र तथा निष्पन्न। लेकिन जिस प्रकार 'अहं' 'इदं' की विभिन्न स्तरों को काश्मीर शैव दर्शन में मान्यता दी गयी है, उस प्रकार की मान्यता योगाचार विज्ञानवाद में नहीं दिखाई पड़ती है। लेकिन ग्राह्य, ग्राहक और ज्ञान का भेद जिस प्रकार योगाचार विज्ञान बाद में सम्वित् (ज्ञान) के अन्तर्गत माना गया है। आचार्य धर्मकीर्ति ने कहा है कि बुद्धात्मा अविभाजित होते हुए भी ग्राह्य, ग्राहक और ज्ञान इन तीनों के रूप में प्रतिभासित होती है, उसी प्रकार यहाँ पर भी एक तत्त्व ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के रूप में मान्यता प्राप्त है।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण अर्थ में आगम (तन्त्र) को निगम (वेद) का परिपूरक माना जाता है। निगम (वेद) ऐसे कथनों का समूह है जिन्हें ऋषियों ने भगवान् से प्राप्त किया था अर्थात् वेद ईश्वरीय ज्ञान है, किन्तु आगम योगियों तथा ऋषियों द्वारा अनुभव में प्राप्त सत्यों का अभिलेख है। अतः आगम अनुभव आधारित है, इसलिए अनुभव में प्राप्त आगम (तन्त्र) को आचार्य अभिनवगुप्त ने 'अनुभव-सम्प्रदाय' की संज्ञा दी है। समस्त तांत्रिक आगमों की उत्पत्ति शिव-शक्ति संवाद से होती है। शक्ति प्रश्न पूंछने वाली है, शिव उत्तर देने वाला है। शिव प्रकाश स्वरूप है शक्ति विमर्श स्वरूप है, क्रिया स्वरूप है। इस प्रकाश और विमर्श के खेल में ही समस्त तांत्रिक आगमों की व्यवस्था है। अभिनव गुप्त के अनुसार शिव और शक्ति का संवाद अपनी ही चेतना के दो स्तरों में संवाद है। ऐसा कहा जाता है कि शिव जो समान रूप से सर्वत्र व्याप्त है स्वयं अपने को शिव और शक्ति में विभाजित करके आगमों के रूप में ज्ञान का खेल खेलता है। इसी प्रकार की व्याख्या 'भगवद्गीता' में श्रीकृष्ण और अर्जुन की की जा सकती है।

तांत्रिक दर्शन जगत् के विषय में एक समग्र दृष्टि का प्रतिपादन करता है। चेतना के क्रियात्मक पहलू पर बल देने के कारण यह जीवन और जगत् के विषय में निषेधात्मक दृष्टि का प्रतिपादन नहीं करता है। प्रत्येक व्यक्ति को 'अहं' की अनुभूति होती है जो उसके व्यक्तितत्त्व का प्राण है। इस 'अहं' को परिष्कृत तथा संशोधित किया जा सकता है जिससे चेतना का शुद्ध प्रवाह बंधन रहित होकर जीवन और जगत् को अनुप्राणित कर सकता है।

तांत्रिक दर्शन का वैशिष्ट्य मुख्यतः मूल्यों के क्षेत्र में है। कुछ दार्शनिक विधाओं में श्रेय को प्रेय से पृथक् बताया गया है कि श्रेय का चयन विवेकी पुरुष करता है, प्रेय का चयन अविवेकी पुरुष करता है; जो श्रेय का चयन करता है उसे मोक्ष की प्राप्ति होती है, जो प्रेय का चयन करता है वह विनष्ट हो जाता है। अर्थात् भोग और मोक्ष दोनों का समन्वय नहीं किया जा सकता है। किन्तु तंत्रों में भोग और मोक्ष के समन्वय की चेष्टा की गयी है। मोक्ष का अर्थ संसार से कट करके आत्मलीन होना नहीं है, वरन सांसारिक मूल्यों को भी स्वातंत्र्य से ग्रहण करना और साथ ही उनसे ऊपर उठे रहना भी है। मोक्ष भौतिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता का आधार है। क्योंकि तत्त्व न केवल ज्ञान स्वरूप है अपितु क्रिया स्वरूप भी है। आत्म-प्राप्ति (तत्त्व-

प्राप्ति) की स्थिति में स्वाभाविक प्रतिभा शक्ति का उदय होता है, जिसे लागू कर जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सफलता प्राप्त की जा सकती है।

भारतीय दर्शन में मुख्यतः चार पुरुषार्थों को मान्यता दी गयी है - धर्म, अर्थ, काम, तथा मोक्ष। नैतिकता (धर्म) को श्रेय के अन्तर्गत लिया जा सकता है तथा अर्थ और काम को प्रेय के अन्तर्गत लिया जा सकता है। भारतीय मनीषी इस तथ्य से अपरिचित नहीं थे कि व्यावहारिक क्षेत्र में श्रेय और प्रेय के मध्य में कभी-कभी विरोध उत्पन्न होता है तथा प्रेय को कभी-कभी श्रेय के लिए परित्याग करना पड़ता है। लेकिन फिर भी किसी भी मूल्यात्मक व्यवस्था में प्रेय की आत्यंतिक अवहेलना न तो उचित होगी और न कारगर होगी। अतः हमारे तांत्रिक ऋषियों ने स्व के लिए शुभ तथा पर के लिए शुभ में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की। इस समन्वय की प्रक्रिया में ही मोक्ष का महत्त्व बढ़ जाता है। मोक्ष एक ऐसा मूल्य है, जो सभी प्रकार की प्रतिभा तथा शक्ति और शुभ का केन्द्र है, ठीक वैसे ही जैसे सभी प्रकार के बल्वों और पंखों को जलाने व चलाने की शक्ति विद्युत-गृह से आती है। अतः ऐसा व्यक्ति जिसे आत्मा की अनुभूति हुई हो, वह एक अच्छा अध्यापक, दार्शनिक, नेता, उद्योगपति आदि हो सकता है।

प्रत्यभिज्ञा के अन्तर्गत श्रेय और प्रेय दोनों का समन्वय होता है। नैतिकता का मोक्ष में अन्तर्भाव दो कारणों से है - प्रथम, जिस आत्मा की अनुभूति मोक्ष में होती है वह शुभ या शिव है। अतः यह सोचना ठीक नहीं होगा कि शुभ पदार्थ से अशुभ क्रियाओं की उत्पत्ति होती है; द्वितीय, मोक्षावस्था में व्यक्ति सभी के साथ अपने तादात्म्य का अनुभव करता है। अतः ऐसा व्यक्ति सभी का कल्याण सम्पादन करने का प्रयास करेगा। स्व और पर में भेद का कारण अविद्या है। इस अविद्या के अपोहन के बाद दूसरों के प्रति प्रेम की उत्पत्ति व्यक्ति का सहज स्वभाव हो जाता है। अतः तन्त्रों का मोक्ष सम्बन्धी प्रत्यय एक 'परा-जागतिक' मूल्य न होकर इस जगत् में सम्यक् जीवन के लिए आधार प्रस्तुत करता है।

जयशंकर सिंह

शोध छात्र
दर्शन एवं धर्म विभाग,
काशी हिंदू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

टिप्पणियाँ

१. बौद्ध तंत्र जिसका प्रभाव तिब्बत, चीन, जापान और कोरिया में है, में यह प्रतीक उलट गया है, वहाँ ज्ञान का प्रतीक स्त्री तथा क्रिया का प्रतीक पुरुष है, जिसका सम्मिलित रूप युगनद्ध कहा जाता है। चीन एवं कोरिया में भी जो 'यिन' और 'यान्ग' का प्रतीक है, वह शिवशक्ति ही है। अन्तर इतना ही है कि यिन (Yin) जो ज्ञान का प्रतीक है, वह स्त्री है, और यांग (Yang) जो शक्ति का प्रतीक है, वह पुरुष है। शैवतंत्र का अर्द्धनारीश्वर ही बौद्ध तंत्र का युगनद्ध है.

२. भोगो योगायते साक्षात् पातकं सुकृतायते।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरि॥ - कुलार्णवतन्त्र, २.२४.

सहायक ग्रंथ

१. **अभिनवगुप्तः एन हिस्टारिकल एण्ड फिलॉसोफिकल स्टडी**, के. सी. पाण्डेय, चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी, १९६३.

२. **काश्मीर शैव दर्शन**, बलजिन्नाथ पंडित, श्री रणवीर केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, जम्मू, १९१४

३. **काश्मीर शैव दर्शन** : डॉ. कैलाशपति मिश्र, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८२

४. **काश्मीर शैवीज्म, दी सेन्ट्रल फिलॉसफी ऑफ तांत्रिज्म**, प्रो. कमलाकर, मिश्र, रूद्रा प्रेस, मासाचुसेट्स, यू. एस. ए., १९९३.

५. **सिग्नीफिकेशन ऑफ दी तांत्रिक ट्रेडिशन**, प्रो. कमलाकर मिश्र, अर्द्धनारीश्वर प्रकाशन, वाराणसी, १९८१.

६. **कुलार्णवतंत्र**

INDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

जैनदर्शन में सामायिक और ध्यान की अवधारणा

जैनदर्शन में मोक्षमार्ग के साधन-ज्ञान, दर्शन, चारित्र-सम कहलाते हैं। उनमें अयन यानी प्रवृत्ति करना सामायिक है। चाहे तिनका हो, चाहे सोना, चाहे शत्रु हो, चाहे मित्र सर्वत्र अपने मन को रागद्वेष की आसक्ति से रहित रखना तथा पाप रहित उचित धार्मिक प्रवृत्ति करना सामायिक है। वस्तुतः समभाव ही सामायिक है।

सब जीवों पर समता-समभाव रखना, पाँच इन्द्रियों का संयम-नियन्त्रण, करना, अन्तर्हृदय में शुभभावना, शुभ संकल्प रखना, आर्त-रौद्र दुर्ध्यानों का त्याग करके धर्मध्यान का चिन्तन करना 'सामायिक' है। 'योगशास्त्र' में आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान का त्याग करके तथा पापमय कर्मों का त्याग करके मुहूर्त-पर्यन्त समभाव में रहना 'सामायिक व्रत' संज्ञा से अभिहित है -

त्यक्तार्त-रौद्रध्यानस्य, त्यक्तसावद्यकर्मणः
मुहूर्त्त समता या तां, विदुः सामायिक व्रतम् [१]

'आवश्यक अवचूरि' में सामायिक को सावद्य अर्थात् पापजनक कर्मों का त्याग करना और निरवद्य अर्थात् पापरहित कार्यों को स्वीकार करना माना है -

सामाइयं नाम सावज्ज जोग परिवज्जणं
निरवज्जजौगपडिसेवणं च [२]

'भगवती' के अनुसार आत्मा ही सामायिक है और आत्मा ही सामायिक का अर्थ फल है -

आया सामाइए, आया सामाइयस्य अट्ठे [३]

सामायिक व्रत भली-भाँति ग्रहण कर लेने पर श्रावक भी साधु जैसा हो जाता है, अध्यात्मिक-उच्चदशा को पहुँच जाता है, अतः श्रावक का कर्तव्य है कि वह अधिकसे अधिक सामायिक में प्रवृत्त होवें-

सामाइयम्मि उकए, समणो इव सावओ हवइ जम्हा
एस्णा कारणेणं, बहुसो सामाइयं कुज्जा [४]

चंचल मन को नियंत्रण में रखते हुए जब तक सामायिक व्रत की अखण्डधारा प्रवहमान रहती है तब तक अशुभ कर्म निरन्तर क्षीण होते रहते हैं

सामाइय-वय-जुत्रो, जाव मणो होइ नियम संजुत्रो
छिन्नइ असुहं कम्मं, सामाइय जत्तिया वारा [५]

जो भी साधक अतीत काल में मोक्ष गए हैं, वर्तमान में जा रहे हैं और भविष्य में जायेंगे यह सब्र सामायिक का प्रवाह है -

जे के वि गया मोक्खं, जे य गच्छंति जे गमिस्संति
ते सब्बे सामाइय-पभावेण मुणेयव्वं ६

चाहे कोई कितना ही तीव्र तप तपे, जप जपे अथवा मुनि वेषधारण कर स्थूल क्रियाकाण्ड रूप-चारित्र्य पाले परन्तु समताभाव रूप सामायिक के बिना न किसी को मोक्ष हुआ है और न होगा-

कि तिव्वेण तवेणं, किजवेणं कि चारित्तेणं
समयाइ विण मुक्खो, न हु हूओ कहवि न हु होई ७

आचार्यों ने सामायिक दो प्रकार का कहा है -

दुवि है सामाइए पण्णत्रे, तं जहा-आगार सामाइए चेव अणगार सामाइए चेव ८

(क) आगार सामायिक (ख) अनगार सामायिक

आगार सामायिक श्रावकों के लिए है और अनगार सामायिक साधुओं के लिए बताए गए हैं। सामायिक के अधिकारी वही हैं जो साधक त्रस-स्थावर रूप सभी जीवों पर समभाव रखता है । उसीका सामायिक शुद्ध होता है, जिसकी आत्मा संयम, तप और नियम में संलग्न हो जाती है उसी की सामायिक शुद्ध होती है-

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि भासियं
जस्स सामाणिओ अप्पा संजमे णियमे तवे
तस्स सामाइयं होइ, इइ केवलि-भासियं ९

सामायिक करने के लिए क्षेत्र, काल, आसन, विलय, मनःशुद्धि, वचन शुद्धि और काय शुद्धि ये सात बातें अपेक्षित होती हैं-

सामाइयस्स करणे खेत्तं कालं च आसणं विलओ
मण-वयण-काय-सुद्धी णायव्वा हुंति सत्तेव१०

विनय संयुक्त गणधर देव आदि ने पूर्वाह्न और अपराह्न इन तीनों कालों में छह-छह घटी सामायिक का काल कहा है-

पुव्वण्हे मज्झण्हे अवरण्हे तिहि वि णालिया-छक्को
सामाइयस्स काले सविणय णिस्सेस णिदिट्ठो ११

'वसुनंदि श्रावकाचार' में सामायिक की विधि उल्लिखित है लेकिन स्थानक वासी परम्परा में यह विधि मान्य नहीं है -

होऊण सुई चेइय गिहम्मि सगिहे व चेइयाहिमुहो
अण्णत्य सुइपरस्से पुव्व मुहो उत्तर मुहो वा
जिणवयण धम्म चेइय-परमेट्ठि-जिणालाणणिच्चंपि
जं वंदणं तियालं कीरइ समाइयं तं खु [१२]

अर्थात् स्नान आदि से शुद्ध होकर चैत्यालय में अथवा अपने ही घर में प्रतिमा के सम्मुख अथवा अन्य पवित्र स्थान में पूर्व मुख या उत्तर मुख होकर जिनवाणी, जिनधर्म, जिननिम्ब, पंचपरमेली और कृत्रिम-अकृत्रिम जिनालयों की जो नित्य त्रिकालवंदना की जाती है। अपने स्वरूप का अथवा जिन बिम्ब का अथवा पंचपरमेष्ठी के वाचक अक्षरों का अथवा कर्मविपाक का अथवा पदार्थों के यथावस्थित स्वरूप का, तीनों लोक का और अशरण आदि वैराग्य भावनाओं का चिन्तवन करते हुए ध्यान करना सामायिक का योग्य ध्येय है -

चिंततो असएवं जिणबिबं अहव अक्खरं परमं
झायदि पम्मविवायं तस्स वयं होदि सामइयं [१३]

इष्टदेव ध्येय हैं।[१४] ध्येय में एक चित्र हो जाना ध्यान है-

(क) ध्यानं तु विषये तस्मि-न्नेकप्रत्ययसंततिः[१५]
(ख) चितस्सेगग्गया हवइ झाणं [१६]
(ग) एकाग्रचिन्तायोग निरोधो वा ध्यानम् [१७]

इन्द्रिय तथा मन का निग्रही स्थिर आत्मा ही ध्याता है-

यस्य चित्तं स्थिरीभूतं, स हि ध्याता प्रशस्यते [१८]

ध्याता ध्येय की सम्प्राप्ति हेतु मन, वचन, काय का एकीकरण करता है। संसार के समस्त प्राणियों की चित्तवृत्तियों का चार राहों में निरन्तर दौडना होता है। ये चार राहें 'चत्वर' संज्ञा से अभिहित हैं। चित्तवृत्तियों के चहुँमुखी प्रवाह वशध्यान के चार भेद हुए-आर्त्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल।[१९] निश्चय दृष्टि से और व्यवहार दृष्टि से ध्यान दो प्रकार का है। प्रथम में स्वरूप का आलम्बन है एवं दूसरे में परवस्तु का आलम्बन है-

निश्चयाद् व्यवहाराच्च, ध्यानं द्विविधमागभे
स्वरूपालम्बनं पूर्वं, परालम्बनमुत्तरम्[२०]

ज्ञानी पुरुषों ने ध्यान के आलम्बन रूप ध्येय को चार प्रकार का माना

है-पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, रूपातीत :-

पिण्डस्थं च पदस्थंच, रूपस्थं रूपवर्जितम्
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं, ध्यानस्यालम्बनं बुधैः[२१]

पिण्डस्य अर्थात् शरीर में विद्यमान आत्मा ! उसके आलम्बन से जो ध्यान किया जाता है, वह पिण्डस्थ ध्यान है-

पार्थिवी स्यादथाग्नेयी, मारुती वारुणी तथा
तत्त्वभः पंचमीचेति, पिण्डस्थे पंचधारणाः[२२]

उसकी पाँच धारणाएँ हैं - पार्थिवी, आग्नेयी, मारुती, वारुणी, तत्त्वभू-

धारणा तु क्वचिद् ध्येये, चितस्य स्थिर बन्धनम्[२३]

ध्येय में चित्र को स्थिर रूप से बाँध लेने का नाम धारणा है। पवित्र मंत्राक्षर आदि पदों का अवलम्बन करके जो ध्यान किया जाता है उसे सिद्धान्त के पारगामी पुरुष पदस्थध्यान कहते हैं -

यत्पदानि पवित्राणि, समालम्ब्य विधीयते
तत्पदस्थं समाख्यातं, ध्यानं सिद्धान्तपारगैः[२४]

अरिहंत भगवान के रूप का सहारा लेकर जो ध्यान किया जाता है, उसे रूपस्थध्यान कहते हैं-

अर्हतो रूपमालम्ब्य, ध्यानं रूपस्थमुच्यते [२५]

निरञ्जन सिद्ध भगवान का ध्यान रूपातीत ध्यान है-

निरञ्जनस्य सिद्धस्य, ध्यानं स्याद्रूपवर्जितम्[२६]

परिग्रह का त्याग, कषाय का निग्रह, व्रत धारण करना तथा मन और इन्द्रियों को जीतना-ये सब कार्य ध्यान की उत्पत्ति में सहायता करनेवाली सामग्री है-

संगत्यागः कषायाणां, निग्रहो व्रतधारणम्
मनोऽक्षाणां जयश्चेति, सामग्रीध्यानजन्मनि[२७]

वैराग्य, तत्त्व विज्ञान, निर्ग्रन्थता, समचित्तता, परिग्रहजय ये पाँच ध्यान के हेतु हैं-

वैराग्यं तत्त्वविज्ञानं नैर्ग्रन्थ्यं समचित्तता
परिग्रह जयश्चेति, पञ्चैतेध्यानहेतवः[२८]

शोक, चिन्ता, संताप आदि से उदित चित्तवृत्तियाँ जब एकाग्रता धारणा करती हैं, तब ध्यान की आर्त्तस्थिति बनती है। रुद्र (क्रूर) आशय से गुंथी हुई चित्तवृत्ति की एकाग्रता रौद्रध्यान कहलाती है। धार्मिक कार्यों में एकचित्त होना

धर्मध्यान है। धर्मध्यान का अभ्यास करते-करते ध्याता का शुक्लध्यान की स्थिति में पहुँचना हो जाता है। धर्म ध्यान में जो कषाय शेष रह जाते हैं, वे सभीध्याता के इस स्थिति तक पहुँचते-पहुँचते शमित हो जाते हैं। ध्यान आराधना की उत्कृष्ट उत्तमस्थिति है। ध्याता उत्थित होता जाता है और आत्मा का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट भाषित होने लगता है।[२९] आर्त्त और रौद्रध्यान संसार के परिवर्धक हैं, अतएव अप्रशस्त और अशुभ है। धर्म और शुक्ल ध्यान मोक्ष के साधक हैं अस्तु प्रशस्त और शुभ हैं। वस्तुतः वे ही प्रेय और श्रेय हैं।[३०]

कर्म के क्षय से मोक्ष होता है, आत्मज्ञान से कर्म का क्षय होता है और ध्यान से आत्मज्ञान प्राप्त होता है। अतः ध्यान आत्मा के लिए हितकारी माना गया है-

मोक्षः कर्मक्षयादेव स, चात्मज्ञानतो भवेत्
ध्यानसाध्यं मतं तच्च, तद्ध्यानं हितमात्मनः[३१]

ध्यान में लीन हुआ साधक सब दोषों का निवारण कर सकता है। इसीलिए ध्यान ही समग्र अतिचारों (दोषों) का प्रतिक्रमण है-

झांणणिलीणो साहू, परिचागं कुणइ सव्वदोसाणं
तम्हा दुझाणमेव हि, सव्वदिचारस्स पडिक्कभणं[३२]

ध्याता को जाप से श्रान्त होने पर ध्यान एवं ध्यान से श्रान्त होने पर जाप करना चाहिए तथा दोनों से श्रान्त हो जाने पर स्तेत्र पढ़ना चाहिए-

जपश्रान्तो विशेद् ध्यानं, ध्यानश्रान्तो विशेज्जपम
द्वाभ्यां श्रान्तः पठेत् स्तोत्र-मित्येवं गुरुभिः स्मृतम्[३३]

स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास करना चाहिए और ध्यान से स्वाध्याय को चरितार्थ करना चाहिए। स्वाध्याय एवंध्यान की सम्प्राप्ति से परमात्मा प्रकाशित होता है अर्थात् अपने अनुभव में लाया जाता है। अभ्यास से जैसे महान शास्त्र स्थिर हो जाते हैं, उसी प्रकार अभ्यास करने वालों का ध्यान स्थिर हो जाता है। वस्तुतः सामायिक से शुभोपयोग होता है और ध्यान से शुद्धोपयोग का होना होता है। सामायिक से यथातथ्य की जानकारी होती है और ध्यान द्वारा सत्य से साक्षात्कार होता है।

डॉ. आदित्य प्रचण्डिया

मंगलकलश,
३९४, सर्वोदयनगर,
आगरारोड, अलीगढ़ २०२००१ (उ.प)

टिप्पणियाँ

१. योगशास्त्र, ३.८२
२. आवश्यक अवचूरि, ७.९० ।
३. भगवती १.९ ।
४. (क) विशेषावश्यक भाष्य २६९० ।
(ख) आवश्यक - नियुक्ति ८००.१ ।
५. आवश्यक निर्युक्ति ८००.२ ।
६. सामायिक प्रवचन, पृ. ७८ ।
७. सामायिक प्रवचन, पृ. ७८ ।
८. स्थानाङ्ग. २.३ ।
९. सामायिक और ध्यान, डॉ. आदित्य प्रचण्डिया, जिनवाणी, जयपूर, जुलाई १९०४, पृ. ८१ ।
१०. कार्तिकेयानुप्रेक्षा / मूल गाथासंख्या ३५२ ।
११. कार्तिकेयानुप्रेक्षा , गाथासंख्या ३५४ ।
१२. वसुनंदि श्रावकाचार, गाथासंख्या २७४ - २७५ ।
१३. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथासंख्या ३७२ ।
१४. ध्यानः प्रश्नों की निर्जरा, डॉ.आदित्य प्रचण्डिया, तीर्थंकर, इन्दौर, अक्टुबर, १९८३, पृ. आवरण २
१५. अभिधान चिन्तामणि १.८४ ।
१६. आवश्यक निर्युक्ति १४५६ ।
१७. जैनासिद्धान्त दीपिका ५.२८ ।
१८. (क) ज्ञानार्णव, पृ. ८४ ।
(ख) ध्यानः प्रश्नों की निर्जरा, डॉ. आदित्य प्रचाण्डिया
१९. ध्यानः प्रश्नों की निर्जरा, डॉ. आदित्य प्रचाण्डिया, वही ।
२०. तत्त्वानुशासन ८.६ ।
२१. योगशास्त्र ७.८ ।
२२. योगशास्त्र ७.८ ।
२३. अभिधान चिन्तामणि, १.८४ ।
२४. योगशास्त्र ८.१ ।

२५. **योगशास्त्र** ८.७।
२६. **योगशास्त्र** १०.१।
२७. **तत्त्वानुशासन** ७५।
२८. **बृहद्द्रव्य संग्रह**, संस्कृत टीका, पृ. २८१।
२९. **ध्यानः प्रश्नों की निर्जरा**, डॉ. आदित्य, प्रचण्डिया वही।
३०. **वही**।
३१. **योगशास्त्र** ४.११३।
३२. **नियमसार**, ६३।
३३. **श्राद्धविधि**, श्लोक ३, पृ. ७८।

आयारो* के परिप्रेक्ष्य में निःशस्त्रीकरण और विश्वशांति

१. प्रस्तावना

आज से लगभग ढ़ाई हजार वर्ष पूर्व युद्ध का वह स्वरूप नहीं था जो आज है। राजा अपने राज्य के विस्तार के लिए भाड़े की सेना लेकर लड़ता था। राष्ट्रवाद का उदय अभी नहीं हुआ था। भारतवर्ष में अनेक छोटे-छोटे राज्य थे जो प्रायः दो कारणों से परस्पर लड़ते थे - भूमि और स्त्री। युद्ध के दुष्परिणामों से लोग सामान्यतः परिचित थे, जैसा कि गीता में अर्जुन के वक्तव्य से स्पष्ट होता है। अपने अधिकार के लिए लड़ना क्षत्रिय धर्म समझा जाता था। युद्धों मे शस्त्रधारी, शस्त्रधारी पर ही आक्रमण करता था। निःशस्त्र नागरिक युद्ध की विभीषिका के शिकार नहीं होते थे। पूंजीवाद का उदय अभी नहीं हुआ था। उस समय व्यापारी और श्रेष्ठी थे जो निर्धन लोगों को दास-दासियों की भांति खरीदा-बेचा करते थे।

ऐसे समय में महावीर और बुद्ध ऐसे दो ऐसे महापुरुष, हुए, जिन्होंने व्यक्तिगत स्तर पर अहिंसा और अपरिग्रह की बात रखी। यह मात्र संयोग ही नहीं था, ये दोनों ही क्षत्रिय राजकुमार थे, जिनका पैतृक व्यवसाय युद्ध करना था। शेष २३ जैन तीर्थंकर भी राजघरानों से ही संबद्ध थे। उपनिषदों मे भी ब्रह्मविद्या का संबंध क्षत्रियों से माना गया है। इसका अर्थ यह है कि अहिंसा और आत्मविद्या की चर्चा उन घरानों में पनपी जिनका युद्ध करना पैतृक व्यवसाय समझा जाता था। स्वाभाविक भी है-युद्ध की विभीषिका से वे लोग अधिक परिचित थे जो स्वयं युद्ध से सीधे जुड़े थे।

२. निःशस्त्रीकरण का अर्थ

अमेरिकन इन्स्टीटयूट ऑफ डिफेन्स एनालिसेस ने निःशस्त्रीकरण की परिभाषा देते हुए कहा है - 'कोई भी एक योजना, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निःशस्त्रीकरण के किसी भी एक पहलू जैसे संख्या, प्रकार, शस्त्रों की प्रयोजन प्रणाली, उसका नियन्त्रण, उसकी सहायता के लिए पूरक यंत्रों का निर्माण, प्रयोग व वितरण, गुट सूचनाएं एकत्र करने के संयंत्र, सेना का संख्यात्मक स्वरूप आदि को नियमित करने से संबद्ध हो, निःशस्त्रीकरण की श्रेणी में आते है।' पर जैन दृष्टि इससे भिन्न है।

भगवान महावीर के शस्त्रीकरण और निःशस्त्रीकरण संबंधी विचार प्रथम

जैन आगम 'आयारो' में संग्रहीत हैं। वहाँ शस्त्र के दो प्रकार बतलाये गये हैं- द्रव्य शस्त्र और भाव शस्त्र। पाषाण युग से अणुयुग तक जितने भी अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण हुआ है, वे सब द्रव्य शस्त्र हैं। दूसरे शब्दों में निष्क्रिय शस्त्र हैं, उनमें स्वतः प्रेरित संहारक शक्ति नहीं है। सक्रिय शस्त्र जिसे आयारी में भाव शस्त्र कहा गया है-असंयम है।[१] विध्वंस का मूल असंयम ही है। निष्क्रिय शस्त्रों में प्राण फूंकने वाला तथा शस्त्रों के निर्माण की मूलभूत प्रेरणा असंयम ही है।

संयुक्त राष्ट्र द्वारा की गई यह घोषणा - 'युद्ध पहले मनुष्य के मस्तिष्क में लड़ा जाता है, फिर समरांगण में' इसी भावशस्त्र के स्वर का पुनरुच्चारण है। इस भावशस्त्र (असंयम) को भली भांति समझकर छोडने का प्रयत्न करना निःशस्त्रीकरण है।

३. शस्त्रीकरण के हेतु

आयारों में शस्त्रीकरण के चार हेतु बतलाये गये हैं [२]

१. वर्तमान जीवन के लिए

२. प्रशंसा, सम्मान और पूजा के लिए

३. जन्म, मरण और मोचन के लिए

४. दुःख-प्रतिकार के लिए।

जीवन की सुरक्षा के लिए मनुष्य-'जीवो जीवस्य जीवनम्' - यह मान कर अपने जीवन के लिए दूसरे जीवों का वध और शोषण करता है। प्रशंसा या कीर्ति के लिए प्रतियोगितात्मक प्रवृत्तियां करता है। पूजा पाने के लिए मनुष्य युद्ध आदि विविध प्रवृत्तियं करता है। भावी जन्म के लिए अनेक हिंसात्मक प्रवृत्तियां, मारण के लिए बैर-प्रतिशोध तथा अन्य प्रवृत्तियां एवं दुःख-प्रतिकार के लिए दवा व रसायनों हेतु अनेक पशु-पक्षियों की हिंसा करता है। इन सभी कारणों के लिए वह शस्त्रीकरण करता है।

शस्त्रीकरण के मूल में इन कारणों को देखकर यह कहा जा सकता है कि शस्त्रीकरण सुख का हेतु नही दुःख का मूल है। इसी संदर्भ में वित्तैषणा और लोकेषणा को छोड़ने पर भी बल दिया गया है। [३] इच्छा (असंयम) दुःख का मूल है।[४]

प्रत्येक व्यक्ति अपनी सुख-सुविधा को सर्वोपरि मानता है। जो कुछ उसके पास है, उसकी सुरक्षा का प्रयास करता है तथा जो कुछ उसके पास

नहीं है, उसकी प्राप्ति के लिए वह दूसरे देशों में पैर पसारता है।[५] दूसरों के अधिकारों पर चोट करता है, उन पर विजय चाहता है तथा बार-बार शस्त्र का प्रयोग करता है।[६] सुकरात ने भी यही कहा था -'लोक सरल जीवन-पद्धति से सन्तुष्ट नहीं होगे। वे साफा, मेज तथा अन्य उपस्कर इकट्ठा करते रहेंगे। हमें आवास, वस्त्र तथा जूते जैसी आवश्यकताओं से आगे बढ़ जाना चाहिए.. उसके बाद हमें अपनी सीमाओं को बढ़ाना चाहिए, क्योंकि मूल स्थिति अधिक समय तब नहीं रहती... और जो प्रदेश अपने मूल निवासियों का भरण-पोषण करने में काफी था वह अब उसके लिए छोटा हो जाएगा,... तब हम अपने पड़ौसियों की जमीन का टुकड़ा हथियाना चाहेंगे। यदि हमारी तरह उनकी भी आवश्यकताएं सीमा को पार कर जाएं और वे स्वयं धन के असीमित संचय के लिए लग जाएं तो परिणाम होगा-युद्ध।[७] अतः इच्छाओं का विस्तार शस्त्रीकरण का मूल है जो अज्ञान के कारण है। अज्ञानी को हिंसा व शस्त्रीकरण की विभीषिका समझाना कठिन है।[८] ज्ञान ही संयम का आधार है।

४. शान्ति की अविभाज्यता

भगवान् महावीर ने युद्ध के मूल पर प्रहार किया। वे आज के मानवतावादी, शांतिवादी आन्दोलनों के सिद्धान्तों की अपेक्षा कहीं अधिक गहरे में गये। आधुनिक संदर्भों में यदि कहें तो उनका ध्यान प्रकृति के असंतुलन और पर्यावरण प्रदूषण तक गया। वे प्रकृति के किसी भी तत्त्व के साथ किसी भी प्रकार की छेड़-छाड़ को हिंसा मानते थे। इसलिए उन्होंने पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु को भी सजीव माना। वनस्पति को तो वे जीवन-युक्त मानते ही थे। उनका मानना था जो पृथ्वीकायिक जीवों की हिंसा करता है वह अन्य जीवों की हिंसा का भागी भी बनता है।[९] यह अवधारणा आज के वैज्ञानिक अवधारणा के बहुत निकट है। प्रकृति का संतुलन बिगड़ जाने पर वनस्पति, पशु-पक्षी और मनुष्य का जीवन भी संकट में पड़ जाता है। प्रो. गाल्टुंग के अनुसार शांति समग्र है, अविभाज्य है। उन्होंने अस्तित्व के पांच प्रकार बतलाए हैं - प्रकृति, मानव, समाज, विश्व और संस्कृति। उनके अनुसार इन पांचों अस्तित्वों का साध्य भिन्न-भिन्न होते हुए भी परम साध्य के रूप में ये शांति की अपेक्षा रखते हैं -

प्रकृति का साध्य है - परिस्थिति का संतुलन

मानव का साध्य है - बोधि प्राप्त करना
समाज का साध्य है - विकास
विश्व का साध्य है - शान्ति
संस्कृति का साध्य है - पर्याप्तता।

गहराई से विचार करने पर ये सभी तत्त्व परस्पर अन्तर्ग्रथित दिखाई देते हैं। इनमें से किसी एक भी तत्त्व की अवहेलना करके शांति स्थापित नहीं की जा सकती। प्रत्येक तत्त्व का अस्तित्व दूसरे तत्त्व के अस्तित्व पर निर्भर है और प्रत्येक तत्त्व की शांति दूसरे तत्त्व की शांति को प्रभावित करती है। प्रो. गाल्टुंग ने ठीक ही लिखा है - 'जब हम शांति के बारे में चर्चा या विचार-विमर्श करते हैं तो इसका आशय इतना ही नहीं है कि शांति केवल राष्ट्रों के बीच में ही हो, बल्कि शान्ति तो समाज की रग-रग में, मानव जाति में और यहां तक कि प्रकृति में भी शांति व्याप्त होनी चाहिए।[१०]

५. हितैक्य का दर्शन

भगवान् महावीर ने कहा - यह हमारा अज्ञान है कि मनुष्य अपने और दूसरे के हितों में टकराव देखता है। सबके हित में ही स्वयं के हित को देखना सही दृष्टिकोण है। भगवान् महावीर के समय तक वनस्पतिकाय की हिंसा न करना भूत-दया का अंश था। आज विज्ञान के माध्यम से हम जानते हैं कि वनस्पति को नष्ट न करके हम वनस्पति पर नहीं, स्वयं पर ही कृपा करते हैं। गहरे अध्यात्मिक अर्थों में किसी का भी अहित करके हम अपना ही अहित करते हैं। विश्व शान्ति के प्रसंग में भी कोई राष्ट्र दूसरे को पराजयी बनाकर अपना भी अहित करता है। अतीत इसका साक्षी है और इस बात की प्रेरणा देता है कि भविष्य में युद्ध या शस्त्र प्रयोग न करने का संकल्प लिया जाए।[११] हिरोशिमा व नागासाकी की विभीषिका व ईराक-ईरान युद्धों के अनुभवों के बावजूद आज भी प्रमत्त मानव दूसरों के अधिकारों के हनन करने में लगे हैं, ऐसे ही व्यक्ति शस्त्र प्रयोग करते हैं।[१२]

६. निःशस्त्रीकरण के आधार ६.१ विजातियों के प्रति प्रेम

आयारो के 'शस्त्र -परीक्षा' अध्ययन में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि स्थावरों के लिए अहिंसा का प्रतिपादन त्रस-जीवों से पहले किया गया है। स्थावरों में भी वनस्पतिकाय से पहले पृथ्वी, जल; अग्नि और वायु-काय के प्रति अहिंसा का प्रतिपादन है। इस क्रम में भी एक गहरा रहस्य है - त्रस-

जीव के लक्षण हमारे निकट हैं, इसलिए उनके प्रति अहिंसा का भाव सहज उत्पन्न होता है। स्थावर हमारे विजातीय हैं, इसलिए उनके प्रति अहिंसा की भावना उत्पन्न होने की सभावना कम है। अहिंसा का मूल है - हम विजातीय के प्रति भी अहिंसक हो। यही निःशस्त्रीकरण का एक प्रमुख आधार भी है। आज जहाँ अहिंसा की चर्चा होती है, वहां सजातीयों के प्रति विशेष पक्षपात रहता है। यही कारण है कि अनेक सैनिक और गैर-सैनिक संघों एवं गुटों का निर्माण हुआ है। ये सभी संगठन सजातीयों के प्रति अनुराग व विजातीयों के प्रति द्वेष के परिणाम थे।[१३]

६.२ सर्व-जीव समानता-

भगवान् महावीर ने निःशस्त्रीकरण का आधार प्रस्तुत करते हुए कहा - सब जीव समान हैं। जीवों के शरीर भले ही छोटे-बड़े हों, आत्मा सबमें समान हैं। ज्ञान-शक्ति सब जीवों में समान है, भले ही ज्ञान का विकास सब जीवों में समान न हो। आत्मवीर्य या सामर्थ्य वीर्य की दृष्टि से कोई न्यूनाधिक नहीं होता।[१४] अतः सजातीय-विजातीय, रंग भेद, जीवन-स्तर, विचार धारा आदि के आधार पर भेद-भाव न रखकर प्राणी-मात्र के प्रति मैत्री-भाव निःशस्त्रीकरण या विश्व-शान्ति का आधार बन सकता है। प्राणि मात्र को जीवन प्रिय है। सूक्ष्म जीव भी अपने प्राण लूटने की स्वीकृति कब देते हैं? जो व्यक्ति बलात् उनके प्राण लूटते है, वे उनकी चोरी करते हैं।[१५]

७. निःशस्त्रीकरण का अधिकारी

आयारो में आत्मवादी को निःशस्त्रीकरण का अधिकार माना गया है। अनात्मवादी निःशस्त्रीकरण नहीं कर सकता।[१६] भगवान् महावीर ने जिस अहिंसात्मक आचार का निरूपण किया, उसका आधार आत्मा है। आत्मा का स्पष्ट बोध होने पर ही अहिंसात्मक आचार में आस्था हो सकती है।

७.१ निःशस्त्र कौन हो सकते हैं -

जो अपना दुःख जानता है, वही दूसरों का दुःख जान सकता है। जो दूसरों का दुःख जानता है, वही अपना दुःख जान सकता है। आत्मतुला ही यथार्थ अनुभूति हुए बिना निःशस्त्रीकरण का अधिकार नहीं मिल सकता।[१७] आत्मवाद की ऐसी व्याख्या भगवान् महावीर को आधुनिक मानवतावाद के निकट ला देती है। भगवान् महावीर ने निःशस्त्रीकरण का एक महत्त्वपूर्ण सूत्र दिया -जो दूसरे के अस्तित्व को नाकारता है वह स्वयं अपने ही अस्तित्व को

नाकारता है । शस्त्रीकरण के मार्ग पर चलने वाला दूसरे की अवहेलना कर आत्मतत्त्व की ही अवहेलना करता है । अतः निःशस्त्र वे ही हो सकते हैं जिन्हें सभी प्राणी आत्मवत् लगें । महावीर ने कहा - 'पुरुष । जिसे तू हनन करने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू दास बनाने योग्य मानता है, वह तू ही है । जिसे तू मारने योग्य मानता है, वह तू ही है'।[१८] जो व्यक्ति क्रिया की प्रतिक्रिया देख लेता है, वह किसी को भी मारना या अधीन कहना नहीं चाहता ।

शस्त्रीकरण से वे ही बच सकते हैं जो अतीत के अनुभवों के आधार पर शस्त्र प्रयोग में अपना अहित देख लेते हैं ।[१९] जो दूसरों के भय,आशंका, लज्जा, दबाव या प्रलोभन से शस्त्रीकरण नहीं करते वे समय आने पर शस्त्रीकरण से बच नहीं सकते ।[२०] समता का आचरण व सबकी स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करने वाले ही निःशस्त्रीकरण के उपासक हो सकते हैं । किसी भी प्राणी, भूत, जीव और सत्व का हनन करने वाले, उन पर शासन करने वाले, उन्हें दास बनाने वाले, उन्हें परिताप देने वाले, उनका प्राण वियोजन करने वाले अहिंसक और निःशस्त्र नहीं हो सकते ।[२१]

७.२ निःशस्त्र ही अभय हो सकते हैं -

भगवान् महावीर निःशस्त्रीकरण का संबंध वीरता से जोंड़ते हैं ।[२२] 'पणया वीरा महावीहिं' - यह उक्ति हमें महात्मा गांधी का स्मरण कराती है जो मानते थे-कायर कभी अहिंसा का पालन नहीं कर सकता । निःशस्त्रीकरण सभी को अभय प्रदान कर सकता है जबकि शस्त्रीकरण का मूल भय है ।

शस्त्र के द्वारा झुकाना प्रतिस्पर्धा का बढ़ावा देना है । जिस विजय के लिए शस्त्र बनाने व चलाने पड़े, वह प्रतिस्पर्धा का स्थान है । जो सशस्त्र है वह सभय है, पराजित है । जो अशस्त्र है - वह अभय है, विजयी है । शस्त्र प्रतिस्पर्धा लाता है । एक शस्त्र को व्यर्थ करने के लिए दूसरा, दूसरे को व्यर्थ करने के लिए तीसरा, यह क्रम आगे से आगे बढ़ता है ।[२३] अशस्त्र में स्पर्धा नहीं होती ।

उपसंहार

सभ्य जीवन की यह विडम्बना है - हम युद्ध तो नहीं चाहते किन्तु भोग-विलास की निन्दा करने से हिचकिचाते हैं, शस्त्र त्याग नहीं चाहते । शांति के प्रयत्न करने वाले सभी संगठनों के लिए भगवान् महावीर का यह

संदेश है - यदि शांति चाहते हैं तो सुख की आशा छोड़े।[२४] यह सत्य है -सुख की आसक्ति हम पूर्णतः नहीं छोड़ सकते किन्तु यह भी सत्य है - सभी अपनी इच्छाओं का नियमन तो कर ही सकते हैं। हम सभी प्रकार की हिंसा नहीं छोड़ सकते पर निरर्थक हिंसा तो छोड़ सकते हैं।

अध्यक्ष,
अहिंसा एवं शांतिशोध विभाग
जैन विश्वभारती संस्थान
लाडनूं

डॉ. बच्छराज दूगड़

टिप्पणियाँ

* जैनों का प्रथम आगम

१. निर्युक्ति में षट्जीवनिकाय के लिए भावशास्त्र-असंयम बताया गया है। देखें-**आयारो** (जैविभा प्रकाशन) पृ. ५७ पर उद्धृत टिप्पण।

२. इमस्सचेव जीवियस्स,
परिवंदण-माणण-पूयणाए,
जाई-मरण-मोएणाए,
दुक्खपडिघायहेउं। (**आयारे**, १.१०)

३. जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे। **वही,** १.९३

४. अट्ठे लोए परिजुण्णे। **वही,** १.१३

५. **स्थानांग सूत्र**, ४.२.६०

६. आलुपे... एत्थ सत्ये पुणे पुणे, **आयारो**, २.४०

७. प्लेटो - **रिपब्लिक**

८. दुस्संबोहे अविजाणए। **आयारो**, १.१३

९. पुढ़वि-कम्म-समारभेण पुढ़वि-सत्थं समारभेमाणे अण्णे वणेगरुवे पाणे विहिंसइ। **वही** , १.२७

१०. " Peace has to be discussed and understood not only as peace among nations, but also within society, among and within human beings and

certainly also with nature"

११. इयाणिं णो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं । आयारो, १.७०

१२. जे पमत्ते गुणटिठए, से हु दंडे पवुच्चति । **वही** , १.६९

१३. जैसे उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (एन. ए. टी. ओ.) का उदय साम्यवादियों के विरुद्ध हुआ था ।

१४. **विजय के आलोक में** (मुनि नथमल) पृ. ७-९

१५. पुढ़ो सत्थं पवेइयं । अदुवा अदिण्णादानं । **आयारो** १.५७-५८

१६. **वही** , १.१-३

१७. **वही** , १. १४७-४८

१८. **वही** , ५.१०१

१९. आयंकदंसी अहियं ति नच्चा । **वही** , १.१४६

२०. जमिणं अण्णमण्णावतिगिच्छाए पडिलेहाए ण करेइ पावं कम्मं, कि तत्थ मुणी कारणं सिया ? **वही** , ३.५४

२१. **वही** , ४.१-२

२२. **वही** , १.३७

२३. अत्थि सत्थं परेण परं, पात्थि असत्थं परेण पर । **वही**, ३.८२

२४. जे आयारे न रमंति । आरंभमाणा विणयं वयंति । **वही**, १.७०.७१

मूल्य - संरक्षण में कानून का नैतिक पक्ष

मनुष्यता मूल्योत्पन्न मानी गयी है क्योंकि उनके बिना जीवन में श्रेष्ठता की अभिव्यक्ति और अनुभूति संभव नहीं है। मूल्यों के इस महत्त्व एवं प्रभाव के कारण उनके संरक्षण का प्रश्न चिन्तनशील मनुष्य के समक्ष सदैव बना रहा है। मूल्यों की आत्मनिष्ठता और वस्तुनिष्ठता का विवाद [१] बने रहने पर भी उनके इस महत्त्व और सार्थकता में कोई अन्तर नहीं आया कि मूल्यों का बना रहना समाज की स्वयं की व्यवस्था एवं सुचारुता के लिये आवश्यक है। यह भी विवाद और विरोध का विषय रहा कि किन मूल्यों को अथवा किस तरह के मूल्यों को प्राथमिकता [२] दी जाय जिससे कि व्यवस्था के बने रहने अथवा उसके परिवर्तित होकर अनुकूल होने की प्रक्रिया विपथगामी न हो। फिर भी, यह स्थिति उस सीमा तक नहीं पहुँची है जहाँ जाकर मूल्यों की निरर्थकता, उनकी शून्यता स्थापित होती हो। मूल्यों में परिवर्तन और मूल्यहीनता की स्थितियों में भेद है।[३] यह संभव है कि मूल्य परिवर्तन को भ्रमवश मूल्यपतन मान लिया जाय, किन्तु वास्तविकता यह नहीं है। अतः मूल्यों की समाजगत अनिवार्यता की स्थिति यह स्वयमेव प्रस्तुत कर देती है कि मूल्य संरक्षण एक ऐसा दायित्व है जिसका निर्वाह प्रत्येक युग के समाज को करना पड़ा है।

मनुष्य जाति द्वारा संरक्षण के लिये किये गये प्रयत्नों, सिद्धान्तों एवं युगीन मापदण्डों के ऐतिहासिक विवरणों से बचते हुए हम इस संदर्भ में दो बातों को स्पष्ट रूप में रेखांकित कर सकते हैं पहली तो यह कि मूल्य-संरक्षण की प्रक्रिया Catheratic या परिशोधनात्मक रही है और दूसरी यह कि वह मूल्यज रही है। यहाँ संक्षिप्त में इनका विवेचन प्रांसगिक होगा।

रहस्यात्मक, अनिश्चित अथवा ऐतिहासिक सूत्र विहीनता होने पर भी मनुष्य जीवन जैवीय कारकों से उद्‌भूत है।[४] अतः प्रारंभिक स्थिति में जीवन के अस्तित्व का संरक्षण ही वास्तविक मूल्य संरक्षण माना गया है। संभवतया 'अहिंसा' इसी अर्थ में प्रथम मूल्य है और विकास के उच्चतम सोपान पर परम मूल्य है। अस्तित्वगत जैवीय कारकों के संरक्षित होने पर ही मानव समाज के अन्यपक्षीय मूल्यों के संरक्षण की प्रक्रिया आगे बढ़ती है। इस विकास यात्रा में कई पड़ाव आते हैं। पूर्व संरक्षित मूल्यों को अंतिम न मानकर उनका परिशोधन करते हुए यह प्रक्रिया आगे बढ़ती है। इस दृष्टि से पाश्चात्य नीतिशास्त्र

का इतिहास परिशोधन का इतिहास ही है।

दूसरी ओर मूल्य संरक्षण की प्रक्रिया नवमूल्योत्पादिका भी रही है। यह नहीं माना जा सकता है कि पूर्व स्थापित मूल्यों का संरक्षण ही इस प्रक्रिया में होता हो अपितु वह परिशोधन करते हुए नवीन मूल्यों की स्थापना भी करती है।नवीन मूल्योत्पादन के लिये उत्तरदायी घटकों एवं परिस्थितियों का विवेचन करना यहाँ हमारा आशय नहीं है और न वह प्रासंगिक होगा। किन्तु यह कहना पर्याप्त होगा कि मूल्य-संरक्षण की प्रक्रिया मूल्योत्पादिका भी रही है जिसके फलस्वरूप नैतिक विकास की गति में त्वरितता आई है।

मूल्य-संरक्षण की प्रक्रिया में इन दो बातों परिशोधात्मकता एवं नवमूल्योत्पादन के आधार पर जब हम नैतिक निर्णय, निर्णय के औचित्यीकरण के सिद्धान्त एवं उत्तरदायित्व आदि को देखते हैं तो यह स्पष्ट होता है कि मूल्य-संरक्षण में अन्-नैतिक (Non-Moral) माध्यमों की सक्रिय एवं प्रभावशाली भूमिका रही है। उन्हीं में से एक कानून है।[५]

'कानून' क्या है ? के संदर्भ में हमें कई तरह के उत्तर प्राप्त होते हैं। जैसे नियमों की वह व्यवस्था जो बाध्यतामूलक हो अथवा संप्रभुता द्वारा दिये गये आदेश, अथवा परम्परागत नैतिकता की ऐसी औपचारिक अभिव्यक्ति जिसे राज्य द्वारा लागू किया जाता हो। स्पष्ट करने के लिये कानून के विषय में यह भी कहा जाता है कि कानून वह है जिसे न्यायालयों में न्यायाधीश निश्चित करते हैं अथवा नियमों की वह व्यवस्था जो यातना देने की स्वीकृतियुक्त हो।[६] कानून के बारे में दिए गये ये सभी उत्तर दो शब्दों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करते है। प्रथम 'बाध्यतामूलक' और दूसरा 'यातना देने की सहमति'। कानून में जो अनिवार्यता का अंश है वह इन दोनों शब्दों पर आधारित है। अतः इस स्थिति पर विचार करना आवश्यक है।

सामूहित स्वीकृति से उत्पन्न 'राज्य' समाज की ऐसी संस्था रही है जो मनुष्य की आवश्यकताओं से लेकर उसके विचारों और भावनाओं पर व्यापक प्रभाव डालती रही है। यह कम ही संभव हुआ है जबकि मनुष्य ने राज्येतर विचारणा को प्रतिपादित करके उसे दीर्घजीवी बनाया हो।[७] प्रारंभ में राज्य ही कानून था किन्तु नैतिक विकास की स्थिति ने राज्य एवं कानून को पृथक् सत्तात्मक धरातल प्रदान किया। आदर्शात्मक रूप में कानून को राज्य का नियंता माना गया है और उसके ऐसा मानने के पीछे कानून में निहित वह

नैतिक तत्त्व है जो उसकी मूल्य संरक्षण की क्षमता पर आधारित है। कानून में से नैतिक तत्त्व के रहित होने पर कानून स्वयं अस्तित्वहीन होने लगता है। किन्तु कानून के समक्ष यह सीमा सदैव रही है कि उसमें निहित नैतिक तत्त्व पर, उसके आधारों एवं घटकों पर की जानेवाली आपत्तियों पर वह स्वयं विचार नहीं करता। उदाहरणार्थ अमुक अपराध के लिये निर्धारित अमुक दण्डावधि का नैतिक औचित्य क्या है ? क्या पूर्वयुगीन दण्डावधि को उत्तरयुगीन स्थितियों में भी यथावत् मानना उचित है ? और यदि नहीं तो उसमें किए जानेवाले परिवर्तन का नैतिक औचित्य क्या होगा ? इस तरह के प्रश्नों से कानून अपना संबंध नहीं रखता और इसलिये उसे 'रूढिवादी' कह दिया जाना स्वाभाविक है।

किन्तु ऐसा नहीं है कि कानून में निहित तत्त्व में परिवर्तन न होता हो। यह अवश्य है कि ये परिवर्तन कानून स्वयं द्वारा न किये जाकर नीतिशास्त्रीय चिन्तन द्वारा किये जाते हैं। मानवीय व्यवहार के वांछनीय पक्ष के अध्ययन एवं उसके श्रेयस् के प्रतिपादन का दायित्व निर्वाह करने में नीतिशास्त्र ने कानूनी प्रावधानों को भी सम्मिलित किया है। फलस्वरूप वे प्रावधान जो नीति-निकष पर सिद्ध न हो सके, अन्ततः कानून को उन्हें समाप्त करना पड़ता है। यदि कानून में हुए परिवर्तनों को इस दृष्टि से देखा जाय तो प्रारंम्भिक काल से आज तक के सभी परिवर्तन नीतिगत चिन्तन के परिणाम ही सिद्ध होते हैं। इस आधार पर कानून को नीति सिद्धान्तों का क्रियात्मक पक्ष मानना अनुचित नहीं होगा, यद्यपि नीतिगत सिद्धान्तों को कानूनी रूप देने में कानून स्वयं की इयत्ता नहीं खोता है। वह उन्हें परिवर्तित करते समय स्वयं के साँचे के अनुसार ही कार्य करता है। यही कारण है कि नीति की दृष्टि से उचित कई कार्य अथवा तथ्य कानूनी रूप ग्रहण नहीं कर पाते हैं। उदाहरण के लिये 'अपाहिज की मदद करना' या 'अंधे को रास्ता पार करा देना' जैसे कार्य। नैतिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ऐसे कई व्यवहार - रूप है जो कानून की बाध्यतामूलक परिधि में सम्मिलित नहीं हो सके हैं। इसलिये उनके उल्लंघन पर कोई 'यातनात्मक प्रक्रिया' नहीं अपनायी जा सकती है। युगीन परिस्थितियों की मांग के अनुसार कई प्रकार के व्यवहार-रूपों को कानूनी परिधि मे लाया गया है जो पूर्व में इस परिधि में नहीं थे। नैतिक विकास का एक आयाम यह भी माना जा सकता है कि पूर्वयुग की तुलना में परवर्ती युग में कितने व्यवहार

रूपों को कानूनी रूप दिया गया है।

इस स्थिति पर ए. एल. गुडहार्ट [८] एवं अर्नेस्ट बारकर [९] की मान्यता यह है कि कानून नैतिक तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करते समय नीति की तुलना में नैसर्गिक नियमों की तरह की कार्यशैली अधिक अपनाता है। इसलिये कानून में नैतिक पक्ष गौण या ओझल हो जाता है। इस आधार पर ये विद्धान न तो कानून को यह अधिकार दिया जाना उचित समझते हैं कि वह नैतिक-परिस्थिति पर विचार करे और न यह ठीक समझते हैं कि नैतिक तथ्यों को परिवर्तित करके कानून उन्हैं कानूनी रूप दे। इस आशय के पीछे इन विद्धानों का तर्क यह है कि कानून की नैतिक तथ्यों के परिवर्तन की प्रक्रिया में उस पर (कानून पर)कोई नैतिक-नियंता नहीं होता, इसलिये उच्च प्रकार के नैतिक तथ्य भी अपनी गरिमा एवं सद्भाव सें वंचित होकर 'कुरूप' हो जाते हैं। इस तर्क के समर्थन में वे उन परिवर्तित नैतिक तथ्यों के कानूनी रूप के उदाहरण देते हैं जो समाज में प्रचलित हो गये हैं। इन उदाहरणों में सबसे प्रमुख है विवाह एवं तलाक का उदाहरण। विवाह जहाँ एक और सामाजिक-नैतिक तथ्य है वहीं दूसरी और तलाक एक कानूनी मुद्दा है। तलाक के समय कानूनी पूछताछ, खोज-अन्वेषण और बहस का स्वरूप विवाह को एक 'संविद' -निविद'के रूप में परिवर्तित कर देता है। यही स्थिति बँटवारा, बलात्कार एवं बदचलनी के व्यवहार-रूपों के बारे में भी देखी जा सकती है। इस प्रकार कानूनी रूप में ढले नैतिक तथ्य गरिमा हीन हो जाते है और इसी आधार पर उक्त विद्धान नैतिक परिस्थिति पर विचार करने और नैतिक-तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करने का अधिकार कानून को दिया जाना उचित नहीं समझते हैं।[१०]

किन्तु कानून को यदि नैतिक-तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करने से वंचित कर दिया जाय तो मूल्य-संरक्षण की समस्या जटिलतर हो जायेगी। कारण यह कि समाज में लोग स्वेच्छा से नैतिक बने रहने की तुलना में कानून के प्रति 'सम्मान, स्वीकृति एवं भय' के कारण अधिक नैतिक बने रहते हैं। नैतिक नियम की तुलना में कानून के नियम लोगों को अधिक प्रभावित-नियंत्रित करते हैं। यद्यपि कुछ नैतिक-चिंतक यहाँ यह मानते हैं कि बाह्य रूप से किया गया नैतिक-व्यवहार वस्तुतः नैतिक-व्यवहार नहीं है। ऐच्छिकता नैतिकता की प्रथम शर्त है। ऐच्छिकता की इस अनिवार्य शर्त

के कारण नीतिशास्त्र में 'संकल्प की स्वतंत्रता' की समस्या खड़ी हो जाती है। ऐच्छिकता के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करने मे पक्ष-विपक्ष में अनेक तर्क-वितर्कों की कतारें लगी हुई हैं। लेजरवुड [११] ने यह प्रयत्न किया है कि इन सभी पक्ष-विपक्ष के तर्क-विर्तकों को नैतिक, सामाजिक एवं मनोवेज्ञानिक क्षैत्रों में वर्गीकृत करके संकल्प की स्वंतत्रता का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट किया जाय। उनके अनुसार ऐच्छिकता का अर्थ यदि कारण निरपेक्ष स्वतंत्रता (Contra causal Freedom) है तो यह ऐच्छिकता धरती के मानवीय जीवन में अनुपलब्ध है। अतः संकल्प की स्वतंत्रता वह स्वतंत्रता नहीं है जो इस शब्द से ध्वनित होती है। कुछ अन्य विचारक स्वतंत्रता को नैतिकता के लिये पूर्व शर्त मानते हैं और इसके अभाव में नैतिक-विप्लव का खतरा अनुभव करते हैं।

लेजरवुड के इस निष्कर्ष बिन्दु पर संकल्प की स्वतंत्रता का विवाद समाप्त हो जाता हो, ऐसा नहीं है क्योंकि कीथ लेहरर [१२] यह कहते है कि जब कोई व्यक्ति संकल्प की स्वतंत्रता मानने के लिये अत्यधिक दुराग्रह करता है तो यह स्पष्ट है कि वह स्वतंत्रता को मानने के लिये बाध्य है (He is a determinist in accepting the freedom of will)

इस विवेचन से मूल्य संरक्षण के कानून के नैतिक पक्ष पर यह प्रकाश तो गिरता ही है कि नैतिकता के लिये ऐच्छिकता की अनिवार्य शर्त कुछ खुल जाती है और नियमों को लोगों के प्रति लागू करने में कानून को नैतिक स्वीकृति दी जा सकती है। यह स्वीकृति कानून के लिये मूल्य संरक्षण में सहायक होती है। दूसरी ओर यह इस दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है कि नीति द्वारा निर्धारित 'उचितता' के परिपालन में नीति स्वयं अक्षम है। इसलिये नीतिगत उचितता सैद्धान्तिक अथवा पुस्तकीय बनकर ही रह जाती है। अतः नीतिगत उचितता को व्यावहारिक रूप देने के लिये कानून ही माध्यम है। अनैतिक सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन में और प्रजातांत्रिक व्यवस्था की स्थापना में कानून की भूमिका उल्लेखनीय रही है।

कानून द्वारा यह सब किए जाने पर भी उसे नैतिक विषयों पर विचार करने अथवा निर्णय देने का अधिक़ार दिया जाना उचित नहीं माना जा सकता है। इसका कारण यह है कि उसके साँचे में नीतिगत चिन्तन के लिये सीमित आकाश है। इसलिये गुडहार्ट एवं बारकर की इस धारण को कि नैतिक परिस्थिति

पर विचार करने और निर्णय करने का कानून को अधिकार न हो, इस सीमा तक स्वीकार्य माना जा सकता है। किन्तु उनकी यह धारणा कि कानून को नैतिक तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करने का अधिकार भी न हो, स्वीकार नहीं की जा सकती है। इस स्वीकृति से मूल्य संरक्षण की प्रक्रिया में कानून की भागीदारी नगण्य हो जाती है और यह स्थिति हमें नैतिक अराजकता की ओर ले जा सकती है।

यहाँ यह प्रश्न पूछना स्वाभाविक प्रतीत होता है कि क्या कानून ने सदैव मूल्य संरक्षण की भूमिका निबाही है ? जनसामान्य की प्रतिक्रिया तो यह है कि कानून में लेशमात्र भी नैतिकतत्त्व नहीं है। वह प्रक्रियागत निर्जीव नियमों का ढाँचा मात्र है जिसे सक्षम, स्वार्थी एवं अनैतिक लोग अपने हितसाधन के लिये विखंडित करते रहते हैं। कानून का मूल्य संरक्षण का मुखौटा वस्तुतः उनके संरक्षण के स्थान पर विध्वंस ही करता है। यह प्रतिक्रिया एकांगी है क्योंकि कुछ उदाहरणों में ऐसा हो तब, भी पूरी कानूनी व्यवस्था पर यह प्रतिक्रिया लागू नहीं मानी जा सकती है। फिर, मूल्य-संरक्षण का दायित्व कानून पर ही क्यों माना जाय ? कानूनेतर क्षेत्रों का दायित्व कौन निबाहेगा? क्या वहाँ मूल्य संरक्षण की आवश्यकता नहीं है ? आधुनिक जीवन का उपलब्ध नैतिक दृश्य, नैतिक असफलताओं से भरा है। इस स्थिति के कारणों की समीक्षा करना हमारा प्रयोजन नहीं है किन्तु यह स्थिति मूल्य संरक्षण की असफलता को भी दर्शाती है। अतः एक कारण का उल्लेख करना प्रासंगिक होगा। वह कारण है नीतिशास्त्र का नियमवादी स्वरूप।

नियमों की खोज एवं स्थापना को अपनी अध्यवसाय मानने से नीतिशास्त्र 'ऋणों को चुकाया जाना चाहिये, या 'पड़ौसी से प्रेम करना चाहिये' जैसे नियमों को प्रचारित करने में तो सफल रहा है किन्तु इनकी क्रियान्विति के पक्ष की समस्याओं को सुलझाने में उतना सफल नहीं रहा है। फलस्वरूप ऋण कब और कितनी जल्दी चुकाया जाय अथवा प्रेम किसे कहा - बताया जाय और पड़ौसी किसे माना जाय, कितने माने जाँय आदि प्रश्न उपुर्यक्त नियमों में दृढविश्वासी के लिये भी समस्या उत्पन्न करते हैं। इसलिये नियमों को स्थिति विशेष पर लागू करने से उत्पन्न समस्या बनी रहती है और पड़ोसी से प्रेम करने के नियम को मानने वाले भी झगड़ते देखें जा सकते हैं और ऋण लेने वाले यह कहते सुने जा सकते हैं कि वे वस्तुतः ऋण चुकाना चाहते हैं

किन्तु ऐसा करने में वे अभी असमर्थ हैं। विवाद प्रारम्भ हो जाता है और मूल्य भंग की स्थिति बन जाती है।[१३]

नियम निहित मूल्यों के इस प्रकार उल्लघंन होने से मूल्य टूटने का आभास अधिक होता है और मूल्य संरक्षण की आवश्यकता तीव्रतर होती है। किन्तु नियमों के उल्लघंन से मूल्य टूटने में नियमवादी नीतिशास्त्रीय स्वरूप प्रमुख कारण है। दूसरी ओर कानून स्थिति विशेष का आकलन करता है क्योंकि यही उसकी स्वरूपगतता है। कानून हमें हमारे उत्तरदायित्व से इस आधार पर मुक्त नहीं कर सकता कि अन्य लोगों ने भी तो उत्तरदायित्व नहीं निभाया है फिर हमें ही क्यों कठघरे में खड़ा किया जा रहा है ? किसी एक व्यक्ति द्वारा नियम की अवहेलना किसी दूसरे द्वारा अवहेलना करने का आधार कानून की दृष्टि में अमान्य है।[१४] फलस्वरूप वह व्यक्ति को उत्तरदायी ठहराकर दण्ड निर्धारित कर देता है। कानून की यह स्थिति नियमवादी दोष से मुक्त होने के कारण मूल्य संरक्षण में अधिक सहायक है।

इस समस्त विवेचन के परिप्रेक्ष्य में मूल्य संरक्षण, कानून और नैतिकपक्ष के त्रिभुजात्मक संबंध की परिधि में कुछ बिंदु स्पष्ट रूप से उभरकर हमारे सामने आते हैं। प्रथम यह कि मूल्य संरक्षण जो मूल्य परिवर्तन एवं स्थापन को भी स्वयं में सम्मिलित करता है, सामाजिक व्यवस्था की सुचारुता के लिये अपरिहार्य है। इस अपरिहार्यता के रथ को युगों-युगों से गतिमान करने वाले दो चक्र हैं - नीति एवं कानून। नीति भविष्य एवं विकास की ओर उन्मुख है जबकि कानून निर्धारित सीमा में नीति के प्रावधानों को क्रियात्मक रूप में परिवर्तित करने का माध्यम है जो स्वयं अन्-नैतिक (Non-Moral) है।

दूसरा यह कि स्वरूपात्मक दृष्टि से अन्-नैतिक होने पर भी कानून में नैतिक तत्त्व निहित है किन्तु वह नैतिक तथ्यों को कानूनी रूप में परिवर्तित करने के फलक तक ही सीमित है। नीति, स्वयं द्वारा मान्य औचित्य की परिपालना करवाने में असमर्थ है और इस स्थिति में कानून उसके लिये सकारात्मक-सहयोगी भूमिका निर्वाह करता है।

तीसरा यह कि मूल्य संरक्षण के लिये नीति की कानून पर निर्भरता क्या उत्तरोत्तर उसके नैतिक तत्त्व का विस्तार करते हुए उसे नैतिक परिस्थिति पर विचार करने और निर्णय करने का अधिकार दे देगी अथवा कानून ही नीति की सम्पूर्णता को ग्रहण कर लेगा ? कानून ने इस दिशा में कदम बढ़ाना प्रारम्भ कर

दिया है क्योंकि कानून अब 'अपराध और न्याय' तक ही सीमित नहीं है अपितु समानता, सामाजिक न्याय, अन्तर्राष्ट्रीय संतुलन, पर्यावरण और विश्वशान्ति के लिये भी प्रभावशाली माध्यम बनता जा रहा है।

इस स्थिति में नीति-चिन्तकों के समक्ष यह प्रश्न है कि वे किस सीमा तक कानून द्वारा ग्रहण किये जा रहे नीति क्षेत्रको स्वीकार-अस्वीकार करते हैं ? उनकी इस स्वीकृति-अस्वीकृति पर ही भविष्य के नीतिशास्त्र का स्वरूप निर्भर है। यह उत्तरदायित्व नीति चिन्तकों के लिये न केवल गुरूतर है अपितु निर्णायक भी हो सकता है।

दर्शनविभागाध्यक्ष **डॉ. एस. आर. व्यास**
दर्शन विभाग, सु. वि. वि.,
उदयपुर (राज) ३१३००१

टिप्पणियाँ

१. Titus, **Living Issues in Philosophy**, p. 27
२. Frankena, **Ethics**, p. 149-53
३. Titus, **Living Issues in Philosophy**, p. 48
४. A. M. Turing, **Computing Machinery and Intelligence**, p. 359
५. Benn and Peters, **Social Principles and Democratic State**, p. 59
६. **वही** , पृ. ५७
७. **वही** , पृ. ६६
८. A. L. Goodhart, **English Law and Moral Law** p. 19, 27-28
९. Ernest Barkar, **Principles of Social and Political Theory**, p. 37
१०. Dennis Thomson, **Can a Machine be Conscious**, p. 371
११. Ledgerwood, **The Freewill Controversy**, p.138
12. Keith Lehrer, **An Empirical Disproof of Deteminism** p. 227
13. Benn and Peters, **Social Principles and Democratic State**, p. 69-71
14. वही, पृ. १३१

अहिंसा : शांति के संदर्भ में एक मूल्यांकन

आज भारत के राष्ट्रीय, सामाजिक और राजनैतिक परिदृश्य में अस्थिरता, विघटनात्मकता और जटिलता तथा मानवीय संवेदनहीनता के जो चित्र दिखाई पड़ रहे हैं, यह अनायास, अकस्मात् या मात्र सौ-दो सौ वर्षों की घटनाओं का परिणाम या एक-दो व्यक्तियों के या संस्थाओं के कारण नहीं है। इसके पीछे गत दो हज़ार वर्षें में उभरी दार्शनिक, राजनैतिक व साम्प्रदायिक प्रवृत्तियां अधिक सहयोगी रही हैं। वर्तमान दुरवस्था का कारण समाज के मस्तिष्क और 'बाहु' की समन्वयहीनता और विकृतियां है। वैचारिक और दार्शनिक रूढ़िवाद आज इतना कट्टर हो गया है कि आज इनके विपरीत कुछ कहना दुस्साहस ही कहा जायेगा। जैन, बौद्ध सम्प्रदायों की अहिंसा को अशोक जैसे सम्राट ने स्वीकार कर अत्युदारता का मार्ग अपनाकर युवाशक्ति को शत्रुद्वेषी भावना से विमुख किया। वहीं दूसरी ओर शंकराचार्य ने जीवन के यथार्थ-मानव-अस्मिता-को तथा लम्बी परम्परा से महान् ऋषियों द्वारा अपौरुषेय घोषित वेदों को अविद्या, अज्ञानजन्य मानकर, प्रमाण-प्रमेय व्यवहार में पशु और मानव को समकक्ष मानकर, जीवन के भौतिक और अध्यात्मिक पक्षों को; कर्म और ज्ञान को, परस्पर प्रतिद्वंदी बनाकर अपने विचित्र तर्कों से मानव-अस्मिता को निर्मूल; असहाय और भ्रान्त घोषित कर दिया। 'औपनिषदिक विचारधारा से जब बौद्ध और जैन धर्म निकले तब उन्होंने सन्न्यास को बहुत अधिक महत्त्व दे डाला एवं लोकाराधना का महत्त्व उसी परिणाम को न्यून हो गया। तब से भारतवासी कर्म को हीन, गार्हस्थ्य को मलिन तथा सन्न्यास को देदीप्यमान कर्म समझने के आदी हो गए। बौद्ध और जैन विचारधाराओं का प्रभाव हिन्दुत्व पर भी पड़ा और उसी के फलस्वरूप प्रस्थानत्रयी की टीका निवृत्ति की सिद्धि के लिए की जाने लगी। परिणाम यह हुआ कि हज़ारों वर्षे तक यह सुनते सुनते कि गार्हस्थ्य हीन और सन्न्यास उच्च धर्म है, भारत के गृहस्थ भी विचारों से संन्यासी हो गए एवं समाज में फैले हुए अविचारों तथा देश पर आने वाली विपत्तियों का सामना करने की अपेक्षा वे सदैव मंदिरों में आरती सजाने तथा प्राणायाम पूर्वक मोक्ष खोजने को अपना महत् कर्म मानने लगे।'[१] अद्वैत पर फिर कभी; सम्प्रति अहिंसा का ही मूल्यांकन किया जाएगा।

परामर्श (हिंदी) खण्ड १८, अंक ४, सितंबर १९९७

व्यक्तिगत जीवन में अनेक साध्यों और साधनों में से एक के रूप में अहिंसा की स्वीकृति भारतीय विचार परम्परा में नयी बात नहीं थी। लेकिन जैन बौद्ध सम्प्रदायों के प्रभाव से अहिंसा व्यक्ति के व्यवहार में महत्त्वपूर्ण होती हुई सामाजिक जीवन पर भी हावी हो गयी। यहाँ यह बात भी ध्यान देने की है कि इसका व्यापक प्रचार राज्य द्वारा महत्त्व दिए जाने के बाद ही हुआ। यह महज संयोग नहीं था कि प्राक्‌बौद्ध काल में विदेशियों के आक्रमणों ने भारत को न तो प्रभावित किया और न ही वे पश्चिमोत्तर भारत से आगे बढ़ सके। यह काल था मौर्य सम्राज्य की स्थापना का। दिग्विजय की प्राचीन वैदिक परम्परा को चन्द्रगुप्त-चाणक्य ने; चन्द्रगुप्त के पुत्र बिन्दुसार ने फिर, महापराक्रमी सम्राट् अशोक ने सैन्य शक्ति व शत्रु-द्वेषी भावना से प्रेरित और 'राष्ट्र' की भावना से ओतप्रोत होकर मौर्य साम्राज्य की स्थापना और विस्तार का कार्य किया। इस काल में विदेशी आक्रमणकारियों को असफलता का ही सामना करना पड़ा क्योंकि समाज में वैदिक धर्म की, वर्णाश्रम व्यवस्था की महत्ता थी। जीवन के भौतिक पक्ष की भी महत्ता थी। अशोक के समय में और भारतीय इतिहास में संभवतः प्रथम बार, वर्ण-व्यवस्था के विरोधी तथा भौतिक सम्पन्नता को असार मानने वाले सम्प्रदाय को राज्याश्रय मिला, जिसने राजनीति को भी संचालित करना आरंभ किया। परिणामस्वरूप अपने हिंसक, शत्रुद्वेषी और राष्ट्रीयता की भावना से 'सम्राट' बना अशोक; श्रमणत्व की ओर चल पड़ा। राज्यनीति में श्रमतत्व को 'महानता' और विरुद भी मिला। इस 'महानता' की कीमत के रूप में न केवल मौर्य साम्राज्य का पतन हुआ, अपितु राष्ट्रीय शक्ति के ह्रास की प्रक्रिया भी आरंभ हो गयी। कलिंग युद्ध में हुई अपार जनहानि ने अशोक को हिंसा से विरत किया। उसका हृदय परिवर्तन हो गया। सैनिक उन्नति के प्रति, युद्ध अभ्यास के प्रति वह उदासीन हो गया। इस परिवर्तन के कारण 'उसकी सारी नीतियां परंपरागत भारतीय धर्म और राष्ट्रीयता की विरोधी हो गई। उसने सार्वभौमिकता, अन्तर्राष्ट्रीयता और मानववादिता के आवेश और आग्रह में राष्ट्रीय क्षमता और शत्रुद्वेषी भावना को शिथिल किया'।[२] अशोक की नीति मध्य और पश्चिम एशिया के राजनीतिक कुचक्रियों और रक्तपिपासु डाकुओं पर प्रभाव नहीं जमा सकी.... अशोक के महान व्यक्तित्व के उठ जाने से कारण सैनिक दृष्टि से दुर्बल, राजनीतिक कूटनीति में असावधान भारत पर उनके आक्रमण आरंभ हो गए।[३] यह

अहिंसावाद का ही माहात्म्य था।[४]

अहिंसा शब्द अनेकार्थक और व्यापक दृष्टिकोण वाला है-ऐसा अहिंसा के बारे में जानने के प्रयासों से ज्ञात होता है। अहिंसा शब्द का अर्थ है हिंसा का त्याग। हिंसा में मन, वचन और कर्म तीनों से होने वाली हिंसा निहित है। अहिंसा का तात्पर्य मनुष्य द्वारा अन्य को अल्पतम हानि भी न पहुंचाना। अहिंसा को एक निषेधात्मक आदर्श मात्र न मानकर, कहीं अधिक व्यापक माना गया है। इसका मतलब न केवल दूसरों को हानि पहुंचाने से बचना है; बल्कि उसके उपकार में सचेष्ट रहना भी है।[५] 'अहिंसा' अनिष्ठहीनता की नकारात्मक स्थिति नहीं है। 'अपने विशुद्धतम अर्थ में अहिंसा का अर्थ है अधिकतम प्रेम, अधिकतम उदारता'[६] अहिंसा के प्रयोगकर्ता महात्मा गांधी इसके अर्थ को और अधिक स्पष्ट करते हैं। 'जो व्यक्ति अहिंसक होने का दावा करते हैं उनसे यह अपेक्षित है कि वह अनिष्टकर्ता द्वारा उसे पहुंचाई गई समस्त क्षति को सह लेगा। इस प्रकार समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का पूर्ण तिरोभाव ही अहिंसा है।'[७]

इतने अधिक उद्धरण प्रस्तुत करने का उद्देश्य केवल इतना है कि अहिंसा शब्द का कोई अर्थ छूट न जाय और गांधी को उद्धृत करने का कारण यह है कि जीवन के हर क्षेत्र में अहिंसा का जितना अधिक महिमागान और आग्रह गांधी ने किया उतना गत कई शताब्दियों में किसी भारतीय ने नहीं किया।

पूर्वोक्त उद्धरणों में अहिंसा के जो अर्थ प्रकट होते हैं, उन्हें निम्नानुसार लिखा जा सकता है -

१. **हिंसा का** मन, वचन और कर्म में **त्याग**।

२. अपने प्रति किये गये **अत्याचारों** के प्रति **सहनशीलता**।

३. **बुराई** के बदले में भी **भलाई** करने की भावना।

४. अत्यधिक **प्रेम** और उदारता।

अहिंसा का पहला रूप है मनसा वाचा कर्मणा हिंसा न करना। पहले पाठक स्वयं से ही यह प्रश्न पूछे कि क्या यह संभव है ? यदि है तो किस क्षेत्र में, किन सीमाओं में, या फिर, सार्वभौमिकता यदि संभव नहीं है तो क्यों ? क्या इसलिये कि मानव स्वभावतः हिंसक है ? या इसलिये कि मानवीय कमजोरी उसे हिंसा पर विवश करती है ?

पहले तो यह देखना होगा कि क्या जीव हत्या या किसी को शारीरिक

क्षति पहुंचाना किसी व्यक्ति की प्रकृति होती है ? संभवतः सभी का उत्तर होगा-नहीं। हत्या या हिंसा किसी व्यक्ति का आदर्श या उद्देश्य नहीं होता। प्रत्यक्ष अथवा परोक्षतः हिंसा का उद्देश्य होता है 'स्व अस्तित्व' की स्थापना एवं रक्षा। फिर चाहे यह व्यक्ति के स्तर पर हो या समुदाय के। इस दृष्टि से न्यूनतम हिंसा है वानस्पतिक जीवों की हत्या। चूंकि इस हिंसा में प्रतिरोध का हमें आभास नहीं होता (कहीं यह हमारी संवेदनहीनता के कारण तो नहीं?) हिंसित वनस्पतियों की पीडा या कराह हमें सुनाई नहीं पड़ती, इसलिये उन्हें काटा जाता है। इनसे बढ़ कर हिंसा होती है, मानवेतर प्राणियों की; जिन्हें आहार माना जाता है। इनकी हिंसा को मनुष्य ने कभी हत्या या अपराध घोषित नहीं किया। अहिंसा का प्रचार करने वाले अशोक ने भी कभी इन निरीह प्राणियों के हत्यारों को अपराधी घोषित करके दण्ड दिया हो-ऐसा प्रमाण नहीं मिलता।

मनुष्य द्वारा मनुष्य की, अबोध, निरीह पशु-पक्षियों की हत्या उचित है या नहीं - यह सम्प्रति हमारे चर्चा का विषय नहीं है। यहां हम केवल एक सार्वभौमिक प्राकृतिक नियम की ओर संकेत करना चाहते हैं - 'वीर भोग्या वसुन्धरा'। मनुष्य इस नियम का निर्माता नहीं है। वह केवल इस नियम से होने वाली हानि से स्वयं को बचाने की, और इससे होने वाले लाभ को प्राप्त करने की योजना बनाकर इस नियम का पालन करता है। मनुष्य का, समूह या समाज बनाकर रहना इसी योजना का परिणाम है। यद्यपि इस बात में विवाद हो सकता है, और जो हमारे लिए यहां महत्त्वपूर्ण नहीं है कि यह योजना मानवकृत है या ईश्वरीय या प्राकृतिक। मानव समाज के इतिहास से ऐसे अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं जो इस अटल नियम की पुष्टि करते हैं।

यहां हम अहिंसा के अर्थ को कुछ और व्यापकता प्रदान करेंगे। यह कहा जा सकता है कि किसी का अहित करने के उद्देश्य से की गई हिंसा ही हिंसा है। अनजाने में अथवा सुधार के लिये की गई हिंसा हिंसा नहीं है। तब फिर हिंसा-अहिंसा की महत्ता कहां रही ? तब तो हमें बजाय हिंसा अहिंसा के विवाद को उठाने के, 'साध्य के अनुरूप' उपयोगी साधन के सिद्धान्त को स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसी स्थिति में अहिंसा को एक सार्वभौमिक आदर्श साधन न मानकर देश-काल-प्रयोजन के अनुकूल साधन के रूप में सीमित मानना होगा। ऐसी अवस्था में हिंसा-अहिंसा का प्रश्न महत्त्वहीन हो

जाता है, महत्त्वपूर्ण होता है, उपयोगिता का आदर्श।

वास्तव में मानव के लिए हिंसा अहिंसा का प्रश्न कभी महत्त्वपूर्ण नहीं रहा। ये दोनों ही किसी साध्य के साधन मात्र हैं। शक्तिशाली के लिये हिंसा साधन है तो शक्तिहीन के लिये अहिंसा साधन रही है। जब तक ये साधन सामान्य भावेन ग्रहण किये जाते हैं तब तक कोई समस्या नहीं होती। लेकिन जब इनमें से किसी एक को प्रमुख मानकर सर्वदा सर्वत्र इसके उपयोग की बात कही जाती है तो, न केवल अस्वाभाविक हो जाता है बल्कि साधन के प्रयोगकर्ता को नष्ट करता है। साथ ही यह भी सत्य है कि मनुष्य किसी का मात्र अनिष्ट करने के लिए हिंसा नहीं करता। हाँ, यह हो सकता है कि किसी कारणवश किसी का अनिष्ट कर, उससे अन्य उद्देश्य की सिद्धि की जाय। यह अवश्य विचारणीय हो सकता है कि हिंसा कब और कितनी की जाय। अभिप्राय यह है कि मात्र अनिष्ट करना उद्देश्य नहीं होता। विक्षिप्त, पागल आदि अपवाद है। अतः इसे यदि हिंसा नहीं कहा जा सकता तो फिर यह मानना होगा कि हिंसा होती ही नहीं। तब अहिंसा की बात ही क्यों?

अहिंसा का दूसरा रूप है अपने प्रति बुराई करने वाले की भी भलाई करने की भावना अर्थात् अनिष्टकर्ता का हितचिन्तन। यह एक वांछनीय भावना है लेकिन परिस्थिति सापेक्ष ही। यदि किसी के कार्य से हमारा अहित हो रहा हो, यद्यपि उस कार्य के कर्ता का उद्देश्य वैसा नहीं है तब, उसका हितचिन्तन किया जा सकता है। भ्रमवश, गलती से अथवा क्षणिक आवेश में किसी ने हमारा अनिष्ट कर दिया तो भी उसका हितचिन्तन किया जा सकता है। लेकिन कोई जान बूझकर अपने लाभ के लिये हमारा निरन्तर अनिष्ट कर रहा हो तो, इस अवस्था में भी भलाई करने की बात सोचना अपवाद हो सकता है, विवशता हो सकती है। यह व्यवहार न तो प्रशंसनीय है, न ही 'सुधार' में यह सक्षम होता है। हाँ, अपना सब कुछ खोकर, अपना अस्तित्व नष्ट होने पर भी ऐसा करना किसी व्यक्तिगत आदर्श के रूप में कोई व्यक्ति स्वीकार कर सकता है लेकिन यह अस्वाभाविक होगा या फिर अमानवीय अथवा अतिमानवीय ही होगा; मानवीय आदर्श नहीं। ऐसा इसलिये नहीं कि हम मानव को हिंसक मानते हैं; बल्कि इसलिये कि अहिंसा को बिना शर्त सर्वकालिक आदर्श के रूप में किसी भी व्यक्ति ने, समाज ने या राष्ट्र ने व्यवहार में स्वीकार ही नहीं किया। यह अस्वीकृति साहस या सहनशीलता

की कमी के कारण नहीं, बल्कि उसकी सीमित युक्ति-युक्तता के कारण और मानव प्रकृति के विपरीत होने से ही है। मानव सदा ही अहिंसक रहे या सदा ही हिंसक रहे यह संभव नहीं। ऐसे में अहिंसा के आदर्श को व्यक्ति या समाज पर थोपने का प्रयास उसके साथ अन्याय ही होगा। इस अन्याय की चर्चा लेख में यथा स्थान की जाएगी। यहां इतना ही व्यक्तव्य है कि बुराई के बदले भलाई एक अप्राकृतिक आदर्श होने से, स्थापित नहीं हो सकती। और यदि इस पर बलात् आचरण करने का प्रयास किया गया तो यह आचरणकर्ता व्यक्ति राष्ट्र या समाज के लिए विनाशकारी होगा। बुद्ध, गांधी, आदि ने यदि इसका पालन किया है तो ऐसा इसलिए कि उन्हें हिंसा की आवश्यकता ही नहीं पड़ी अर्थात् उनके जीवन में ऐसे लोगों से उनका सामना नहीं हुआ जो सर्वथा आसुरी प्रवृत्ति के हो। या फिर वे इतने व्यक्तिनिष्ठ रहे हों कि ऐसी परिस्थितियों से भी उदासीनता उनमें बनी रही।

अहिंसा का तीसरा रूप अपने प्रति किए गए अत्याचारों के प्रति सहनशीलता। यह पूर्वोक्त अर्थ के निकट है और उन्हीं कारणों से अस्वीकार्य भी। अपने प्रति किए गए अत्याचारों को सहना अत्याचार में वृद्धि और प्रसार में एक प्रमुख कारक होता है। भारत विभाजन के समय जो शर्मनाक घटनाएँ घटी थी, वे सब इस सहनशीलता के परिणाम ही थे। एक प्रसिद्ध उक्ति भी है- अन्याय करना पाप है, लेकिन अन्याय सहना उससे भी बड़ा पाप है। मानव जाति के लंबे इतिहास को जानते हुए भी अत्याचारों को सहने का उपदेश देना मानव-प्रकृति को न समझ पाना ही कहा जाएगा।

अहिंसा का चौथा रूप है, अत्यधिक प्रेम व अत्यधिक उदारता। प्रेम एक अत्यंत व्यापक और गूढ़ तत्त्व है। व्यापक इस अर्थ में कि यह सृष्टि के समस्त प्राणियों में पाया जाता है। यह बात अवश्य है कि इसके अनुभव की स्पष्टता आत्म-चेतना के विभिन्न स्तरों के अनुरूप होती है। फलतः मनुष्य में यह स्पष्टतम लक्षणों में अनुभूत और व्यक्त होता है। गूढ़ इसलिए कि अनुभव के स्तर पर यह जितना स्पष्ट होता है, शब्दों में उसकी अभिव्यक्ति उतनी ही अस्पष्ट होती है। प्रेम की परिभाषा देने का प्रयास न कर हम उसके कुछ लक्षणों की ओर संकेत मात्र करेंगे। माता-पिता, भाई, बहन, पुत्रादि के प्रति ममत्व प्रायः सभी में होता है। इस ममत्व के कारण इनसे ऐसा भावात्मक संबंध हो जाता है, जिसमें प्रेमी का अहं निष्प्रभावी प्रतीत होने लगता है।

प्रेमानुभूति की स्पष्टता और विस्तार ममत्व का समानुपाती कहा जा सकता है। व्यक्ति के ममत्व का दायरा जितना बड़ा हो, प्रेम का दायरा भी उसके अनुसार बढ़ता है। ममत्व प्रेम की पूर्वापेक्षा है और ममत्व के पूर्व ज्ञान अपेक्षित है। प्रिय के ज्ञान के बिना प्रेम नहीं होता। 'प्रेम' तब तक प्रकट नहीं होता जब तक प्रेमी से भिन्न व पृथक् कोई प्रिय न हो। अर्थात् प्रेम के लिए यह आवश्यक है कि कम से कम दो व्यक्ति हो। किसी व्यक्ति में प्रेम उसके अतिरिक्त कम से कम एक या अधिक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों केप्रति 'ममत्व' है। इसे एक कामचलाऊ परिभाषा के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। प्रेम के लिए प्रेमी में प्रिय के प्रति निष्कपटता तो आवश्यक है ही प्रिय में भी प्रेमी को बांधने की क्षमता होनी चाहिए। प्रिय का आकर्षक होना अत्यंत आवश्यक है। आकर्षक कई स्तरों व प्रकारों का हो सकता है। नख-शिख आकर्षकत्व से लेकर आचरण तक 'आकर्षक' के अंतर्गत ही सकते हैं। आकर्षण के अभाव में उदासीनता, तटस्थता तो हो सकती है, लेकिन प्रेम नहीं होता। फिर आकर्षित होने की कसौटियां भी भिन्न भिन्न होती हैं। सब में सबके प्रति आकर्षण हो; यह संभव नहीं है। अत्यधिक प्रेम और अत्यधिक उदारता 'मात्रा' की अधिकता के अर्थ में हो सकता है। जिस तरह मनुष्य सीमित है, उसी तरह उसके प्रेम का दायरा भी सीमित होता है। भारत के किसी कोने में रहने वाले एक व्यक्ति में, संसार के सभी व्यक्तियों के प्रति प्रेम हो, यह संभव नहीं है। घृणा न हो; यह हो सकता है। लेकिन घृणा न होना, प्रेम नहीं है।

सिद्धान्ततः; कल्पना में, यह संभव है कि हर व्यक्ति में 'यौक्तिक प्रेम' हो। लेकिन यह केवल वैचारिक ही होगा। मनुष्य सभी समान है। इसलिए सबसे प्रेम करना चाहिए, यह उक्ति 'युक्ति प्रेम' का रूप है। व्यवहार में, सक्रिय रूप से व्यक्ति, परिवार, समुदाय या राष्ट्र तक सीमित होता है। प्रेम तो विचारों सिद्धातों व आदर्शों के प्रति भी होता है। इनका ऐक्य या समन्वय 'विश्व प्रेम' की भावना को जन्म दे सकता है। लेकिन यह शाश्वत अनुपलब्ध आदर्श मात्र है।

यहां तक हमने केवल सांसारिक प्रेम की ही चर्चा की है। अब जरा दिव्य प्रेम की बात करें। दिव्य प्रेम दो ही 'प्रिय' से हो सकता है। स्वयं से और परमात्मा से। ऐसा कोई भी मनुष्य नहीं होगा, जिसमें दिव्य प्रेम न होता

हो। वास्तव में मानव का खण्ड -२ में अभिव्यक्त प्रेम; अभिव्यक्ति के माध्यम की सीमितता, भिन्नता और विषमता के कारण ही लौकिक होता है। सामान्यतः यह प्रेम स्वयं से ही होता है।[८] 'मानवीय स्व' तो सीमित व संकीर्ण होता है ही, उसकी आत्मा-जो कई प्रकार के तत्त्वों से बंधकर मानवीय स्व के रूप में अनुभूत होती है - भी अव्यापि और अल्पज्ञ होता है। इसलिये प्राकृतिक विषमताओं, अनेकताओं और विविधताओं का अतिक्रमण मानव के लिए संभव नहीं होता है। फलतः दिव्य प्रेममय होता हुआ भी उसका व्यवहार यथार्थ की स्वीकृति के आधार पर होता है। इसलिए उससे भी सर्वदा सर्वत्र अहिंसक होने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। श्रीकृष्ण के बारे में विख्यात है कि वह 'प्रेममय' थे लेकिन उन्होंने ही अर्जुन को भयंकर हिंसा के लिए तैयार किया।

वास्तव में प्रेम का हिंसा से विरोध नहीं है। इसी तरह अहिंसा की अनिवार्यता भी प्रेम में नहीं है। प्रेम हिंसा भी कराता है। भगतसिंह, चंद्रशेखर आदि हिंसा पर विवश हुए तो प्रेम के ही कारण। महाराणा प्रताप और उनके पुत्र अमर सिंह का आजीवन युद्धरत रहना भी प्रेम का परिणाम है। मातृभूमि से प्रेम इन सभी में था। अलग-अलग परिस्थितियों में अलग-अलग कारणों ने इन्हें हिंसा के लिए प्रेरित किया। इन हिंसात्मक क्रियाकलापों पर वैचारिक मतभेद अवश्यंभावी है, क्योंकि भेद यथार्थ है, शाश्वत है। हाँ, अवश्य कहा जा सकता है कि 'प्रेम' के साथ विवेक का उपयोग न्यूनाधिक होता है। घटनाक्रम में सम्मिलित और सक्रिय व्यक्ति के विचारों में निष्पक्षता संभव नहीं है। कल्पना कीजिए भारत विभाजन के समय पीड़ित व्यक्ति और आज के असम्बद्ध एक व्यक्ति में क्या तत्कालीन अत्याचारों पर समान प्रतिक्रिया हो सकती है? सामान्य परिस्थितियों में हर व्यक्ति का जीवन बिना हिंसा के ही चलता है। कोई भी मनुष्य हमेशा हिंसक नहीं होता; इसलिए उसे हमेशा अहिंसक बने रहने का उपदेश व्यर्थ है। दूसरी ओर अहिंसा के अत्यधिक प्रचार-प्रसार से समाज मिथ्यापथ पर चल पड़ता है। आसुरी शक्तियों के सामने जहां हिंसा अनिवार्य हो सकती है; वहीं अहिंसा के पथगामी पूरे मन से उन्हें कुचल भी नहीं पाते। फलस्वरूप अन्य लोग, आसुरी प्रवृत्तियों के शिकार बनते हैं।

विज्ञान और प्रौद्योगिकी उपलब्धियों ने, संचार प्रणाली के विस्तार ने

अलग-अलग भौगोलिक सीमाओं के घिरे मानव समुदायों को परस्पर परिचय प्रदान किया। मानव की सर्जन शक्ति और कौशल का प्रस्फुटन और पल्लवन हुआ। छोटे-छोटे समुदायों तक सीमित चिन्तन प्रक्रिया को व्यापकता प्राप्त हुई। विश्वबन्धुत्व के आदर्श की सीमा विस्तारित हुई और इन सबके साथ मानव जीवन सहजता से जटिलता की ओर उन्मुख होता जा रहा है; अब यह स्थिति है कि मानव जीवन वरदान है, पवित्र है, पुण्य फल है, आदि मानने के बजाय संघर्ष, नाटक और प्रयोग माने जा रहे हैं जो अनिश्चयात्मक और त्रिशंकु स्वरूप का संकेत देते हैं। समस्त बौद्धिक मन एक तनाव से युक्त होता जा रहा है। आशावादी लोग सुधार की, निराशावादी लोग विनाश की प्रतीक्षा में है। अंतर्राष्ट्रीय मानव मंच जहां परमाणु युद्धजन्य विभीषिका की आशंका से विचलित हैं, वहीं व्यक्तिगत जीवन भी अनेकानेक समस्याओं से त्रस्त है। इन सबसे वह मुक्त होना चाहता है। इन से मुक्त होकर वह जिस प्राप्तव्य की वह कल्पना करता होगा - संभवतः वहीं शांति कही जाती होगी। व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र तथा राज्य कई प्रकार की समस्याओं से ग्रस्त हैं। आजीविका, उत्पादन, उपभोग, हर स्तर पर, हर क्षेत्र में भ्रष्टाचार, संकीर्ण व स्वार्थ मनोवृत्तियां, युद्धभय, परस्पर प्रेम के स्थान पर अविश्वास, अनास्थाजन्य अनिश्चितता आदि कुछ समस्यामूल हैं। ऐसे में व्यक्ति और समाज की सहज गति अवरुद्ध होती है। सहज जीवन में व्यवधान मानव को गन्तव्य तक पहुंचने से रोकती है। उस या उन व्यवधानों से रहित अवस्था ही शायद शांति कही जा सकती है।

वास्तव में, स्वरूपतः शांति क्या है - कह पाना बहुत से लोगों के लिए शायद कठिन होगा। हो सकता है व्यक्तिगत स्तर पर संवेदनहीनता और असम्बद्धता के कारण या सौभागयवश प्राप्त समस्याहीन जीवन, जो लोग जी रहे हैं, उन्हें इसका पता हो। फिलहाल तो इतना ही कहा जा सकता है कि वह अवस्था जिसमें किसी भी प्रकार का व्यवधान न हो, सहज गतिशीलता में बाह्य दबाव न हो 'शांति' है। यह शांति की परिभाषा नहीं है। यह एक मान्यता मात्र है कि जो कुछ हमें अवांछित और निराकरणीय प्रतीत होता है, उसके न रहने से जो अवस्था होगी, जो अनुभूति होगी-उसे हमने 'शांति' कह दिया। लेकिन एक बात स्पष्ट और निर्विवाद है कि शांति अनुभूति का विषय है और पूर्णतः आत्मनिष्ठ है। समाज को शांत हम तभी कह सकेंगे, जब उसके

प्रत्येक घटक मनुष्य उसका अनुभव करें। एक भी व्यक्ति यदि उस अनुभव से वंचित है, तो कुछ व्यक्तियों को तो शांत कहा जा सकेगा, परन्तु समाज अशांत ही कहा जाएगा। इसलिए मानव व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से शांति स्थापना के लिए या अधिक स्पष्ट कहें तो - अशांति और उसके कारणों को दूर करने के लिए प्रयासरत है। व्यक्तिगत प्रयास के लिए साधन चर्चा प्राचीन भारतीय दर्शन सम्प्रदायों में पर्याप्त विस्तार से की गई है। यद्यपि वहां शाश्वत/पूर्ण शांति की चर्चा है, जिसके लिए धैर्यपूर्वक जन्म-जन्मान्तर तक प्रयास अपेक्षित है। तब भी इनमें से किसी सम्प्रदाय ने (मेरी सीमित जानकारी के अनुसार) तर्क अथवा युक्ति से यह सिद्ध नहीं किया कि शाश्वत शांति प्राप्ति के बाद पुनः व्यक्ति अशांति को प्राप्त नहीं होगा। साथ ही मानव के ज्ञात इतिहास व अतीत सम्बन्धी कल्पनाओं में कहीं ऐसा भी संकेत नहीं है कि पूर्ण समाज कभी अशांत या शांत रहा हो। अतः यह हमारे लिए अकल्पनीय है कि समूचा मानव समाज, संसार में जीवित हर व्यक्ति किसी एक अवधि में (निद्रा की बात हम नहीं करते) शांति का अनुभव करे।

मानव जीवन को व्यवधानरहित करने में अहिंसा की भूमिका पर नजर डालें तो पायेंगे कि वह नगण्य है। ऐसे व्यवधान जिसका उत्तरदायित्व मनुष्य पर नहीं है, के दुष्परिणामों का सहनशीलता के द्वारा ही सामना किया जा सकता है। इस सहनशीलता को अहिंसा कहना चाहें तो हमें आपत्ति नहीं होगी, लेकिन इस सहनशीलता को अहिंसा कहना क्या उचित होगा ?

मानव निर्मित व्यवधानों से उबरने के लिए युक्ति-संगत व्यवहार ही एक मात्र साधन है। व्यवहार का आधार वे गुण होने चाहिए जो मनुष्य को पशुओं से अलग श्रेष्ठ रूप में स्थापित करते हैं। इसे ही धर्म कहा जाता है। जो व्यक्ति जिस जगह है, वहां अपने सामर्थ्यनुसार धर्म की स्थापना की दिशा में प्रयासरत रहे। कर्तव्य पालन में हिंसा अहिंसा समयानुकूल ग्रहणीय है। किसी परमार्थिक स्वरूप की कल्पना कर, अहिंसा का प्रचार करना यथार्थ से पलायन है। हमारा आदर्श 'शांति' नहीं धर्म होना चाहिए। गलत आदर्श हमेशा अर्थहीन प्रयासों के रूप में व्यक्त होता है और निराशा ही हाथ लगती है। आदर्श निर्माण जीवन्त सत्य पर, ठोस यथार्थ पर आधृत होना चाहिए। मानव प्रकृति जैसी आज है वैसी हमेशा रही है और कोई कारण नहीं है, आगे भी वैसी न रहे। वह न तो सदा हिंसक होती है और अहिंसक। वास्तव में

मावन के सामने हिंसा अहिंसा गौण है। जरूरत पड़ने पर हिंसा न करना उसके स्वभाव में ही नहीं और बिना जरूरत के हिंसा करना भी उसके स्वभाव में नहीं है।

अब तक हमने अहिंसा को समझने का प्रयास किया और पाया कि मानव जीवन में अहिंसा को अपने व्यवहार का आदर्श नहीं माना जा सकता। यहां हमने प्रायः अहिंसा का अर्थ 'मनसा वाचा कर्मणा' हिंसा न करना ही लिया है अन्य किसी भी अर्थ में जो मात्र 'निषेध नही' या मात्र 'विध्यात्मक' हो हमारी समझ में नहीं आता। हिंसा नहीं होनी चाहिए-इसे कुछ शर्तों के साथ ही स्वीकार किया जा सकता है। प्रेम, दया, उदारता आदि के लिए किस भाषा दैन्य के कारण अहिंसा शब्द का प्रयोग किया जाय - यह भी हम नहीं समझ सके। यह ठीक है कि ये शब्द जिन अर्थों का संकेत देते हैं, वे अहिंसात्मक होते हैं। यद्यपि यह अनिवार्य नहीं है भारतीय इतिहास के संदर्भ में यह भी हमने देखा कि अहिंसा के प्रचार-प्रसार से भारत की राष्ट्रीय अस्मिता भी खतरे में पड़ी; भारत गुलाम हुआ और अन्ततः राष्ट्र की कल्पना, अवधारणा भी नष्ट होने लगी। जिन समुदायों व राष्ट्रों ने अहिंसा को आदर्श नहीं बनाया वे उत्तरोत्तर प्रगति करते रहे और अहिंसक भी बन गये। हमने यह भी स्वीकार किया है कि पूर्णतः हिंसा रहित, समाज की कल्पना या स्थापना संभव नहीं है। यह इसलिये नहीं है कि इस दिशा में सहीं प्रयास नहीं हुए, बल्कि इसलिए यह मानव स्वभाव या प्रकृति के प्रतिकूल है।

मानव समाज के व्यवहार के अवलोकन से ज्ञात होता है कि समाज में सात्त्विक और तामसी प्रवृत्ति के लोग कम होते हैं, राजसी प्रवृत्ति के लोग अधिक। समाज में शांति अशांति की अवस्था राजसी प्रवृत्ति के लोगों पर निर्भर करती है। राजसी प्रवृत्ति के लोग जब तामसी लोगों के वश में होते हैं, तो अनाचार, अपराध, हिंसा, बढ़ने लगती है। लेकिन सारे राजसी प्रवृत्ति के लोग एक साथ तामसी प्रवृत्ति के पक्ष में नहीं हो जाते। इसलिए समाज में कभी पूर्णतः अशांति या अनाचार नहीं होता। वैसे ही पूर्णतः शांत और सात्विक समाज भी अकल्पनीय है। संसार में समस्त संघर्ष सात्त्विक और तामसी प्रवृत्ति के बीच होता है। राजसी प्रवृत्ति इनकी प्रवर्तक होती है। सृष्टि अनंत काल से ऐसी ही चली आ रही है। कभी समाज में सभी सात्त्विक प्रवृत्ति के लोग ही रहे या कभी केवल तामसी प्रवृत्ति के लोगों का ही आधिपत्य रहा

हो, ऐसा प्रमाण इतिहास में नहीं मिलता।

कोई गुण क्यों कभी आधिपत्य जमा लेता है - इस प्रश्न का उत्तर देने में हम असमर्थ हैं और यह प्रस्तुत लेख में अनावश्यक भी है। केवल इतना ही सम्प्रति ग्रहणीय है कि समाज में अच्छे और बुरे, दैवी और आसुरी प्रवृत्ति के लोग रहते हैं। मध्यम प्रकार के लोग जिन्हें, न दैवी प्रवृत्ति का कहा जा सकता है न आसुरी प्रवृत्ति का - कभी समाज की समस्या नहीं होते यदि आसुरी प्रवृत्ति के लोगों का नाश कर दिया जाये तो वे स्वयं व दैवी प्रवृत्ति के लोगों की ओर झुक जाते हैं। अतः आसुरी प्रवृत्ति के लोगों के नाश के लिए हमें हर स्तर पर हिंसा की आवश्यकता होती है। चूँकि आसुरी प्रकृति के लोगों की संख्या भी कम होती है। अतः हिंसा भी कम होती है। इसके विपरीत अहिंसा की आदर्श साधना के रूप में स्वीकृति और प्रचार से आसुरी प्रकृति के लोगों पर अंकुश लगाना कठिन होता है और हमारे न चाहते हुए भी समाज में आसुरी प्रकृति के लोगों की शक्ति बढ़ती है।

जहां तक विश्व शांति का प्रश्न है - वह पूर्ण रूपेण कभी स्थापित नहीं होती। मानव समाज में लम्बे इतिहास को जानते हुए भी हम पूर्ण विश्व शांति की कामना करते हैं तो यह अस्वाभाविक होने से फलित नहीं हो सकते। हमारे लिए शांति के भोग की अवधि उतनी ही हो सकती है, जितनी दो युद्धों के मध्य का काल है। या अशांति की चरम स्थितियों के मध्य का काल हो सकता है। मानव और उसके समाज के प्रकृति के अध्ययन से निष्कर्ष तो यही निकलता है कि अहिंसा से विश्व शांति का कोई सम्बन्ध नहीं है। यही बात व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के लिए भी ही है। ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं, जो अहिंसा में आस्था नहीं रखते लेकिन उनका जीवन अशांत होता है।

इस लेख में हमने यह दिखाने का प्रयास किया है कि अहिंसा अपने किसी भी अर्थ में किसी भी वांछित साध्य का स्वेच्छापूर्वक स्वीकृत आदर्श साधन नहीं हो सकती। इसके विपरीत यदि उसे साधन के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है तो, न केवल आसुरी प्रवृत्तियां शक्तिशाली हो जाती हैं, बल्कि अहिंसा साधन के रूप में अनेक प्रकार से व्यक्ति, राष्ट्र और समाज का अहित भी करती है। भारत में अहिंसक आन्दोलन की परम्परा चल पड़ी है, जो हिंसा का ही सूक्ष्म रूप है। राष्ट्र में वास्तविक विघटनकारी तत्त्वों का पनपना भी अहिंसात्मक उदारता का परिणाम है, समाज में शांति का एकमात्र उपाय समाज

के घटकों को धर्म स्थापना के लिए हर क्षेत्र में शक्ति अर्जित करना ही है।

बल प्रयोग न करना, अथवा प्रेम करना साध्य नहीं होते। ये उपफल हैं स्वरूपलब्धि की प्रक्रिया के। स्वरूपलब्धि की प्रक्रिया में व्यक्ति और समाज दोनों ही पर आसुरी तामसी प्रवृत्तियां अवरोध के रूप में होती हैं। उन्हें कुचलने के लिए शक्ति ही उपेक्षित है। विश्व शांति के साधन के रूप में भी शक्ति ही उपयोगी है। हर राष्ट्र शक्तिशाली हो, तो संतुलन स्थापित होगा। संतुलित समाज में ही मानव-मूल्यों की स्थापना संभव है मानव-मूल्य प्रतिष्ठित संतुलन को ही 'शांति' कहा जा सकता है।

तुलनात्मक धर्म एवं दर्शन अध्ययनशास्त्र, **बी. कामेश्वर राव**
पं रविशंकर शुक्ल विश्वविद्यालय,
रायपुर (म. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. **द्रष्टव्य-संस्कृति के चार अध्याय**, पृ. ५१०
२. **प्राचीन भारत** पृ. १८५
३. **वही**, पृ. १८२
४. द्रष्टव्य-दिनकर-**संस्कृति के चार अध्याय**, पृ. ५१४-१५
५. **भारतीय दर्शन की रूपरेखा**, पृ. १६८
६. **आधुनिक भारतीय चिन्तन**, पृ. २१३
७. **महात्मा गांधी का समाज दर्शन** - पृ. ६० अद्धत.
८. आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं.

NDIAN PHILOSOPHICAL QUARTERLY
PUBLICATIONS

Daya Krishna and A. M. Ghose(eds), Comtemporary Philosophical Problems : Some Classical Indian Perspectives, Rs.10/-

S. V. Bokil(Tran.), Elements of Metaphysics Within the Reach of Everyone, Rs. 25/-

A. P. Rao, Three Lectures on John Rawls, Rs. 10/-

Ramchandra Gandhi(ed) Language, Tradition and Modern Civilization, Rs. 50/-

S. S. Barlingay, Beliefs, Reasons and Reflections, Rs. 70/-

Daya Krishna, A. M. Ghose and P. K. Srivastaav(eds), The Philosophy of Kalidas Bhattacharyya, Rs. 60/-

M. P. Marathe, Meena Kelkar and P. P. Gokhale(eds), Studies in Jainism, Rs. 50/-

R. Sunder Rajan, Innovative Competence and Social Change, Rs. 25/-

S. S. Barlingay(ed), A Critical Survey of Completed Research Work in Philosophy in Indian Universities(upto 1980), Part1, Rs.50/-

R. K. Gupta, Exercises in Conceptual Understanding, Rs.25/-

Vidyut Aklujkar, Primacy of Linguistic Units, Rs.30/-

Rajendra Prasad, Regularity, Normativity & Rules of Language Rs.100/-

Contact :
The Editor,
Indian Philosophical Quarterly
Department of Philosophy
University of Pune,
Pune-411007

ग्रंथ समीक्षा

-१-

'कालिदास के काव्य में सादृश्येतर अलङ्कार' - लेखक - डॉ. विष्णुराम नागर, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी, १९९५, पृ. २२७, मूल्य रु. १५०/-

महाकवि कालिदास की योग्यता इतनी है कि उस के बारे में जो भी लिखा जाय, कम ही महसूस होता है। अतः उस पर नित्यनूतन किताबें प्रकाशित होती रहती है। पर डॉ. विष्णुराम नागरजी की मिताब का मूल्य अधिक है, क्योंकि 'उपमा कालिदासस्य' इस उक्तिसे ख्यातकीर्त कालिदास के वाङ्मय में और भी अलंकार उतनी ही संख्या में उपस्थित हैं यह दिखाने का प्रयास उन्हों ने बड़ी सफलता से किया है।

प्रस्तावना में 'कवि' शब्द की व्युत्पत्ति से लेकर काव्यलक्षण, अलंकार, उन का काव्य में स्थान इन सब विषयों पर विवेचन किया है। सादृश्येतर अलंकारों का अध्ययन रुय्यक के 'काव्यालंकारसर्वस्व' पर आधारित है। विरोधमूलक, शृंखलाबंधमूलक, तर्कन्यासमूलक, वाक्यन्यासमूलक, लोकन्यासमूलक, गूढार्थप्रतीतिमूलक, रसवदादि अलंकार इस तरह के उपशीर्षकों के आधार पर कुछ मिलाकर चवालीस अलंकारों का विधान किया गया है, जो कि महत्त्वपूर्ण योगदान है।

इस तरह की रचना करते समय कुछएक स्थान पर लेखक ने परंपराप्राप्त अलंकार अस्वीकार किये हैं, पर उसकी वजह भी दी है। जैसे कि शाकुन्तल ५.१५ का उदाहरण है (पृ. ८२ अंतिम श्लोक), जहाँ आलंकारिकों के मतानुसार अर्थापत्ति है, पर लेखक स्पष्टीकरणपूर्वक उसका निषेध करके 'दृष्टान्त' की सिद्धि करता है। कभी ऐसा भी हुआ है कि बिना किसी वजह दिये, एक ही उदाहरण दो अलंकारों में समाविष्ट किया है, जैसा कुमार. १.४७। यह श्लोक क्रमशः अन्योन्य अलंकार (पृ. ५३) और संसृष्टि' (पृ. १०७) दोनों में समाविष्ट है। उस के विपरीत रघु. १.२४ यह श्लेक 'काव्यलिंग' में न लेने का (पृ.६३) और 'परिसंख्या' में (पृ.६९) अंतर्भूत करने का भी कारण दिया है, जो कि एक अभ्यासक के लिए उपयुक्त है। 'अर्थान्तरन्यास' अलंकार के बारे में लेखक का अपना विशेष चिन्तन महसूस होता है। क्योंकि, उस के अन्तर्गत

शरीर, इन्द्रिय, मन, कर्म, मरण, विरह, सामान्य नीति, महापुरुषों का व्यक्तित्व, स्त्रियाएँ, कन्याएँ इन सब विषयों का विवेचन किया है (पृ.१३८) जो अन्य किसी अलंकार के संदर्भ में उपलब्ध नहीं है।

'अलंकारमूलक भावसाम्य' नामक प्रकरण में कालिदास की अन्य कवियों के साथ तुलना की है। उसमें भास के प्रतिमा नाटक से 'सूर्य इव गतो रामः' (प्रतिमा २.७) श्लोक उदधृत कर के उस पर टिप्पणी दी है। 'इस साङ्गोपाङ्ग उपमा का प्रतिरूप कालिदास की कृतियों में नहीं मिलता' (पृ. १७० परि ७)। यह विधान अनवधानता से किया हुआ लगता है। यतः रघु. २.२०

पुरस्कृता वर्त्मनि पार्थिवेन प्रत्युद्गता पार्थिवधर्मपत्न्या।
तदन्तरे सा विरराज धेनुः दिनक्षपामध्यगतेव संध्या ॥

इस श्लोक में साङ्गोपमा स्पष्टतया दृग्गोचर है।

'कालिदास का आलंकारिक वैशिष्ट्य' नाम के प्रकरण में लेखक ने कालिदास के दोष भी दिखायें हैं जो वस्तुनिष्ठ संशोधक के लिए उपयुक्त हैं। निरर्थक, अलील, संदिग्ध, अप्रतीत ऐसे कई दोषों के साथ पुनरूक्ति का दोष भी बताया है। फिर उस में चरणों की पुनरुक्ति, श्लोकों की पुनरुक्ति आदि सब कहा है। पुनरुक्ति दोष है, इस में कुछ शक नहीं। तथापि लेखक ने खुद भी करीब-करीब चालीस बार 'विच्छिति' जैसे एक शब्द की ही पुनरुक्ति की है जो कि आगे चलकर लेखक की निजी शैली जैसी लगती है। इसी प्रकरण में 'शास्त्र अनैचित्य' की बात कही गयी है। कालिदास ने रघुवंश की रचना की, उस में रघु के पूर्ववर्ती और लव-कुश के उत्तरवर्ती जो राजाओं के व्यक्तिचित्र मिलते हैं, उनका इतिहास आज उपलब्ध नहीं है। इसलिए यह कालिदास का वैशिष्ट्य माना जाता है। उसी को शास्त्र-अनौचित्य समझना सरासर अनुचित लगता है।

इन सब मतभेदों के बावजूद भी डॉ. नागरजी की यह किताब निश्चित ही वाचनीय तथा सग्रहणीय है, क्योंकि उपमा के अतिरिक्त अलंकारों में भी कालिदास का कितना योगदान है, इस का इन्होंने बड़े परिश्रमपूर्वक विवेचन किया है। हम समझते हैं कि इस पुस्तक के पाठकों को काफी लाभ होता। अतः इस पुस्तक का हम स्वागत करते हैं।

-२-

'तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड' लेखिका डॉ. बीना अग्रवाल, प्रशान्त प्रकाशन, वाराणसी १९९६, पृ. २०० मूल्य रू. ३००/-

डॉ. बीना अग्रवालजी की लिखी 'तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड' किताब अभ्यासकों के लिए बहुत ही उपयुक्त है। आगम और निगम एक-दूसरे के सम्मुख होते हुए भी लोगों की दृष्टि से परस्पर-विरोधी माने जाते हैं। उस का एक अहम कारण है कि आगमों में पाया जानेवाला कर्मकाण्ड निगमों से असदृश माना गया है। परंतु तन्त्रालोक, जो कि आगमग्रंथों में से महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है, उस में स्थापित कर्मकाण्ड का विवेचन करते समय लेखिका ने कई बार उस का निगमों के साथ सप्रमाण साधर्म्य दिखाया है। इस से तन्त्रालोक की महत्ता पर कुछ असर नहीं होता, परंतु कर्मकाण्ड की वजह से तन्त्र की ओर लोगों की जो दूषित दृष्टि है, वह साफ होने में निश्चितरूप से मदद हो सकती है।

सहसा तन्त्र दो हिस्सों में विभक्त किया जाता है एक दर्शन और दूसरा कर्मकाण्ड। दर्शन के बारें में सामग्री मिल सकती है, लेकिन, कर्मकाण्ड के लिए प्रामाणिक सामग्री मिलना मुष्किल होता है। उस की वजह मुख्यतया पंच मकारों से संबंधित है। पर पंचमकार तो एक हिस्सा है पूरे कर्मकाण्ड का। अतः अग्रवालजी ने दीक्षा, कर्म, याग, मंत्र, मण्डल, मुद्रा इस क्रम से पुस्तक में रचना की है।

प्रस्तावना में ही तन्त्रालोक का आधारभूत ग्रंथ (पृ. २ परि. ३) तथा 'तन्त्रालोक' शब्द की व्याख्या (३.१) दी गई है। तन्त्रालोक में कुछ चौतीस आह्निक हैं, उन में से चौदह से लेकर चौतीस आह्निक तक याने कि कुछ चौदह आह्निकों में प्रमुखतया कर्मकाण्ड का निरूपण है (३.१)। इसलिए ग्रंथ का शीर्षक 'तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड' ऐसा रखा गया होगा, जो स्पष्टरूप से अंतरंग से जुडा हुआ है। कर्मकाण्ड का विवेचन शैवदर्शन के कुछ शाखा के अनुसार है, जो अभिनवगुप्त को अभिमत है।

लेखिका ने यथा संभव आगमों और निगमों में तुलना की है जैसे कि २९.६, ३१.३, ४८.३-४, ६४.४, ८१.३, १२६.१, १७५.५, १७६.१ आदि। आगमों और निगमों में इस तरह की तुलना करने की यह संभवनीयता

भी नजर अंदाज नहीं कर सकतें, क्योंकि आगमों की तरह निगमों की भी प्रतिष्ठा मिल जाय।

ऐसी ही तुलना करते समय अग्रवालजी ने तन्त्रालोक से एक श्लोक उद्धृत किया है (तंत्रा. १३.३३४), जिस में शिष्य पहले गुरु को छोड़कर दूसरे और प्रगल्भ गुरु की ओर चला जाता है, ऐसा स्पष्टरूप से बनाया है (पृ. १९)। उसकी तुलना के लिए तैत्तिरीय उपनिषद् (१.३) का संदर्भ दिया है। तैत्तिरीय में उपमा के सहारे बताया है कि जैसे पानी नीचे की ओर बहता है, उसी प्रकार शिष्यगण मेरे पास आ जाए। यहाँ अन्य गुरु का संदर्भ नहीं है और ना ही उस की प्रगल्भता की बात। लेकिन यह एकमात्र उदाहरण है जहाँ की गई तुलना अनुचितसी लगती है।

याग के बारें में पंचमकारों में से जहाँ मद्य और मिथुन के संदर्भ हैं, लेखिका ने निगमों से सोम और यज्ञ में विश्वनिर्मिति के संदर्भ में अथि हुए मिथुन विषयक उल्लेखों को योग्य तरह से पेश किया है।

तन्त्रालोक की 'विवेक' टीका ने याग के उपादानों को व्याकरण के कारकों के जोड़ दिया है, सिर्फ षष्ठी विभक्ति छोडकर शायद षष्ठी के लिए 'शेषे षष्ठी' सूत्र है, जो कि षष्ठी विभक्ति को आवश्यकता नुसार किसी दूसरे विभक्ति के आशय में जोड़ देता है, जैसे कि शंकराचार्य के मतानुसार 'ब्रह्मजिज्ञासा' में कर्मवि षष्ठीत अतः विवेककार जयरथ ने षष्ठी का स्वतंत्र समावेश न किया है। इस में एक ओर आगमों का निगमों के साथ संबंध और दूसरी ओर हर एक संज्ञा की व्यत्पति था व्याकरणनिष्ठता से अग्रवालजी को अध्ययन सूक्ष्मता दृग्गोचर होती है।

कर्मकाण्ड तो मूलतः क्लिष्ट होता है, उस का विवेचन तो और भी क्लेशकर लगता है, फिर भी 'तन्त्रालोक में कर्मकाण्ड' यह किताब दूसरे आक्षेप को प्रयासपूर्वक निरस्त करती है। पहला आक्षेप तो असल में आक्षेप नहीं, बल्कि स्वभाव ही है। अतः 'अग्रवालजी का यह प्रयास निश्चित' 'क्लेशः फलेन हि पुनर्नत्वतां विधत्ते' जैसा है। हमें विश्वास है कि यह पुस्तक तंत्र के अभ्यासकों को बडी उपयुक्त साबित होगी। अतः हम इस का हार्दिक स्वागत करते हैं।

सर परशुरामभाऊ महाविद्यालय, पुणे ४११०३०

डॉ. कांचन मांडे